मानस में रीतितत्त्व

हिन्दी विश्वविद्यालय, प्रयाग द्वारा 'साहित्य महोपाध्याय'
उपाधि के लिए स्वीकृत शोधग्रंथ

•

लेखक
श्री वैद्यनाथ सिंह, साहित्य महोपाध्याय



१८९५ शकाब्द : सन् १९७३ ई०
हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

प्रकाशक
सुधाकर पाण्डेय, संसद सदस्य
प्रधानमंत्री
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

●

प्रथम संस्करण
१८९५ शकाब्द
१९७३ ई०

●

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

मूल्य : २५.००

प्रकाशकीय

मानस में रीतितत्व स्व० वैद्यनाथ सिंह, साहित्यरत्न का शोध-प्रबन्ध है, जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा 'साहित्य महोपाध्याय' उपाधि के लिए स्वीकार किया गया था। तुलसी-साहित्य की अनुशीलन-परंपरा में 'मानस में रीतितत्त्व का चिन्तन' विषय-वस्तु और विवेचन की दृष्टि से सर्वथा मौलिक है। तुलसी-साहित्य के अनुशीलनकर्ताओं के लिए यह ग्रंथ बहुत उपयोगी है। काव्य में रीति-सम्प्रदाय के उद्भव और विकास की पृष्ठभूमि में चिन्तनशील लेखक ने 'मानस में रीति-तत्व' का विवेचन कर अद्भुत चिन्तन-शक्ति का परिचय दिया है। वितत, विस्तृत रामचरित मानस को मथ-कर श्री वैद्यनाथ सिंह ने अमृत तत्व को आविर्भूत करने का श्रेय प्राप्त किया है।

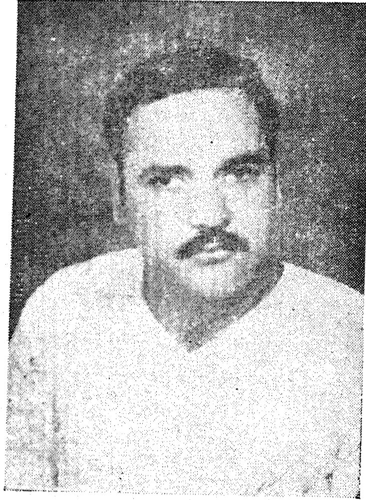
मानस चतु:शती समारोह की भूमिका में सम्मेलन का यह प्रथम पत्र-पुष्प गोस्वामी तुलसीदास और उनके रामचरित मानस की संवर्द्धना का उपायन है। इस ग्रंथ के मुद्रण के लिए उत्तर प्रदेश राज्य सरकार की ५००.०० रु० की आर्थिक सहायता अभिनन्दनीय है।

आशा है यह ग्रंथ विश्वविद्यालयीय स्तर के अध्ययन और अनुशीलन में सहायक सिद्ध होगा और मानस के अध्येताओं, जिज्ञासुओं और शोधकर्त्ताओं को शान्ति और तुष्टि प्रदान करेगा।

—सुधाकर पाण्डेय
संसद सदस्य

⊙
प्रधानमंत्री
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

ग्रन्थकार



श्री वैद्यनाथ सिंह

विद्या-विनय-विवेक सम्पन्न
साहित्य, संस्कृति और साहित्यकारों के
उन्नायक, यशस्वी कवि, साहित्यकार और पत्रकार
पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी जी 'श्रीवर'
के कर कमलों में
सादर भेंट !

मानस में रीतितत्त्व के चिन्तक

श्री वैद्यनाथ सिंह

सन् १९४५ में मेरे परम आत्मीय, सखा और सहपाठी श्री भगवानप्रसाद सिंह ने सहसा आकर मुझे एक युवक का परिचय देते हुए कहा : 'ये हैं वैद्यनाथ सिंह, हमारे भतीजे। इनकी साहित्य में तीव्र रुचि है। इसलिए मैंने निश्चय किया कि इन्हें आपके पास ले चलूँ और आपके सान्निध्य का इन्हें अवसर दे दूँ।' उस दिन से श्री वैद्यनाथ सिंह मेरे अत्यन्त आत्मीय हो गए और मेरा उनका निरन्तर सत्संग होता रहा।

श्री वैद्यनाथ सिंह का जन्म २९ अप्रैल, सन् १९२१ को ग्राम सुरही (बनकट), पोस्ट लोहता, जिला वाराणसी में हुआ था। इनके पिता श्री अनन्तप्रसाद सिंह धार्मिक प्रवृत्ति के पुरुष थे। उन्होंने बदरीनाथ, केदारनाथ की यात्रा की थी और उसी से प्रभावित हो कर उन्होंने अपने बड़े पुत्र का नाम केदारनाथ और दूसरे का वैद्यनाथ रख दिया था और घर में वे नाथ ही कहलाते भी थे।

श्री वैद्यनाथ सिंह ने जूनियर हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण कर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन की मध्यमा और उत्तमा परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर के 'साहित्य महोपाध्याय' के लिए मानस में रीतितत्व शीर्षक शोध-प्रबंध लिख कर 'साहित्य महोपाध्याय' की उपाधि प्राप्ति की। अध्ययन और लेखन की प्रवृत्ति उनकी प्रारंभ से ही थी। संवत् २००७ में इन्होंने 'निबंध निकुंज' नाम का अपना निबंध संग्रह भी प्रकाशित कराया था, जिसमें मानस के प्रतिपाद्य राम, कामायनी का आलंकारिक सौन्दर्य, नहुष, साकेत, हमारा आज का साहित्य, धर्म और संस्कृति लेख बड़े महत्व के हैं। इनमें अध्ययन, विद्वत्ता और विवेचना-शक्ति तीनों का समन्वय देखने को मिलता है। इनके लेख सरस्वती, मानस मयूख तथा सन्मार्ग, सनातनधर्म आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं।

श्री वैद्यनाथ सिंह अत्यन्त सरल, सहृदय, विचारशील और आस्तिक पुरुष थे। सनातनधर्म, भारतीयता और हिन्दुत्व के प्रति इनकी अगाध श्रद्धा, भक्ति और प्रेम था तथा हिन्दी के प्रति उनका निःसीम अनुराग था। संयोगवश यह मेरे साथ कराची और हैदराबाद सम्मेलन में भी गए थे। हैदराबाद सम्मेलन के पश्चात् हम लोग साथ-साथ मदुरा (दक्षिण मथुरा), कांची, श्रीरंगम् और रामेश्वरम्

तक गए थे। उनकी सेवा-भावना अद्वितीय थी। उस समय हमारे साथ श्रीकृष्णदेव-प्रसाद गौड़ 'बेढब बनारसी' और पं० करुणापति त्रिपाठी भी थे। श्रीरंगम् में जब 'बेढब' जी सहसा ज्वर-ग्रस्त हो गए, तब वैद्यनाथ सिंह जी ने अत्यन्त तन्मयता और निष्ठा के साथ उनकी परिचर्या की थी।

अगस्त, सन् १९६५ के प्रथम सप्ताह में मुझे सहसा सूचना मिली कि वैद्यनाथ सिंह अस्वस्थ हैं और रामघाट के वल्लभराम मेहता अस्पताल में पड़े हुए हैं। मैं उन्हें जब देखने गया, तो बड़ी कठिनाई से उन्होंने आँखें खोलीं और मैं कह नहीं सकता कि वे मुझ पहचान पाए कि नहीं। उसी के थोड़े दिनों के पश्चात् १६ अगस्त, सन् १९६५ को अस्पताल में ही उनका देहावसान हो गया। उनके ५ पुत्र हैं—कौशलेन्द्र, जितेन्द्र, योगेन्द्र, क्षेमेन्द्र, धर्मेन्द्रनाथ और एक कन्या है।

यह बड़े दुःख की बात हुई कि कुल ४४ वर्ष की अल्पायु में वे संसार से चल बसे। यह बड़े संतोष की बात है कि उनके अग्रज श्री केदारनाथ सिंह ने अत्यन्त तत्परता के साथ उनका शोध-प्रबंध छपवाने की उत्सुकता दिखाई और हिन्दी के वरेण्य साहित्यकार, सरस्वती के संपादक पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी 'श्रीवर' के प्रयत्न से यह संभव हो सका कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन उस शोध-प्रबंध को अपने यहाँ से प्रकाशित कर रहा है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी-जगत् में इस ग्रन्थ का समुचित समादर होगा और स्वर्गस्थ श्री वैद्यनाथ सिंह की आत्मा को परम संतोष होगा।

—सीताराम चतुर्वेदी

⊙
उत्तर बेनिया बाग
वाराणसी

प्राक्कथन

रामचरित मानस पर श्री वैद्यनाथ सिंह, साहित्यरत्न लिखित 'मानस में रीतितत्व' नामक शोध-प्रबंध का अवलोकन किया। इसमें संदेह नहीं कि मानस की काव्यगत विशेषताओं का उद्‌घाटन और पर्यालोचन इतनी सूक्ष्मता, मार्मिकता और समारोह के साथ यह पहली ही बार हो रहा है। यद्यपि लेखक ने भूमिका में लिखा है कि उसने दस मुद्दों 'वर्णानामर्थ संघानां रसानां छन्दसामपि' से 'सरल कवित कीरति विमल' के मर्मोद्‌घाटन में ही प्राय: अपने प्रयत्नों को सीमित रखा है, फिर भी लेखक ने अपने आलोच्य विषय की लक्ष्मण रेखा का उल्लंघन न करते हुए ही प्रसंगोपात्त महत्वपूर्ण इतर विषयों का भी स्पर्श किया ही है। इसका अध्ययन करने से पता चलता है कि मानस में कैसे-कैसे बहुमूल्य रत्न भरे पड़े हैं, जिनका अन्वेषण और मूल्यांकन विद्वान् लेखक ने प्रस्तुत प्रबंध में किया है।

रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति औचित्य एवम् चमत्कार ये ही मुख्य काव्यांग हैं। काव्य-दोष भी इन्हीं में आवेंगे और महाकाव्य के ढाँचे के रूप में पंच संधि आदि भी ? इन सब पर पर्याप्त विचार हुआ है। संस्कृत-रीति-ग्रंथों की कसौटी पर मानस को सफलतापूर्वक कस कर लेखक ने मानस के काव्यपक्ष की उन अधिकांश विशेषताओं को प्रकाशित कर दिया है, जिनका गोस्वामी जी '**आखर अरथ अलंकृति नाना, छंद प्रबंध अनेक बिधाना। भाव भेद रस भेद अपारा, कवित दोष गुण विविध प्रकारा**' के द्वारा निर्देश करते हुए भी '**कवित विवेक एक नहिं मोरे**' जैसी सरल और नम्रतापूर्ण वाणी के द्वारा उनकी ओर से विशेषज्ञों का ध्यान संकोचपूर्वक हटा देना चाहते हैं।

लेखक ने रामचरित मानस को महाकाव्य मान कर इस दृष्टि से भी गुण-दोषों का विवेचन किया है। कुछ विद्वानों के मत से वस्तु, नेता और रस ही महाकाव्य का सर्वस्व माना जाता है; किंतु श्री तुलसीदासजी ने वस्तु और नेता पर ही जोर दिया है और वे रस को उन्हीं का अनुगामी मानते हैं। यथा :

भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ, रामनाम बिनु सोह न सोऊ।

यद्यपि उनकी यह उक्ति प्राकृत रस या आलंकारिक-सम्मत काव्यगुणों को लक्षित करके है। वस्तुत: पौर्वापर्व का आलोचन करने पर मानस एक रस-तात्पर्य-महाकाव्य ही सिद्ध होता है।

संस्कृत के आचार्यों में भक्ति की रसवत्ता पर पर्याप्त मतभेद मिलते हैं। पक्ष और विपक्ष दोनों में सबल युक्तियाँ और गंभीर विवेचन उपलब्ध होते हैं। लेखक ने पाँचवें अध्याय में उन सभी मतों का उपन्यास किया है। मानस के 'मानस सर' प्रसंग में गोस्वामीजी ने '**नवरस जप तप योग विरागा, ते सब जलचर चारु तड़ागा**' से रसों की संख्या नव ही मानते हुए भी भक्ति को केवल देव-विषयक रति के अंतर्गत नहीं माना है, अपितु संतसभा अमराई के संयम नियम रूप फलों से उत्पन्न ज्ञानफल के रस के रूप में उसका वर्णन किया है :

संयम नियम फूल फल ज्ञाना। हरि पद रति रस वेद बखाना॥

इन उक्तियों से ऐसा प्रतीत होता है कि मानसकार भक्ति की रसवत्ता को स्वीकार करते हुए भी सामान्य नव रसों से उसको विलक्षण मानते हैं और यही कारण है कि उसे वे नवरसों की पंक्ति से पृथक् रखने में ही उसकी महत्ता समझते हैं। मधुसूदन सरस्वती की उक्ति **'नवरस मिलितं वा केवलं वा पुमर्थम्'** से भी इसकी संगति बैठती है। इसमें मधुसूदन सरस्वती भक्तिरस को एक स्वतंत्र पुरुषार्थ मानते हैं, चाहे वह नवरस मिलित हो या केवल। गोस्वामीजी द्वारा भी नवरसों को मानससर के जलचरों से उपमित किए जाने से मानस की उनसे निरपेक्षता ही ध्वनित होती है, भले ही वे स्वाभाविक रूप से अपनी रसवत्ता की सिद्धि के लिए वहाँ बने रहें। जबकि संत समाज द्वारा सादर सेवित एवम् उपचित मानस-रस-सार-सर्वस्व हस्पिद रति-रस की उपादेयता और पुमर्थता स्वतः सिद्ध है।

लेखक ने भरत मुनि के **'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद् रसनिष्पत्ति'** सूत्र को लेकर उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भक्तिवाद और व्यक्तिवाद - इन चार संप्रदायों की चर्चा करते हुए बतलाया है कि इनमें अभिनव गुप्त का व्यक्तिवाद ही परकाल में मान्य हुआ। अभिनव गुप्त ने प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की दृष्टि से रस मीमांसा की है। पंडितराज जगन्नाथ और मधुसूदन सरस्वती रस के अद्वैती व्याख्याकार हैं। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन भी एक विशेष प्रकार का अद्वैत-दर्शन ही है। उनका एक प्रसिद्ध श्लोक है:

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोप्यन्तिके, कान्तो लोकसमान् एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैष तथा न वेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो, नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता।

इसमें किसी विरह क्लेश जर्जरितहृदया नायिका के उदाहरण द्वारा स्वात्मरूप विश्वेश्वर की प्रत्यभिज्ञा की आवश्यकता और महत्ता समझाई गई है। इसका अर्थ है: 'उन सब उपहारों के प्रेषण से आमंत्रित कान्त के अपनी अनुरागिणी के निकट आ जाने पर भी जिस प्रकार वह अपरिज्ञात होने के कारण नायिका के रमण का हेतु नहीं हो पाता, उसी प्रकार यद्यपि भगवान् विश्वेश्वर सब के आत्मस्वरूप ही हैं; फिर भी अपरिज्ञात होने के कारण परमानंद **स्वरूपवैभव के** हेतु नहीं हो पाते। किंतु कांत के प्रत्यभिज्ञात (यह वही है इस प्रकार ज्ञात) होने पर जिस प्रकार प्रेयसी को असीम सुख का अनुभव होता है; उसी प्रकार जीव को भी जब वही मैं हूँ, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है, तभी वह परमानन्दादि रूप स्वात्म वैभव प्राप्त करता है। इसी को शांकरदर्शन में ब्रह्मसाक्षात्कार कहा जाता है और भगवद्गीता में अर्जुन के शब्दों में यही स्मृति है : **'नष्टोमोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत'**। मानसकार भी इसकी छाया प्रस्तुत करते हुए उपलब्ध हो जाते हैं:

व्यापक एक ब्रह्म अविनाशी। सत चेतन घन आनंदराशी॥
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥
नाम निरूपण नाम जतन ते। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते॥

अद्वैत सिद्धांत में आनंद का स्रोत एक ही माना जाता है। 'रसो वै सः'[1] इस श्रुति के अनुसार आनंद स्वरूप ब्रह्म ही रस-पद से बोधित होता है। समस्त त्रैलोक्य का आनंद परमानंद सुधासिंधु परब्रह्म के तुषार विंदु के समान है। जिस प्रकार शर्करा के संयोग से शुष्क-चणक चूर्ण में भी मधुरिमा की प्रतीति होने लगती है, उसी प्रकार इस नीरस संसार में भगवत्स्वरूप रस से ही रसवत्ता की प्रतीति होती है। गोस्वामीजी के कथनानुसार भी असत जड़ दुःख रूप संसार-गत सत्ता चेतनता और आनंद भगवान् से ही उधार लिए गए हैं। 'यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः' :

'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।'
'जो आनंद सिंधु सुखराशी। सीकर ते त्रैलोक्य सुपासी।'
'सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक विश्रामा।'

अद्वैत-दर्शन की इस धारणा से, जिसके अनुगामी मानसकार गोस्वामीजी भी हैं, अभि-व्यक्तिवाद की ही संगति लग सकती है; अनुमिति, उत्पत्ति, मुक्ति आदि वादों की नहीं। साथ ही मुख्य रसरूपता भक्ति में ही सिद्ध होगी, क्योंकि भक्ति के स्थायी आदि परमानंद-सुधासिंधु स्वरूप साक्षात् भगवान् ही हैं। अन्य नवरसों की उपलब्धि में स्थायी आदि प्राकृत होते हैं तथा साधारणीकरण-व्यापार के द्वारा हृदय की निर्मलता संपादित होने पर स्वतः सिद्ध परमानंद स्वरूप की वहाँ परंपरया ही अभिव्यक्ति होती है, इस कारण उनमें कुछ गौणता आ जाती है। यही कारण है कि गोस्वामीजी ने उनकी रस रूपता को स्वीकार करते हुए भी उनको भक्तिरस की श्रेणी में या भक्तिरस को उनकी श्रेणी में नहीं रखा।

जो लोग भक्ति की रस रूपता नहीं मानते, भक्ति को केवल देव विषयक रति के अंतर्गत रखना उचित समझते हैं, उनकी दृष्टि अभिव्यक्ति की एक विशेष प्रणाली पर ही केंद्रित है; अभिव्यक्त होने वाले तत्त्व पर नहीं। उनको यह भी आशंका है कि भक्ति को रस रूप मानने पर प्राकृत भावों को ही उसकी निष्पत्ति का साधन माना जाएगा, जो रसाभास के कारण बन सकते

---

१. रसो वै सः। रस ह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति।

एष एव ह्यानन्दयति। एतस्यैव आनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।

इन श्रुतियों पर विचार करते हुए भगवान् भाष्यकार शंकराचार्य ने कहा है कि प्रिय (इष्टपुत्रादि दर्शन) मोद (प्रियलाभ निमित्त हर्ष) प्रमोद (मोद का ही प्रकर्ष) का आनंद स्वरूप परब्रह्म ही आत्मा है। वह शुभकर्मों के द्वारा पुत्रमित्रादि विषय-विशेष उपाधि के प्रत्युपस्थापित होने पर तम से अप्रच्छाद्यमान एवम् प्रसन्न अंतःकरण वृत्ति विशेष में अभि-व्यक्त होता है। वही लोक में विषय-सुख रूप से प्रसिद्ध है। अभिव्यंजक वृत्ति विशेष के प्रत्युपस्थापक कर्म के अनवस्थित होने के कारण सुख का सार्जिकत्व है। किंतु जैसे-जैसे अंतः-करण तमोघ्न तप, विद्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से निर्मलता को प्राप्त होता जाता है, वैसे ही वैसे विविक्त और प्रसन्न अंतःकरण में आनंद विशेष का उत्कर्ष होता है।

हैं। किंतु जिस प्रकार साधारणीकरण व्यापाररूप से रहित सर्वथा प्राकृत ग्रामीण काव्यरस का अनधिकारी समझा जाता है और जिस प्रकार 'अहम् मलिन जनेषु' ब्रह्म सुख अगम रहता है, उसी प्रकार विषय रसाभिलाषी मलिनान्तःकरण को भक्तिरस भी अगम ही है। भक्तिरस की अनुभूति के लिए भी अंतःकरण के परिष्कार की आवश्यकता पड़ती ही है। **'देवो भूत्वा देवं यजेत्'** के सिद्धांतानुसार जिस प्रकार देवार्चन के लिए दीक्षा, भू-शुद्धि, भूत-शुद्धि, न्यास, पत्रासादन, अन्तर्यागादि के द्वारा देह का संशोधन अपेक्षित होता है, उसी प्रकार भक्तिरस का रसास्वादन करने के लिए **भगवन्माहात्म्यावबोध,** संबंध की दृढ़ता, तत्सुखसुखित्व अनन्यपरता एवम् भगवान् के लिए सर्वत्याग आदि भागवत धर्म अपेक्षित होते हैं। भागवत धर्मों के अनुष्ठान से परिपूत-हृदय सज्जन सुमति ही उस भक्तिरस का अधिकारी होता है। भगवान् की विविध रहस्यपूर्ण लीलाओं से उन्हीं को मोह (प्राकृतभाव) होता है, जो हरिविमुख और भागवत धर्म में अनुरत हैं : **उमा राम गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरि बिमुख न धर्मरति।** भरत के व्यक्तित्व में हमें समस्त भागवतधर्म मूर्त रूप में उपलब्ध होते हैं, तीर्थराज प्रयाग के साधु-समाज में उनका मूल्यांकन होता है। श्रीराम के वनगमन का कारण अपने को मानने के कारण जो उनके हृदय में ग्लानि हो रही थी, उसको दूर करते हुए महर्षि भरद्वाज के मुख से अनायास निकल पड़ता है :

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं।
सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरशन पावा।
तेहि कर फल पुनि दरश तुम्हारा। सहित प्रयाग सुभाग हमारा॥

इस प्रसंग में **'तेहि कर फल पुनि दरश तुम्हारा'** एक रहस्यमय उक्ति है। वस्तुतः भगवत्प्रेम के बिना भगवद्दर्शन में उतना आनंद नहीं होता, जो एक भगवत्प्रेमी को हुआ करता है। भगवान् का दर्शन तो दुर्योधन और शिशुपाल को भी होता था; किन्तु वे पाण्डवों के हृदय में अनुभूत होने वाले दर्शनाह्लाद से वंचित ही रहे। मानसकार ने ब्रह्मदर्शी ब्रह्मलीन विज्ञानी को दुर्लभ मानते हुए भी रामभक्तिरत को सर्वोपरि दुर्लभ माना है :

सबते दुर्लभ सो खगराया। रामभक्तिरत गत मद माया।

प्रस्तुत प्रसंग में इसी सिद्धांत की निष्ठापूर्ण स्वीकृति का दर्शन कराया गया है, क्योंकि राम साक्षात् ब्रह्म हैं और भरत मूर्तिमान रामप्रेम : **'राम प्रेम मूरति तनु आही'** यह बात महर्षि भरद्वाज ने श्री भरतजी से ही कही :

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू।

उस परिस्थिति में जो श्री भरत का महान् त्याग और विशुद्ध-प्रेम अभिव्यक्त हुआ, उसको महर्षि ने रामभक्तिरस सिद्धि का श्रीगणेश घोषित किया :

तुम्ह कहँ भरत कलंकु यह हम सब कहँ उपदेशु।
राम भगतिरस सिद्धि हित भा यह समउ बिनेसु।

वास्तव में रामभक्तिरस की सिद्धि के लिए श्रीभरत के समान विमल अंत:करण की आवश्यकता है। यद्यपि भक्तिरस की अभिव्यक्ति की मनोभूमि मुनियों को भी दुलर्भ है तथापि श्रीभरत के विमल यश रूपी नवचंद्र ने, जिसके रघुवर-किंकर कुमुद और चकोर हैं, जिसका कभी अस्त नहीं होता, जो जगदाकाश में अनुदिन वृद्धिगत ही होता है घटता नहीं, जिससे त्रैलोक्य कोक अति प्रीति करता है, प्रभु प्रलाप सूर्य जिसकी छवि नहीं हरता, जो निशि दिन सदा सब को सुखद है, कैकेयी का कर्तव्य रूपी राहु जिसे नहीं ग्रसता, जो राम सुप्रेम पीयूष से पूर्ण है, गुरु अपमान के दोष से जो दूषित नहीं है, भक्ति रस को सर्वथा सुलभ बना दिया। मुनिराज भरद्वाज रामभक्तों को निमंत्रण दे रहे हैं :

राम भगत अब अमिअ अघाहू। कीन्हेहु सुलभ सदा वसुधाहूं।

इस संदर्भ से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य आलंकारिक भले ही भक्ति की रसवत्ता को अस्वीकार करें, पर गोस्वामी तुलसीदास जी मधुसूदन सरस्वती के ही समान भक्ति की रस स्वरूपता को अंगीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में भरत-चरित (अयोध्याकांड) के सादर श्रवण का वही फल भी है :

भरतचरित करि नेमु, तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय रामपद प्रेम, अवसि होइ भव रस विरति॥

प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक ने पाँचवें अध्याय में इस विषय का विवेचन करते हुए मानस भक्ति की रसवत्ता, दास्य रति को स्थायीभाव मानते हुए मायारस का भी अस्तित्व माना है, जिसका ठीक विरोधी शांत रस पड़ता है। मायारस या भवरस से विरति पर गोस्वामीजी का आग्रह देख कर वे शांत रस को ही यहाँ मुख्य प्रतिपाद्य मानते हैं, किन्तु भवरस विरति को भक्तिरस की अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षित परिष्कार के रूप में भी समझा जा सकता है। क्योंकि शांत रस का स्थायीभाव निर्वेद जिस प्रकार अन्य रसों की अभिव्यक्ति में बाधक हो जाता है; उस प्रकार भक्तिरस में बाधक नहीं है अपितु सहायक ही है।

तेहिकर फल पुनि विषय विरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा॥

भगवान् शंकर का विराग भी **भगवदनुराग** की मनोभूमि ही है।

मधुसूदन सरस्वती एवम् कुछ अन्य रसिकों को छोड़ कर अन्य अभिव्यक्तिवादी आचार्यों ने भक्ति को रस न मान कर भाव के रूप में ही स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि से भी मानस को ध्वन्यात्मक-भाव-प्रधान-काव्य तो माना ही जा सकता है। इस रीति से भी भक्ति **रसपदव्यपदिष्ट** न होने पर भी उसका शोषित्व अव्याहत ही रहता है। भक्ति की रसवत्ता को अस्वीकार करने वाले आचार्यों की अनुपपत्ति का सबसे बड़ा कारण जिसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, देवता को शृंगारादि का आलंबन

बनाने का अनौचित्य ही है। पंडितराज भी इसको अनुचित ही मानते हैं। उनका कथन है: **'उत्तमदैवतयोः श्रृंगारानुवर्णनं मातापित्रोः संभोगश्रृंगारानुवर्णमिवात्यंतमनुचितं सोऽयं पन्थाः मत्तमतंगजैरिव जयदेवादिभिरवहेलितः'**।

अर्थात् उत्तम दैव का तो श्रृंगार-वर्णन माता-पिता के संभोग श्रृंगार-वर्णन के समान अत्यंत अनुचित है। इस मर्यादापूर्ण मार्ग की मतवाले हाथियों के समान जयदेवादि कवियों ने अवहेलना की है। यद्यपि इस पर यह कहा जा सकता है कि प्राकृत-दृष्टि से इसके रसास्वाद में भले ही बाधा हो, पर वृन्दावन के रसिक भक्तों का सहचारी भाव इसकी गरिमा को कम नहीं होने देता। इस रस का अनुभव करने के लिए प्राकृत-देह में आत्म-बुद्धि का सर्वथा त्याग तथा दिव्य सहचरी देह की दृढ़-भावना अत्यंत आवश्यक है; जिसके बिना रासलीला के अनुसंधान का अधिकार ही नहीं प्राप्त किया जा सकता है: **"पांचे भूले देह सुधि धरी भावना रास की।'** किंतु जयदेव की यह उक्ति : **यदि हरिस्मरणे सरसं मनो, यदि विलास कलासु कुतूहलम् मधुर मधुर कोमलकांत पदावली श्रृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्**। एक प्रश्न चिह्न उपस्थित कर ही देती है **'यदि विलास कलासु कुतूहलम्"**? निश्चय ही यदि हरिस्मरणे के हरि को विलास के पूर्व जोड़कर हरिविलास नहीं बना लिया जाता तो इतने स्पष्टीकरण के रहते हुए भी यह प्रश्नचिह्न बना ही रहता है। किंतु मानस में मर्यादा का पूर्ण ध्यान रखा गया है। गोस्वामीजी जहाँ श्री जानकीजी के अंग-सौष्ठव का वर्णन करने के उद्देश्य से लेखनी उठाते हुए **'सोह नवल तनु सुन्दर सारी'** लिखते हैं, वहाँ **'जगत जननी अतुलित छबि भारी'** कहना भी नहीं भूलते। सीताहरण के पश्चात् भगवान् राम के विरह-वर्णन के प्रसंग में नखशिख का वर्णन हुआ है; किंतु वह इतना मर्यादित है कि काव्य-परंपरा से अनभिज्ञ व्यक्ति उसको समझ भी नहीं सकता। वन के मार्ग में ग्राम-बधूटियों से वार्तालाप के समय भी इसकी कुछ झलक मिलती है। उस स्थल में आलंकारिकों की अवहित्था के साथ-साथ दार्शनिक रहस्य की भी अभिव्यक्ति होती है। उपनिषदों में यह माना जाता है कि ब्रह्मतत्व अवाङ्मनसगोचर है, उसका साक्षात् वर्णन नहीं किया जा सकता। महिम्नस्तोत्र में पुष्पदन्ताचार्य कहते हैं: **'अतद्व्यावृत्या-यं चकितमभिधते श्रुतिरपि'** ब्रह्मतत्वभूति भी अरुन्धती-न्यास से होती है। माता अपनी पुत्री की सौभाग्य-वृद्धि की आकांक्षा से सप्तर्षि ताराओं की ओर संकेत करते हुए कहती है: 'पुत्रि ! देख, वह वशिष्ठ-पत्नी परम पतिव्रता अरुन्धती है।' जब पुत्री की दृष्टि सप्तर्षियों तक पहुँच जाती है तब माँ उसे ऊपर से चार तारे छोड़ कर नीचे की तीन ताराओं की ओर देखने के लिए प्रेरित करती है। तदनंतर उन तीनों में से बीच के वशिष्ठ में और फिर अंत में वशिष्ठ की भी व्यावृत्ति कर के तत्पार्श्वस्थ सूक्ष्म अरुन्धती का संकेत से साक्षात्कार करा देती है। उसी प्रकार माता से भी कोटिगुणित कल्याणमयी करुणामयी पुत्रवत्सला श्रुति भगवती दो बार नेति-नेति कह कर मूर्त (पृथिव्यप्तेज) अमूर्त (वाय्वाकाश) का प्रतिषेध करती हुई मूर्त अमूर्त से विलक्षण ब्रह्म का साक्षात्कार कराती है। इधर प्रस्तुत प्रसंग में जगज्जननी

जानकी भी '**सहज स्वभाव सुभग तनु गोरे, नाम लखन लघु देवर मोरे**' कह कर मानो असत् की ही व्यावृत्ति करते हुए '**बहुरि वदन विधु अंचल ढाँकी, पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी**' '**खंजन मंजु तिरीछे नयननि**' जीवन-सर्वस्व पति राम का परिचय देती है। कितना अद्‌भुत प्रसंग है यह ?

इस प्रकार विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उक्त आचार्यों की आशंका से मानस सर्वथा मुक्त है। मानस को भक्तिरस प्रधान काव्य मान लेने पर कथा-प्रवाह के बीच में भगवान् राम के ऐश्वर्य स्मरण से जो रस भंग के दोष का कुछ साहित्य विशेषज्ञों ने उद्‌भावन किया है, निर्मूल-सा ही हो जाता है।

मानस में भक्ति की प्रधानता देख कर तथा गोस्वामीजी के रामानन्द-संप्रदाय से संबद्ध होने की जनश्रुति के आधार पर कुछ विद्वानों का कथन है कि मानस की दार्शनिक आधारभित्ति विशिष्टाद्वैत सिद्धांत ही है। इस पर अनेक ग्रंथ और मानस की टीकाएँ भी लिखी गई हैं। किंतु अंतःप्रविष्ट होने पर यह मत निर्मूल ही सिद्ध होता है। भक्ति का उपजीव्य विशिष्टाद्वैत ही हो सकता है, यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि केवलाद्वैत के अतिरिक्त द्वैताद्वैत, सोपाधिक द्वैताद्वैत जैसे अनेक सिद्धांतों में से किसे भक्ति का उपजीव्य माना जाए, इसमें विनिगमना-विरह है। साथ ही विशिष्टाद्वैत का स्पष्ट उल्लेख मानस में कहीं भी नहीं है। जब कि अद्वैत सिद्धांत का स्पष्टतः अनेक स्थलों में उल्लेख है: '**मुधा भेद जद्यपि कृत माया**' '**सो तें तोहि ताहि नहिं भेदा**' '**सोहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा**' आदि स्थलों में स्पष्ट ही अद्वैत का प्रतिपादन दृष्टिगोचर होता है।

विशिष्टाद्वैतवादी जिन स्थलों को अपने समर्थन में उपस्थापित करते हैं, उनकी संगति अद्वैतवाद से भी लग जाती है; किंतु मानस के कुछ ऐसे विषय हैं; जिनका विशिष्टाद्वैतवादी दृष्टिकोण से समन्वय नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ भ्रम को ही ले लिया जाए। विशिष्टाद्वैती भ्रमज्ञान को मिथ्यावस्तु विषयक नहीं मानते। उनके मत में स्वप्न मनःकल्पित न हो कर जीवों के क्षुद्र पुण्य पापों के उपभोगार्थ ईश्वरकृत सृष्टि ही है। शुक्तिरजस्थल में शुक्ति में मिथ्या रजत की भाँति न हो कर शुक्तिस्थ सत्य रजतावयवों का ही साक्षात्कार होता है। मानस के सभी भ्रम विषयक उदाहरण इस स्वीकृति के विपरीत पड़ते हैं: '**रज्जौ यथाहेर्भ्रमः**' '**झूठेहु सत्य जाहि बिनु जाने, जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने।**' '**जेहि जाने जग जाइ हिराई, जागे जथा स्वप्न भ्रम जाई॥**' '**सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होइ, जागे लाभ न हानि कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ।**' '**ज्यों सपने शिर काटै कोई, बिनु जागे दुःख दूर न होई।**' '**जासु कृपा भ्रम मिटि जाई, गिरजा सोइ कृपालु रघुराई।**' इत्यादि स्थलों में न केवल भ्रमज्ञान को मिथ्या-विषयक कहा गया है; अपितु अधिष्ठान-साक्षात्कार से उसका बाध भी माना गया है। जो केवल अद्वैत सिद्धांत की दृष्टि से ही संगत हो सकता है। अद्वैत वेदांत में प्रातिभासिक व्यावहारिक **पारमार्थिक** रूप से त्रिविध सत्ता मान्य हैं—'**सपने होइ भिखारि नृप**' इसमें प्रातिभासिक सत्ता; '**मोह निशा सम सोवनिहारा**' में व्यावहारिक सत्ता तथा '**रामब्रह्म परमारथ रूपा**' में परमार्थिक सत्ता का निदर्शन उपलब्ध होता है। बंध के मिथ्यात्व का प्रतिपादन भी

हमें इसी सिद्धांत की ओर आकृष्ट करता है : **'सो दासी रघुवीर की समुझे मिथ्या सोपि'**; **'जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई, जदपि मृषा छूटत कठिनई'** आदि इस संबंध में उद्धृत किए जा सकते हैं। निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा सगुण ब्रह्म की उपासना में सुगमता का प्रतिपादन मानस को विशिष्टाद्वैत से दूर ले जाता है; क्योंकि इस प्रकार के स्थलों में निर्गुण ब्रह्म का वही स्वरूप निर्दिष्ट है, जो केवलाद्वैतियों को मान्य है : **'जे ब्रह्म अज अद्वैत अनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं, ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुण जस नित गावहीं'** निर्गुण पद से **निखिल हेय प्रत्यनीक एवम् अचिन्त्यकल्याणगुणगणैकनिलय** ब्रह्म परिलक्षित नहीं होता, अन्यथा **'ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुण जस नित गावहीं'** की आवश्यकता न पड़ती। रामानुज सिद्धांत के अनुसार शांकर सिद्धांत सम्मत 'निर्गुण ब्रह्म में शक्तिग्रह ही संभव नहीं हो तो उसका शाब्दबोध कैसे हो सकता है', यही माना जाता है। मानस के प्रारम्भ से लेकर अंत तक निर्गुण शब्द का शांकर वेदान्तसम्मत अर्थ में प्रयोग तथा निर्गुण ब्रह्म से भगवान् राम की एकता का प्रतिपादन भी मानस की दार्शनिक आधारभित्ति को श्री शंकराचार्य प्रतिपादित केवलाद्वैत ही सिद्ध करता है।

इन सब बातों के अतिरिक्त मानस की परंपरा भी इसमें प्रमाण मानी जा सकती है :

शंभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा॥
सोइ शिव कागभुसुंडिहिं दीन्हा। रामभगत अधिकारी चीन्हा॥
तेहि सन जागबलिक मुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥
मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत॥
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउं अचेत॥

मानस पर प्रसंग के :

सुठि सुंदर संवाद वर, विरचे बुद्धि विचारि।
तेइ यहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि॥

इस दोहे के अनुसार मानस के चार संवाद ही चार घाट माने गए हैं। उपर्युक्त परम्पर में चारों का संबंध भगवान् शंकर से है। चार संवाद हैं : याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद, शिव-उमा संवाद, कागभुसुण्डि-गरुड़-संवाद तथा गोस्वामी और भक्त जनों का संवाद। तीन का संबंध तो स्पष्ट ही शिव से है, चतुर्थ गोस्वामीजी भी **'गुरु शंकर रूपिणम्'** के अनुसार गुरु स्वरूप शंकर से संबद्ध हैं। स्वयम् की मानस काव्य की रचना-क्षमता भी वे शंभु प्रसाद से ही मानते हैं :

शंभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी, रामचरित मानस कवि तुलसी।

ऐसी स्थिति में **'शंकरं शंकराचार्यम्'** के आधार पर मानस का दार्शनिक आधार भगवान् शंकराचार्य सम्मत केवलाद्वैत ही हो सकता है। केवल आपात दृष्टि से ही देखने पर तो 'विशिष्टाद्वैत' की ही बातें मानस में उपलब्ध हो जायेंगी :

परबश जीव स्वबश भगवंता, जीव अनेक एक श्रीकंता॥
जो सबके रह ज्ञान एक रस, ईश्वर जीवहिं भेद कहहुं कस॥
ताते नाश न होइ दास कर, भेद भक्ति बाढ़इ विहंग वर॥

किन्तु व्यावहारिक-सत्ता से भी इन सब की उपपत्ति हो सकती है। इस कारण इन वचनों के आधार पर किसी अन्य सिद्धांत का उद्भावन नहीं किया जा सकता।

यद्यपि प्रस्तुत ग्रंथ के लेख का प्रयास मानस के काव्यात्मक-स्वरूप को ही लेकर काव्यांगों के निरूपण एवम् गुणदोषों के विवेचन के द्वारा संस्कृत रीति ग्रंथों की कसौटी पर मानस को कसने में ही केन्द्रित है, फिर भी प्रसंगतः राजनीति, दर्शन, समाज नीति, संस्कृति, लोक धर्म, रीति-रिवाज, वर्णाश्रम-व्यवस्था एवम् नारी आदि के संबंध में मानसकार के दृष्टिकोण को लेखक ने पर्याप्त एवम् यथार्थ रूप में अभिव्यक्त किया है।

वैसे तो **'नानापुराण निगमागम सम्मतम्'** इस प्राथमिक उक्ति के आधार पर इन विषयों पर मानसकार के मंतव्य को समझा जा सकता है, तथापि प्रासंगिक उद्धरणों के द्वारा मानस के हृदय की सफल विवृति करके लेखक ने सराहनीय कार्य किया है।

मानस में जिस राजनीति का प्रतिपादन किया गया है; उसका वर्णन करते समय वर्तमान लोकतंत्र के संबंध में लेखक के द्वारा जो विचार व्यक्त किए गए हैं, वे मननीय हैं, भगवान् राम लोकमत का सम्मान करते हैं, किन्तु साथ-साथ महर्षि वशिष्ठ जी की शिक्षा के अनुसार, जैसा कि उन्होंने चित्रकूट में कहा : 'भरत विनय सादर सुनिय, करिय विचार बहोरि, करब साधुमत लोकमत नृप नय निगम निचोरि'; वे साधुमत और राजनीति और शास्त्र के अभिप्राय को भी लेकर चलना उचित समझते हैं।

केवल लोकमत के आधार पर चलने में जो दोष संभावित हैं, उनके निराकरण का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय हो ही नहीं सकता। नारी को लेकर मानस के संबंध में आजकल अनेक विप्रतिपत्तियाँ उपस्थित की जाती हैं। लेखक ने इस विषय का विवेचन करते हुए तत्कालीन नारी समाज का बहुत ही सुंदर और उद्बोधक चित्र खड़ा कर दिया है।

नारी के प्रति मानसकार के दृष्टिकोण के संबंध में भ्रांति का कारण नारी और नारीत्व का भेद न समझ पाने के कारण ही है। जहाँ तक नारी शरीरस्थ जीव का प्रश्न है, गोस्वामीजी उसके भी विरोधी हैं; यह तो कोई भी नहीं कह सकता। रही बात नारी शरीर की, सो उसके प्रति प्राकृतभाव के कारण साधक के मन में जो विकृति उत्पन्न होती है; उसका दोष-दृष्टि के द्वारा निराकरण आध्यात्मिक साधना का एक सर्वसम्मत उपाय है। दोष-दृष्टि के पश्चात् ही जिहारा (त्याग की इच्छा) होती है, यह भी मानते हैं। बौद्ध और जैन साधक भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। किंतु इससे नारी के व्यक्तित्व और नारी समाज का कोई संबंध नहीं है। प्रस्तुत ग्रंथ के भेद को प्रसंगतः मांसमयी स्त्री और मनोमयी स्त्री के भेद को भली प्रकार स्पष्ट किया गया है। एक ही स्त्री भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की दृष्टि में कन्या, भगिनी, माता, पत्नी आदि अनेक रूपों में प्रतीत होती है। एक साधनारत भगवदु-पासक के हृदय में जो अनादि वासनाओं के कारण नारी का मांसमय रूप आकार विकृति उत्पन्न करता है, लक्ष्य-च्युति की सम्भाव्यता उपस्थित कर देता है; दोष-दृष्टि के द्वारा उसकी रक्षा ही नारी की षड्-ऋतुओं से उपमा जैसे प्रसंगों का तात्पर्य है। कतिपय स्थलों में नारी

के प्रति आक्षेप या निंदा के भाव प्रतीत होते हैं, वे भी किसी विशिष्टरूप के ही प्रति है निर्विशेष नारीत्व के प्रति नहीं।

बालि को डाँटते हुए भगवान् राम ने कहा : **'मूढ तोहि अतिशय अभिमाना, नारि सिखावन सुनेसि न काना।'** इस चौपाई में 'नारि सिखावन' का अर्थ तारा जैसी नीतिशास्त्र को जानने वाली पति-हितैषिणी स्त्री का सत्परामर्श ही हो सकता है, चाहे जिस नारी के द्वारा दी गई सीख नहीं। जिस प्रकार इस स्थल में नारी शब्द से विशिष्ट नारी अभिप्रेत है, उसी प्रकार निंदा स्थल में भी विशिष्ट को ही लक्ष्य मानना उचित है। नारी-निंदा के ही समान हमारे धर्म-ग्रंथों में कहीं-कहीं पुरुष निंदा के भी प्रसंग हैं। श्रीमद्भागवत में एक ऐसा ही प्रसंग आता है, जब भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणी से हास्य-विनोद करते हुए किसी अन्य अनुरूप पति के निकट चले जाने के लिए कह बैठते हैं और श्री रुक्मिणी जी मौग्ध्य-वश भगवत्कर्तृक त्याग की आशंका से मूर्छित होकर गिर पड़ती हैं। विविध उपचारों से भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा सचेत किए जाने पर वे उनकी सभी नर्मोक्तियों का समुचित उत्तर देती हुई कहती हैं: **त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्तर्मांसास्थिरक्तकृमिविट् कफपित्त वातम्, जीवच्छवं भजति कांतमतिर्विमूढ़ा या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रतीस्त्री;** अर्थात् जिसने आपके पदकमलमकरंद का आघ्राण नहीं किया, वही स्त्री **त्वक् श्मश्रु रोमनख** केश से आवृत और भीतर मांस, अस्थि, रक्त, कृमि, विष्ठा, कफ, पित्त, वात से भरे हुए जीवित शव का कांत-बुद्धि से सेवन करती है। कोई भी सहृदय इस स्थल को देख कर सहज ही समझ सकता है कि इस पुरुष-निंदा का तात्पर्य निंदा में न हो कर स्वपति के प्रति अनन्य निष्ठा में है। आपाततः स्त्री निंदापरक प्रतीत होने वाले मानस के कतिपय स्थलों को भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

प्रस्तुत शोध ग्रंथ में प्रसंगोपात्त कुछ स्फुट विषयों पर अच्छा विचार किया गया है। यद्यपि कहीं-कहीं कुछ बातें खटकती भी हैं। उदाहरण के रूप में भर्तृहरि—**संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता, अर्थः प्रकरणं लिंगम् शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवा**— के अनुसार अभिधामूला शाब्दीव्यंजना के १४ उदाहरण मानस में से देते हुए ग्रंथकार ने प्रकरण के रूप में **'हरिहित सहित राम जब जोहे, रमा समेत रमापति मोहे'** इस चौपाई को रखते हुए लिखा है : 'यहाँ हरि का अर्थ प्रकरणवश घोड़ा होगा,–विष्णु नहीं'; परंतु वस्तुतः यहाँ पर उलटा ही कहना चाहिए था 'यहाँ हरि का अर्थ प्रकरण-वश विष्णु होगा, घोड़ा नहीं'। इसी प्रकार षष्ठ अध्याय में दोषों का वर्णन करते हुए कहा गया है : अप्रयुक्त–**'रामकथा कलि पन्नग भरणी'** में 'भरनी' शब्द अप्रयुक्त है। टीकाकार इसके अनेक अर्थ करते हैं: (१) एक प्रकार का जंतु जो सर्प-पक्षी होता है, (२) मोरनी, (३) भरणी नक्षत्र, (४) विषनाशक मंत्र आदि। हिन्दी में 'भरनी' ढरकी या नक्षत्र विशेष के अर्थ में तो प्रसिद्ध है, पर उक्त शेष अर्थों में नहीं। अतः इसमें अप्रयुक्त दोष है। किंतु मध्यप्रदेश में 'भरनी' सर्प झाड़ने वाले मंत्रिकों की एक क्रिया

के रूप में प्रसिद्ध है; जिसमें जिसको सर्प काट लेता है, उसको खड़ा कर के उसके कान के पास मुख ले जाकर जोर-जोर से मंत्र पढ़ा जाता है। इस प्रक्रिया से सर्प का विष उतर जाता है। इस अर्थ में रामकथा की भरनी और कलि की पन्नग से उपमा दे कर रामकथा का विरोध व्यक्त किया है, अतः इसको अप्रयुक्त-दोष के अंतर्गत मानना उचित नहीं है। भक्तिरस के संबंध में हम अपने मानसानुसारी विचार ऊपर व्यक्त कर चुके हैं। ग्रंथ-लेखक भी भक्ति की रसवत्ता के सिद्धांत से सहमत हैं। वे लिखते हैं—मैं मानता हूँ कि भक्ति एक स्वतंत्र रस है और मानस में दास्यभावरति की व्यंजना भी भरपूर हुई है, पर ग्रंथ का पर्यवसान मैं भक्ति में न मान कर शांतरस में ही मानता हूँ। कारण, पग-पग पर विषयों का **निग्रहण** किया गया है। भाव-रस-बिरति पर जोर दिया गया है और संसार की असारता की दुहाई दी गई है। कथा के प्रमुख वक्ता शिवजी का शांतरस से परिमित किया जाना भी इस बात का संकेत देता है कि मानसकार को शांतरस की अभिव्यंजना ही इष्ट है।' वस्तुतः भक्तिरस को छोड़ दिया जाय तो निश्चय ही मानस में अंगीरस के रूप में शांतरस की उपलब्धि होती है। किंतु यह भी कहना कठिन है कि मानस का पर्यवसान भक्ति-रस में नहीं है। मानस की परीक्षा दो दृष्टियों से की जा सकती है : १. काव्यपक्ष, और २. आध्यात्मिक-पक्ष। प्रस्तुत शोध प्रबंध काव्यपक्ष की समीक्षा पर ही केंद्रित है, इसी दृष्टि से यह विचार प्रस्तुत है कि मानस को संस्कृत रीति—ग्रंथों के अनुसार महाकाव्य के अंतर्गत माना जा सकता है या नहीं।

साहित्यदर्पण के छठे परिच्छेद में श्री विश्वनाथ कविराज लिखते हैं—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा॥
शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गीरस इष्यते॥
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः॥
इतिहासोद्भवम् वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतांच गुणकीर्तनम्॥
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नाति स्वल्पा नाति दीर्घाः सर्गाः केचन दृश्यते।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।
संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ॥
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ॥
सम्भोगो विप्रलम्भश्च मुनिस्वर्गपुराध्वराः।

रणप्रयाणोभयममत्र पुत्रोदयादयः।।
वर्णनीया यथायोग्यं सांगोपांगा अभी इह।।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।
नामास्य सर्गोपादेशकथया सर्गनाम तु।।

ग्रंथकार ने इन सब श्लोकों को उद्धृत करते हुए द्वितीय अध्याय में मानस के महाकाव्य के पक्ष में युक्ति और उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। दृश्य एवम् श्रव्य काव्य के सन्धिपंचक—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहृति तथा संध्यंगों के उदाहरणों के अन्वेषण में सराहनीय श्रम किया है।

उपर्युद्धृत महाकाव्य के लक्षणों में आया है : "**शृंगारवीरशांतानामेकोंऽगीरस इष्यते। अंगानि सर्वेऽपि रसा सर्वे नाटक**' शांतरस में से ही कोई अंगीरस हो सकता है। इस दृष्टि से मानस की ओर देखा जाय तो वहाँ मुख्यरस के रूप में शांतरस ही उपलब्ध होता है। यद्यपि भरत के '**अष्टौनाट्ये रसाः स्मृताः**' के आधार पर कुछ लोगों ने शांतरस की रसवत्ता पर भी आक्षेप किया है तथा कुछ ने नाट्य में शांतरस की उपयोगिता पर, किंतु अभिनवगुप्त ने भरत-मुनि के :

'अथं शांतो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः।
स तु तत्त्वज्ञानवैराग्याशयशुद्धयादिर्भिविभावैः समुत्पद्यते।
तस्य यमनियमाध्यात्मध्यानधारणोपासन-
सर्वभूतदया-लिंगग्रहणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।
व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेद-स्मृति-धृति-शौच-स्तंभरोमाश्रादयः।
अत्रार्याः श्लोकाश्चभवंति भरतः-

मैषाध्यात्म समुत्थस्तत्त्वज्ञानार्थं हेतुसंयुक्तः।
नैश्रेयसोपविष्टः शांतरसो नाम सम्भवति।

बुद्धीन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय संरोधाध्यात्मसंस्थितोपेतः।
सर्वप्राणिसुखहितः शांतरसो नाम विज्ञेयः।।
यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः।
समः सर्वेषु भूतेषु स शांतः प्रथितो रसः।।
भावा विकारा रत्याद्याः शांतस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते।
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते
पुनर्निमित्तापाये ततु शांत एवोपलीयते।
एवम् नवरसा दृष्टा नाट्यज्ञैलक्षणान्विता।

इन बचनों के आधार पर पूर्व पक्षों और उत्तर पक्षों का पर्याप्त उपन्यास कर के शांत

की रसवत्ता और नाट्य में उसकी व्यवहार्यता के पक्ष की स्थापना की है। शांतरस के स्थायीभाव के संबंध में 'राग' के स्थान पर 'निर्वेद' पर उनका अधिक जोर है।

प्रकरण काव्यपुराणाभिधानकोशादौ च नवरसाः श्रूयंते। श्रीमत्सिद्धांतशास्त्रेष्वपि। तथा चोक्तम्—अष्टानामिह देवानां शृंगारादीन् प्रदर्शयेत्। मध्ये च देवदेवस्य शांतम् रूपं प्रकल्पयेत्। तस्य च वैराग्यसंसारभीरुतादयो विभावाः। सहि तैरुपनिबद्धैर्विज्ञायते।| मोक्षशास्त्रचिंतादयो अनुभावाः। निर्वेद-मति-स्मृति-धृत्यादयो व्यभिचारिणः। अतएव ईश्वरप्रणिधानविषये भक्ति-श्रद्धेस्मृतिमतिधृत्युत्साहावनुप्रविष्टेअस्यैवांङ्गमिति न तयोः पृथग् रसत्वेन ह्यगणनम्। अत्र संग्रहकारिका-मोक्षाध्यात्मभिरस्तित्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः। निःश्रेयसधर्मयुतः शांतरसोनाम विज्ञेयः। विभावस्थाप्यनुभावयोगः क्रमाद्विशेषणत्रयेण दर्शितः। स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावःप्रवर्तते पुनर्निमित्तापाये तु शांत एव प्रलीयते। इत्यादिना रसान्तरप्रकृतित्व-मुपसंहृतम्।

इस संदर्भ के द्वारा अभिनव गुप्त ने ईश्वर प्रणिधान विषय भक्ति एवं श्रद्धा को शांतरस के व्यभिचारियों में निविष्ट कर के उनको शांतरस के अंग के रूप में ही माना है। इससे 'भक्ति ईश्वर के प्रति परानुरक्ति रूप है, अतएव शांतरस के स्थायीभाव निर्वेद से उसका विरोध होने के कारण दोनों का परस्पर अंगांगिभाव संभव नहीं हो सकता' यह बात खंडित हो जाती है। वस्तुतः निर्वेद प्राकृत दोष दर्शन से उत्पन्न होता है। उसका अप्राकृत भगवदीय शब्द स्पर्श रूप रस गंध से कोई विरोध नहीं। प्रत्युत उसके पोषक ही हैं। तभी '**बैठ दीख कामरिपु कैसे, धरे शरीर शांतरस जैसे**'' के द्वारा प्रतिपादित मूर्तिमानस शांतरस स्वरूप कामरिपु भगवान् शंकर की '**मंगल भवन अमंगलहारी, द्रवउ सो दशरथ अजिर बिहारी**' के द्वारा अभि-व्यक्त होने वाली दशरथ अजिर बिहारी बालक रूप राम के प्रति वात्सल्य रति का उनके स्वरूप के साथ सामंजस्य संभव है। इस दृष्टि से यदि शांतरस को ही अंगीरस मान कर मानस महाकाव्यत्व का **यथाश्रुत** लक्षण के आधार पर **उपादान** कर लिया जाय तो यह अनुचित **न** होगा। इस विषय में ग्रंथ-लेखक का भी तात्पर्य यथाश्रुतार्थ की संगति बैठाना ही प्रतीत होता है। वैसे वे भक्ति की रसवत्ता और मानस में उसके शेषित्व के विरोधी नहीं, प्रत्युत समर्थक ही हैं। किंतु अविरोध होने पर भी शांतरस और भक्तिरस जिसे अधिकांश आलंकारिक भाव कहते हैं, एक नहीं कहे जा सकते। पंडितराज जगन्नाथ ने दोनों के पृथक्-पृथक् उदाहरण दिए हैं। शांतरस का उदाहरण है :

मलयानिलकालकूटयो रमणीकुंतलभोगिभोगयोः।
श्वपचात्मभुवोर्निरन्तरा मम जाता परमात्मनि स्थितिः॥

मलयाचल के वायु और विष में, स्त्रियों के केशपाश और सर्प के शरीर में एवम् चाण्डाल तथा ब्रह्मा में भेदभाव रहित मेरी स्थिति परमात्मा में हो गई है। यहाँ सब जगत् आलम्बन है, सब व्यक्तियों और वस्तुओं में समानता अनुभाव है और मति आदि संचारी भाव हैं। यद्यपि

पूर्वार्ध में पहले उत्तम (मलय पवन आदि) का वर्णन और पीछे अधम (विष आदि) का वर्णन है। उस उत्तरार्ध में पहले अधम (श्वपच) का और पीछे उत्तम (ब्रह्मा) का वर्णन है, अतः 'प्रक्रम-भंग' दोष है; अर्थात् जिस क्रम से प्रारंभ किया गया है, उसी क्रम का समाप्ति पर्यंत निर्वाह नहीं हो सका है, तथापि कहने वाला ब्रह्म रूप होने के कारण उत्तमाधम ज्ञान से रहित हो गया है'। यह बात प्रकाशित करने के लिए क्रमभंग गुण ही है—अर्थात् इससे बक्ता की उत्तमाधम ज्ञानशून्यता प्रकाशित होती है, जो कि ब्रह्मज्ञानी के लिए आवश्यक है। सो यह दोष नहीं इसका प्रत्युदाहरण है :

सुरस्रोतस्विन्याः पुलिनमधितिष्ठन्नयनयो
र्विधायान्तर्मुद्रामथ सपदि विद्राव्य विषयान्।
विधूतान्तर्ध्वान्तो मधुरमधुरायां चिति कदा
निमग्नः स्यां कस्यांचन नवनमस्यांबुदरुचि॥

श्री गंगाजी के बालुकामय तट पर बैठा हुआ मैं आँखें मीच कर, सब सांसारिक विषयों को तत्काल दूर हटा कर एवम् अंतःकरण के अंधकार (अज्ञान) से रहित हो कर भाद्रपद के नवीन मेघ के समान कांतियुक्त किसी (अनिर्वचनीय) परम मधुर चैतन्य में कब निमग्न हो जाऊँगा, उसकी तन्मयता मुझे प्राप्त होगी। यद्यपि इस पद में भी विषयों का निरादर आलंबन है, गंगा के तट आदि उद्दीपन हैं, आँखों का मींचना आदि अनुभाव है और उनके संयोग से स्थायीभाव निर्वेद की प्रतीति होती है, तथापि भगवान् वासुदेव को प्रेमपात्र मान कर जो कवि का प्रेम है, उसकी अपेक्षा निर्वेद गौण हो गया है; इस कारण निर्वेद के रहते हुए भी यह पद्य शांतरस की ध्वनि नहीं कहा जा सकता। यह पद्य मेरी (पंडितराज की) बनाई हुई 'करुणा लहरी' नामक पुस्तक में लिखा गया है और उसमें भाव (भगवत प्रेम) ही प्रधान है, अतः इस पद्य में भी उसी की प्रधानता उचित है। दूसरे, इस पद्य की ओजस्विनी रचना भी शांतरस के प्रतिकूल है, इस कारण भी इसे उसके उदाहरण रूप में उपस्थित करना उचित नहीं। यदि कहो कि '**मलयानिलकालकूटयोः**' इस पूर्वोक्त पद्य में भी 'परमात्मा में स्थिति' का वर्णन है, अतः वहाँ भी भाव प्रधान होना चाहिए, उसे शांतरस का उदाहरण कैसे कह दिया; तो उसका उत्तर यह है कि वहाँ 'परमात्मा में स्थिति हो गई है' यह लिखा है, सो उसे अपने भगवद्रूपता का बोध होने के कारण प्रेम की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि प्रेम पृथक् समझने पर ही हो सकता है, ऐक्यज्ञान होने पर नहीं।

—हिन्दी रसगंगाधर, पृष्ठ ८५ से ८७ तक

इस प्रकार हम देख चुके हैं कि शांतरस और भक्तिरस पर भी पर्याप्त विचार होना आवश्यक है।

श्री महादेव शास्त्री अभिनंदन ग्रंथ में डा० रामनरेश वर्मा ने इस पर अच्छा प्रकाश

डाला है। पाठकों की जानकारी और विषय की स्पष्टता के उद्देश्य से हम उसका कुछ अंश अविकल उद्धृत कर रहे हैं :

भक्तिरस की परंपरा—संस्कृत-साहित्य में भरत मुनि के समय से ही नौ रसों और भावों की संख्याएँ नियत हो गई थीं। पर उनके स्वरूप, प्रक्रिया आदि का विमर्श बहुत बाद तक बराबर होता रहा। अभिनव भारती के शांतरस विचार के प्रसंग में अभिनव गुप्त ने भरत मुनि के वचनों की युक्ति पूर्वक सिद्धि की है। यहाँ उन्होंने भक्ति और श्रद्धा के भावों को शांत स्वरूप देवदेव के प्रणिधान में गतार्थ कर उन्हें पृथक् रस नहीं माना है। आर्द्रता **स्थायीक** स्नेह एवम् गंध (गर्द्ध) **स्थायीक** लौल्य रसों का रति उत्साह और हास आदि स्थायी में अंतर्भाव बता कर उनके विशिष्ट रस रूपों का प्रत्याख्यान किया है। भक्तिरस के खंडन की सरणि का उन्होंने फिर से उल्लेख किया है। इनके भक्तिरस खंडन से इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि उस समय भक्ति को रस मानने वाले कुछ लोग अवश्य रहे होंगे। भक्तिरस का अनुपबृंहित उल्लेख मात्र शाण्डिल्य भक्ति—सूत्र और उत्पलाचार्य की शैव—स्तोत्र रत्नावली में मिलता है। यदि निम्बार्काचार्य अभिनव गुप्त के पूर्ववर्ती हो तो उनकी दश-श्लोकी का भी प्रमाण दिया जा सकता है, जिसमें भक्ति साधना का फल ही भक्तिरस बताया गया है। परंतु भक्तिरस का विशद विवेचन (वोपदेव तेरहवीं शताब्दी) के पूर्व शायद (११वीं शताब्दी) की भागवत भावार्थदीपिका में भक्तिरस का संक्षिप्त परिचय मिलता है। संभवतः इसीलिए मम्मट ने किसी विशेष अड़चन के बिना ही काव्यप्रकाश में भरत और अभिनव गुप्त की परंपरा के अनुकूल भक्ति देवादि विषयक रति को संचारी भावों के खाते में डाल कर चलता कर दिया।

भक्तिरस—वोपदेवः—अलंकार शास्त्र के पारंपरिक नवरसों को भक्तिरस में अंतर्भुक्त करने का श्रेय वोपदेव को है। मुक्तफल में उन्होंने अभिनव गुप्त आदि उन रस-शास्त्रियों की अच्छी खबर ली है, जो भक्ति को भावमात्र में पर्यवसन्न करते हैं। उनका कथन है कि रस तत्व का प्रमाण है, उपयोगी विभाव आदि सामग्रियों का सद्भाव। इस दृष्टि से विचार करने पर भक्तिरस की पोषक समस्त सामग्री देखी जाती है। भगवान् में मनोनिवेश ही रसभक्ति में स्थायीभाव है। भगवान् अथवा भगवद्भक्त इसके आलंबन हैं। भक्तिरस के आश्रय भक्त में स्तम्भादिक अनुभाव हैं। धृति वगैरह व्यभिचारी हैं। रति आदि से उपरंजित 'मनोनिवेश' परिपुष्ट होकर भक्तिरस कहलाता है। अतः रसात्मक सामग्रियों की विद्य-मानता में भी भक्ति को रस न मानना केवल रुचि वैचित्र्य कहा जायगा। वोपदेव की संभावना है कि यदि कोई यह आपत्ति उपस्थित करे कि काव्य के प्रसिद्ध रस सर्ववनसंवेद्य होने के कारण रस कहे जाते हैं, किंतु भक्तिरस विशेष वर्ग को ही आस्वाद्य होता है। अतएव सब को आस्वाद्य न होने से रस नहीं माना जा सकता। इस स्थिति में उन्होंने सभी सुप्रसिद्ध रसों के समुच्छेद की शंका उपस्थित की है। श्रोत्रिय वृद्ध मीमांसकों को नाट्यशाला में रसानुभूति होती ही नहीं। प्रशांत चित्त ब्रह्मचारियों के लिए शृंगार की रसनीयता भी व्यर्थ

है। प्रगाढ़ रागयुक्त मनुष्यों के लिए शांतरस की चर्वणा भी असंभव है। लोकस्पर्शशून्य व्यक्ति करुणरस की अभिव्यक्ति के स्थलों पर पाषाण की तरह कठोर ही बना रहेगा। अतः यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि वासनायुक्त मानव को ही उन-उन वासनाओं के अनुरूप रसास्वाद होता है। सार्वजनिक होने के कारण काव्य के नवरसों की स्वीकृति बताना समीचीन नहीं है। इस दृष्टि से भक्तिरस की प्रतिष्ठा अबाधित है। वोपदेव ने यह भी बताया है कि स्थायीभाव मौलिक होना चाहिए। यदि उसकी मौलिक कल्पना नहीं है तो वह रस रूप नहीं हो सकता। जैसे भोजराज ने स्नेह, मति और गर्व नामक स्थायी भावों से प्रधान उदांत तथा उद्धत रसों की सिद्धि तो की, परंतु भ्रमवश इन स्थायीभावों की गणना व्यभिचारियों की सूची में भी कर दी। फलतः 'वदतो व्याघातः' की दशा हुई—जो संचारी है उसका स्थायित्व कैसा? जहाँ तक भगवान् में मनोनिवेश रूप भक्ति-रस के स्थायीभाव का प्रश्न है वह साहित्य-शास्त्र में प्रतिष्ठित किसी भाव के भीतर नहीं आता बल्कि वे सारे भाव भक्ति के आभोग में सिमट कर आ जाते हैं। अतएव प्रसिद्ध नवरसों के स्थायी भावों को भक्तिरस के स्थायीभाव रूप भगवन्मनोनिवेश का उपरंजक मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

भक्तिरस : आचार्य मधुसूदन सरस्वती

आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने आलंकारिकों की देवादि विषयारति की भावरूपता का एक ओर मंडन किया है और दूसरी ओर खंडन। परंतु उनका खंडन-मंडन विभिन्न आलंबनों पर आश्रित होने के कारण परस्पर समंजस है। उन्होंने बताया कि सामान्य देवताओं में निरवच्छिन्न आत्मानंद का प्रकाश नहीं रहता। इस दृष्टि से वे भी जीवकल्प होते हैं। किंतु परमानंद-स्वरूप परमेश्वर में तन्मय होने वाली चित्तवृत्ति को भाव कोटि में रखना शुद्ध आग्रह है।

वास्तव में आचार्य मधुसूदन ने दो प्रकार के रस स्वीकार किए हैं : पहला भक्तिशास्त्रीय रस प्रकार, जिसकी धारा श्रीधरस्वामी, वोपदेव आदि वैष्णवों के माध्यम से होती हुई चली आ रही थी और दूसरा साहित्य शास्त्रीयरस जिसमें भरत मुनि के समय से ही नव रसों की प्रतिष्ठा थी। उन्होंने बताया कि भक्तिरस में भगवान् के स्वयम् विभाव होने से भक्त की चित्त वृत्ति भी उन्हीं के आकार को ग्रहण करती है। इसलिए उस वृत्ति से अभिव्यक्त होने वाले रस में परिपूर्ण आनंदमयता रहती है। परन्तु अन्यत्र कांता आदि विषयक चित्तवृत्ति के परितोष से व्यक्त होने वाले श्रृंगार प्रभृति नवरसों में जड़-तत्वों का भी थोड़ा-बहुत योग अवश्य रहता है। इसी से नवरसों का आनंदानुभव भक्तिरस की अपेक्षा कुछ-न-कुछ क्षीण अवश्य होता है। उभयत्र अनुभूत होने वाला रस आनंदात्मक रूप होने पर भी भक्तिरस जड़ांश से सर्वथा-शून्य होने के कारण उत्कृष्ट और नवरस जड़ांश-युक्त होने से अपकृष्ट होता है।

इस प्रकार भक्तिरस का सर्वातिशायी महत्व अनुभव सिद्ध और बुद्धिसंगत होने पर भी जो लोग उसे अमान्य ठहराते हैं उसके प्रति मधुसूदन सरस्वती अमर्ष-सहित कहते हैं कि जैसे जुगनू की चमक और आदित्य की प्रभा में जमीन-आसमान का अंतर है, वैसे ही क्षुद्र रसों की अपेक्षा पूर्ण सुख रूप भगवद्‌भक्ति से कोई समता ही नहीं। जब काव्यरसिकों ने अपने अनुभव की दुहाई देकर प्रत्यक्ष सुख विरोधी क्रोध-शोक-भय आदि भावों को रस रूप मान लिया, तब काव्य-रस से करोड़ों गुना आनंद प्रदान करने वाले अनुभव सिद्ध भक्तिरस को रस न मानना शुद्ध जड़ता की निशानी है।'

पंडितराज जगन्नाथ भी भक्तिरस के प्रकारान्तर से समर्थक ही प्रतीत होते हैं। अपने ग्रंथ रस गंगाधर में उन्होंने इसका उपपादन निम्न रीति से करते हुए भी यह कह कर कि 'साहित्य शास्त्र में रसाभाव आदि की व्यवस्था भरत आदि मुनियों के वचनों के अनुसार की गई है, अतः इस विषय में स्वतंत्रता नहीं चल सकती' छोड़ दिया है।

रस नौ ही क्यों हैं? इस पर वे कहते हैं—'अब यह प्रश्न होता है कि रस इतने ही क्यों हैं, यदि इनसे अधिक रस माने जायें तो क्या बुराई है? उदाहरण के लिए देखिए कि—जब भगवद्‌भक्त लोग भागवत आदि पुराणों का श्रवण करते हैं, उस समय वे जिस भक्तिरस का अनुभव करते हैं; उसे आप किसी तरह नहीं छिपा सकते। उस रस के भगवान् आलंबन हैं, भागवत श्रवण आदि उद्दीपन हैं, रोमांच, अश्रुपात आदि अनुभाव हैं और हर्ष आदि संचारीभाव हैं तथा इसका शांत-रस में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि अनुराग (प्रेम) वैराग्य से विरुद्ध हैं और शांतरस का स्थायीभाव है वैराग्य।

अच्छा, इसका उत्तर भी सुनिए। भक्ति भी देवता आदि के विषय में जो रति (प्रेम) होती है, उसी का नाम है। और देवता आदि विषय में जो रति होती है उसकी भावों में गणना की गई है, सो वह रस नहीं किंतु भाव है, क्योंकि—**रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथांजितः। भावः प्रोक्तस्तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्त्तिताः** अर्थात् देवता आदि के विषय में होने वाला प्रेम और व्यंजनावृत्ति से ध्वनित हुआ व्यभिचारी भाव कहलाता है और यदि रस तथा भाव अनुचित रीति से प्रवृत्त हो तो रसाभास कहलाते हैं—यह भक्तवान् आचार्यों का सिद्धान्त है।

आप कहेंगे—यदि ऐसा ही है तो कामिनी के विषय में जो प्रेम होता है, उसे भी भाव कहिए, क्योंकि जैसा प्रेम वैसा वह भी प्रेम–इसमें उसमें भेद ही क्या है? अथवा भगवद्‌भक्ति को ही स्थायीभाव मान लीजिए और कामिनी-आदि के विषय में जो प्रेम होता है, उसे (संचारी) भाव, क्योंकि इसमें कोई युक्ति तो है नहीं कि इन दोनों में से अमुक को ही स्थायी मानना चाहिए। इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि साहित्य शास्त्र में रस-भाव आदि की व्यवस्था भरत आदि मुनियों के वचनों के अनुसार की गई है। अतः इस विषय में स्वतंत्रता नहीं चल सकती' (हिंदी रस गंगाधर पृ० ११० से १११)।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि इस विषय में वस्तुस्थिति अनुभव और युक्ति के

अनुसार भक्ति की रसवत्ता की सिद्धि होने पर भी भाव आदि की व्यवस्था को ही सम्मा देते हुए पंडितराज ने उनको यथाश्रुत संख्या स्वीकार की है। भक्तिरस के साथ शांतरस विरोध की बात अन्य आचार्यों के द्वारा भक्ति को शांतरस के संचारी के रूप में स्वीकार कर से ही कट जाती है। किन्तु यदि हम थोड़ा आगे बढ़ कर वस्तु-स्थिति पर अपनी दृष्टि केंद्रि करें तो उचित निष्कर्ष तक पहुँचने में विलंब नहीं लगेगा।

सर्वप्रथम रस पदार्थ पर ही विचार किया जाय, साहित्य-शास्त्रों में रस के स्वरूप व वर्णन है :

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्य प्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥

अर्थात्—सत्व के उद्रेक से अखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मय वेद्यान्तर के स्पर्श से रहि लोकोत्तर चमत्कार प्राण ब्रह्मास्वाद-सहोदर यह रस किन्हीं सहृदयों के द्वारा जिस प्रक बौद्धों का विज्ञान स्वयम् ही व्यम् का अनुभव करता है (स्वसंवेद्य होता है) उसी प्रकार अभि रूप से आस्वादित होता है।

रस को परिभाषा है—पुनः पुनरनुसंधीयमानविभावानुभावसंचारिसंवलित इत्य स्थायिभावोपहितनिरावरण-चैतन्यानन्दो रसः। निरावरणता च विभावानुभावसंचारि ध्यंजनाव्यापारजन्या।

अर्थात्—पुनः पुनः अनुसन्धीयमान विभाव, अनुभाव और संचारी से संवलित आदि स्थायी भावों से उपहित निरावरण आत्मचैतन्यानंद ही रस है। आत्मचैतन्यानंद निरावरणता विभाव, अनुभाव एवम् संचारी इन तीनों के व्यंजना व्यापार से उत्पन्न होती है।

मधुसूदन सरस्वती भी इस विषय में अपने भगवद्भक्ति-रसायन में कहते हैं—

भगवान् परमानंदस्वरूपः स्वयमेव हि मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलम्। इ व्याख्या—स्थायिभावस्य रसोपपत्तये परमानन्दरूपतामुपपादयति भगवानिति बिम्बमे उपाधिनिष्ठत्वेन प्रतीयमानं प्रतिबिम्बमित्युच्यते। परमानन्दश्च भगवान् मनसि प्रतिबिम्ब स्थायिभावतामासाद्यरसतामासासादयताति भक्तिरसस्य परमानंदरूपत्वं निर्विवादम्। ना लंबनविभावस्यायिभावयोरैक्यम, बिम्बप्रतिबिम्बभावेन वेदस्य व्यवहारसिद्धत्वादीश वयोरिव॥१०॥

अर्थात्—स्थायिभाव की रसत्व-सिद्धि के लिए परमानन्द रूपता का उपपादन क हैं—भगवान् (आदि)।

बिम्ब (मुख आदि) ही उपाधि (दर्पण आदि) में रह कर प्रतीत हुआ प्रति कहलाता है। परमानन्द स्वरूप भगवान् (बिम्ब) मन (रूप उपाधि) में प्रतिबिंबित स्

भावता को पाकर रसता को प्राप्त होता है। इसलिए भक्तिरस की परमानन्द रूपता निर्विवाद सिद्ध है।

प्रश्न—यदि कहें कि भगवान् को तो हमने आलम्बन विभाव माना है उसी को स्थायी भाव मानेंगे तो आलंबन विभाव और स्थायी भाव दोनों एक हो जायेंगे।

उत्तर—नहीं बिम्ब और प्रतिबिम्ब भाव मानने से दोनों में अन्तर व्यवहार से सिद्ध है जैसे कि वेदान्ती ईश्वर और जीव में बिम्ब प्रतिबिम्ब विभाव बिम्ब है और स्थायी भाव उसका प्रतिबिम्ब इसलिए वे दोनों एक नहीं कहे जा सकते।

प्रश्न—इस प्रकार परमानन्द स्वरूप भगवदाकार स्थायी भाव होने से भक्ति रस की परमानन्द स्वरूपता भले ही हो किन्तु कांतादि विषयक शृंगारादि लौकिक रसों में तो स्थायी भाव भगवदाकार नहीं होता तब उनमें परमानंद रूपता कैसे मानी जाती है? इसका समाधान करने के लिए कहते हैं :

कान्तादि विषयेष्यस्ति कारणं सुख चिद्घनम्।
कार्याकार्यसमामानेनाप्यावृतं मायया स्वतः॥११॥

कांता आदि लौकिक विषयों में भी उसकी प्रतीति का कारण सुख स्वरूप चैतन्यघन ही है किंतु तदाकारता में अभेद होने पर भी स्वतः सिद्ध माया के आवरण से वह ढका हुआ है।

इस रीति से रस के स्वरूप का विवेचन करने पर भक्ति को एक स्वतंत्र रस न मानने का कोई कारण नहीं रह जाता। भगवद्भक्ति की रस स्वरूपता का सयुक्तिक प्रतिपादन करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने अन्य आचार्यों की उस उक्ति को कि 'देवादि विषयक रति को भाव ही मानना उचित है' अन्य देवपरक बतलाया है।

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथोर्जितः।
भावः प्रोक्तो रसो नेति यदुक्तं रसकोविदैः॥७४॥
देवान्तरेषु जीवत्वात् परानन्दप्रकाशनात्।
नयोज्यं परमानन्दरूपे न परमात्मनि॥७५॥

अर्थ—देवादि विषयक रति तथा व्यंजना द्वारा प्रकाशित व्यभिचारी (निर्वेदादि) भाव कहे जाते हैं रस नहीं। ऐसा जो रसज्ञों ने कहा है वह कथन जीव रूप होने से और पूर्ण आनन्द के प्रकाशक न होने से अन्य देवताओं के विषय में उसे परमानन्द रूप परमात्मा कृष्ण में नहीं लगाना चाहिए।

विवृति—रस शास्त्र के आचार्य भरत आदि ने देवादि विषया रति और निर्वेदादि संचारियों को भाव माना है रस नहीं। इसलिए यहाँ शंका हुई कि भक्तिरस कैसे हो गया? क्योंकि वह भी तो कृष्ण विषयक रति ही है? इसी का उत्तरशंका सहित इन कारिकाओं में दिया गया है कि अन्य देवताओं विषयक रतिभाव कही जा सकती है, क्योंकि वे मलिन-सत्व

प्रधान जीव अविद्या के कार्य रूप होने से पूर्ण आनंद के प्रकाशक नहीं है किंतु भगवान् कृष्ण तो परमानंद स्वरूप परमात्मा हैं किंतु उनके विषय में यह सिद्धांत लागू नहीं होता। जैसा कि भागवत में कहा है—**'अन्ये चांशकलाःपुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।'** और भी प्रथम स्कंध में—

वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।

आदि सामान्य देवरति की अपेक्षा भगवद् विषयिणी रति विलक्षण होती है अतः उसे भाव न कह कर रस ही कहना चाहिए यह तात्पर्य है। इस विषय को श्री रूपगोस्वामी जी ने हरिभक्ति रसामृत सिंधु और उज्ज्वल नीलमणि में विस्तार से सिद्ध किया है। (७५-७६)

यहाँ जो बातें भगवान् श्रीकृष्ण को लेकर कही गई हैं वही बातें भगवान् श्रीराम के सम्बन्ध में भी लागू होती हैं। क्योंकि श्रीकृष्ण के ही समान श्रीराम के सम्बन्ध में 'रामस्तु भगवान् स्वयम्' यह वचन उपलब्ध होता है। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' में भी 'तु' शब्द चकारार्थक है और 'च' शब्द यहाँ अनुक्त समुच्चायक है इस प्रकार इस श्लोक से अनुक्त राम भी स्वयम् भगवान् सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन और प्रमाणों के आधार पर रामचरितमानस महाकाव्य के अंगीरस के रूप में भक्तिरस को स्वीकार करने में भी कोई अनुपपत्ति नहीं है। क्योंकि श्री गोस्वामीजी अपने समकालीन और

'आनन्दकानने ह्यस्मिंजंगमस्तुलसी तरुः।
कविता मञ्जरीयस्य रामभ्रमरभूषिता

के द्वारा समर्थक श्री मधुसूदन सरस्वती के—

नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थं,
परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति।
निरुपमसुखसंविद्रूपमस्पष्टदुःखं,
तमहमखिलतुष्ट्यै शास्त्रदृष्ट्याव्यनज्मि।।

अर्थात्—'सर्वत्र' सत्ता रूप में विराजमान मुकुन्द (परमेश्वर) विषयक भक्तियोग को नवरसों से मिलित अथवा केवल (स्वतंत्र रस रूप से) परम पुरुषार्थ कहते हैं। अनुपम सुख की प्राप्ति रूप और दुःख जिसे छू तक नहीं जाता ऐसे उस भक्तियोग की मैं सब की सन्तुष्टि के लिए शास्त्रीय दृष्टि से विवेचना करता हूँ।

इस श्लोक में जो अभिप्राय निहित है उनके पूर्ण समर्थक प्रतीत होते हैं।

गोस्वामीजी के इन सब विषयों पर क्या विचार हैं, इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए गंभीरतापूर्वक निविष्ट हो कर अन्वेषण करने की आवश्यकता है। प्रसन्नता का विषय है कि प्रस्तुत प्रबंध में श्री वैद्यनाथ जी ने ऐसा ही परिश्रम किया है।

धर्म संघ, वाराणसी **—स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती**

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

आनन्दकानने ह्यस्मिन् तुलसी जंगमस्तरुः ।
कवितामंजरी यस्य रामभ्रमरभूषिता ।।

—मधुसूदन सरस्वती

मानस-संज्ञा

'कलि-कुटिल-जीव-निस्तार-हित'[1] तुलसी ने अपनी जागरूक लोक-मंगलोन्मुख कारयित्री प्रतिभा को मर्यादा पुरुषोत्तम राम की सेवा में नियोजित कर दिया। तथाविध प्रतिभा-प्रसूत इनकी महत्तम कृति की रीति तत्व की दृष्टि से समीक्षा ही प्रस्तुत प्रबंध का विषय है। इनकी महत्तम कृति 'मानस' संज्ञा से अभिहित है। गोस्वामी जी ने कृति का आरम्भ करते हुए जहाँ मांगलिक पदों का विधान किया है—उसी संदर्भ में आदिकवि बाल्मीकि की भी प्रार्थना की है और उस प्रार्थना में यह बताया गया है कि वे उस मुनि के पद कंज की वंदना करने जा रहे हैं, जिन्होंने 'रामायण' का निर्माण[2] किया। निष्कर्ष यह कि 'रामायण' बाल्मीकि महर्षि की रचना का नाम है। गोस्वामी जी ने अपनी कृति को 'मानस'[3] संज्ञा से अभिहित किया है।

मानस संज्ञा का रहस्य

मानस का पूरा नाम रामचरितमानस है। पर जैसे 'काव्यरीति' काल पाकर 'रीति' रूप में संकुचित हो गया वैसे ही 'मानस' ने भी रामचरितमानस का स्थान ले लिया। रामचरितमानस नाम का अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है।[4]

---

१. भक्तमाल। नाभादास पृष्ठ ७५६।

२. बंदौं मुनि पद कंज रामायण जेहि निरमयेउ।
सखर सुकोमल मंजु दोसरहित दूषन सहित।। रामचरित मानस पृ० ४४।

३. (क) जस मानस जेहि विधि भयउ जग प्रचार जेहि हेतु। वही, पृ० ५७।
(ख) अस मानस मानस चख चाही।
भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही।। वही, पृ० ५९।

४. क. रामचरित मानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ विश्रामा।।
रा० च० मा० पृ० ५७।

इन सब से पता चलता है कि 'रामचरित मानस' नाम रखने का विशेष हेतु है और वह यह कि सर्व प्रथम शिव ने काव्य की रचना करके अपने 'मानस' (मन वा हृदय) में रखा और समय पाकर शिवा से इसको कहा। इस कारण प्रसन्नतापूर्वक सोच विचार कर प्रस्तुत प्रबन्ध का नाम उन्होंने 'रामचरित मानस' रखा। ग्रन्थ भर में दोनों नामों का व्यवहार हुआ है पर लाघववश 'मानस' नाम सर्व साधारण में अधिक प्रचलित है।[१]

ग्रन्थ का नाम 'मानस' बड़ा अर्थ गर्भित लगता है। पहले तो 'मानसरोवर' के साथ इसका साधर्म्य बैठ जाता है, दूसरे काव्य के मनोमय कोश का विषय होने के कारण भी 'मानस' नाम संगत लगता है। जिस प्रकार अप्रस्तुत मानस स्नानार्थियों की श्रान्ति क्लान्ति को दूर करता है उसी प्रकार प्रस्तुत मानस भी अपने रसिक पाठक श्रोताओं को शान्ति प्रदान करता है।[२]

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम्।[३]
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये
ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः।

उभय मानस दुर्गम हैं।[४] गन्तव्य तक पहुँच कर भी कितने अभागे बिना गोता लगाये

ख. रामचरित मानस मुनि भावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन॥
वही पृ० ५७।
ग. संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी॥
वही पृ० ५७।
घ. रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमय सिवा सन भाखा॥
वही पृ० ५७।
ताते रामचरित मानस वर। धरेउ नाम हियं हेरि हरषि हर॥
ङ. सुनु सुभ कथा भवानि राम चरित मानस विमल—वही पृ० १०४।
१. च. अस मानस मानस चख चाही···वही ५९।
छ. सदा सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुरवर मानस अधिकारी॥
वही पृ० ५८।
ज. जस मानस जेहि विधि भयउ जग प्रचार जेहि हेतु—मानस वही पृ० ५७।
२. मन करि विषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं एहि सर परई॥ वही पृ० ५७।
३. दे० मानस उत्तर कांड का अंतिम श्लोक—६८०।
४. जौं करि कष्ट जाइ पुनि कोई। जातहिं नींद जुड़ाई होई।
वही पृ० ५९।

ही लौट आते हैं।[1] अपनी असफलता पर उन्हें ग्लानि नहीं अपितु गर्व होता है।[2] अतः गन्तव्य तक पहुँच कर अभीष्ट सिद्धि चाहने वाले रसिक जनों के लिए तीन साधन बताए गए हैं—

(१) श्रद्धा रूपी संबल।
(२) संतों का साथ।
(३) भगवान् की प्रियता।

जे श्रद्धा संबल रहित नहिं संतन कर साथ।
तिन कहं मानस अगम अति जिनहिं न प्रिय रघुनाथ॥ मानस, पृ० ५९।

विशुद्ध काव्य के क्षेत्र में भी प्रवेश पाने के इसी प्रकार के तीन साधन हैं— प्रतिभा, निपुणता और अभ्यास।

जैसे श्रद्धा[3] का प्रयत्नतः अर्जन असंभव है; वह ईश्वर प्रदत्त होती है, वैसे ही प्रतिभा भी।[4]

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है काव्य मनोमय कोश का विषय है, इस हेतु भी मानस नाम सार्थक है। 'मानस' का वर्ण्य विषय 'कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव, अव्यक्त जेहिं श्रुति गाव' न होकर 'मोहि भाव कोसल भूप, श्री राम सगुन सरूप' है।

'मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी' भगवान् का यह निर्गुण रूप 'साधन कठिन न मन कहं टेका' एवं 'बिनु अधार मन तोषु न सांती' रूप दोष से

---

१. जड़ता जाड़ विषम उर लागा। गएहुं न सज्जन पाव अभागा॥
वही पृष्ठ ५९।

२. करि न जाइ सर मज्जन पाना। फिरि आवइ समेत अभिमाना॥
वही पृ० ५९।
जौ बहोरि कोउ पूछन आवा। सर निन्दा करि ताहि बुझावा॥

३. राम कबहिं प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को।
सुख जीवन ज्यों जीव को, ज्यों धन लोभलीन को।
ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नाग नवीन को॥
—वि० प०, पद सं० २६९।

४. जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी॥ मानस
ते नर यह सर तजहिं न काऊ। जिन्ह के राम चरन भल भाऊ॥
वही पृ० ५९।
यहां पर 'भलभाऊ' से सहृदय सामाजिक में वासना रूप से स्थित इत्यादि स्थायी भाव से तात्पर्य है।

उपहृत होने के कारण 'मानस' के लिए ग्राह्य नहीं हो सका है। उसका भावक तो आँख भर 'अवधेश' को देखने का 'बालहठ' किए हुए है।[१]

'मानस' के राम 'पुरुष प्रसिद्ध प्रकाश निधि प्रगट परावर नाथ' होते हुए भी 'रघुकुल मनि' हैं और ये ही 'रघुकुल मनि' सगुण साकार राम शिव के प्रणम्य एवं स्वामी हैं। 'सगुन ब्रह्म अवराधन' की सुविधा इसके पात्र किसी भी मूल्य पर प्राप्त करते हैं। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चारों पदार्थ यहाँ त्याज्य हैं। 'जनम-जनम रति राम पद यह वरदान न आने' यहाँ यही जीवन का ध्येय है। कवि ने एक ही अर्द्धाली में कह दिया—

'साधन सिद्धि राम पद नेहू'

मानस में जिस समस्त सुखमूल सगुण ब्रह्म की अवतारणा हुई है, उसको निरखकर ब्रह्मवादी जनक का मन ब्रह्म सुख को बरबस छोड़ देता है। एतावता इस दृष्टि से भी 'मानस' संज्ञा उपयुक्त ही प्रतीत होती है। अर्थात् मानस भावना का विषय है, तर्कना का नहीं। उसका स्थान हृदय है, मस्तिष्क नहीं। यहाँ श्रद्धा को यह परिवाद करने का अवकाश नहीं कि 'सिर चढ़ी रही पाया न हृदय' यहाँ तो श्रद्धा ही का रंग है। 'मानस' के प्रवेश द्वार पर लिखा है—

जे श्रद्धा संबल रहित नहिं संतन कर साथ।
तिन कह मानस अगम अति जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ॥

इनके अतिरिक्त 'मानस' नामकरण का एक तीसरा कारण भी है। बात यह है कि तुलसीदास ने न केवल पुराण निगमागम से मानस की कथा-वस्तु का चयन किया है अपितु तत्तत् उपजीव्य ग्रन्थों से शैलियाँ भी उधार ली हैं। उन्होंने वर्णन की पौराणिक शैलियों का भी व्यवहार किया है। पुराण संहिता के अनुसार शास्त्रों में तीन प्रकार की भाषा व्यवहृत हुई है :

(क) समाधि भाषा—समाधि गम्य विषयों—ईश्वर, जीव, प्रकृति, प्रभृति को बिना रूपकादि अलंकारों की सहायता के स्पष्ट रूप से कहना।

(ख) परकीया भाषा—धर्म संस्थापन के लिए किसी भी लोक, कल्प वा पुरुष की यथार्थ कथा का कथन।

---

१. विविध भांति मोहिं मुनि समुझावा। निर्गुन मत मम हृदय न आवा॥
पुनि मैं कहेउं नाइ पद सीसा। सगुन उपासन कहहु मुनीसा॥
राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रवीना॥
सोइ उपदेस कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखौं रघुराया॥
भरि लोचन विलोकि अवधेसा। तब सुनि हउं निर्गुन उपदेसा॥ वही पृ० ६२।

(ग) लौकिकी भाषा—समाधिगम्य विषयों का अलंकृत ढंग से कथन तथा ब्रह्मा का अपनी कन्या पर मोहित होना।[1]

कहना न होगा कि तुलसीदास ने अपने मानस में लौकिकी भाषा शैली का प्रभूत प्रयोग किया है। जैसे जायसी ने 'पद्‌मावत' में अनेक मानस वृत्तियों की नराकार योजना की है और प्रसाद ने कामायनी[2] में अपने प्रिय आनंदवाद की प्रतिष्ठा दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ कल्पना की मधुमती भूमिका बनाकर की है, वैसे ही तुलसीदास ने भी अपनी व्यावहारिक भूमि पर द्वैतमत का रमणीय ढंग से मानवीकरण प्रस्तुत किया है—शुभाशुभ मानस—वृत्तियों की राम-रावण रूप में कल्पना की है।[3]

यहाँ यह समझ रखना चाहिए कि मानस मुख्यतः बाह्यार्थ निरूपक काव्य है। अतः इसका समन्वित प्रभाव पड़ता है।

'मानस' संज्ञा के रहस्योद्‌घाटन क्रम में इतनी गहरी डुबकी लगाने पर नामकरण के प्रधानतः तीन हेतु, हाथ लगे—

(१) अभिधामूलक हेतु, (२) लक्षणामूलक हेतु (३) व्यंजनामूलक हेतु। उदाहरण लीजिए—

(१) अभिधामूलक हेतु

क. रचि महेस निज मानस राखा।
पाइ सुसमय सिवा सन भाखा।

ख. श्लेषमूलक शब्द साम्य

मानस शब्द श्लिष्ट है—मानसरोवर और हृदय या मन दो अर्थ होते हैं।

---

१. दे० भागवतांक गत पं० शान्तनु बिहारी कृत 'भाग० महापुराण है' —लेख पृ० ५०।

२. यद्यपि कवि (प्रसाद) ने कहा है कि मैंने इसे ऐतिहासिक रूप में ही रखा है, पर पुस्तक के देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह मनोवृत्तियों के रूपक का लोभ त्याग नहीं सका है। वाङ्मय विमर्श पृ० ३४५।

३. वपुष ब्रह्मांड सुप्रवृत्तिलंका दुर्ग रचित अन दनुज मय-रूपधारी।
विविध कोशौध अति रुचिर-मन्दिर-निकर, सत्व गुण प्रमुख त्रैकटककारी।
कृपण अभिमान सागर भयंकर घोर विपुल अवगाह दुस्तर अपारं।
नक्र रागादि संकुल मनोरथ सकल संग संकल्प वीची विकारं।
मोह दश मौलि तद् भ्रांत अहंकार पाकारिजित काम विश्राम हारी।
लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर दुष्ट क्रोध पापिष्ट विबुधांतकारी।
द्वेष दुर्मुख दंभ खर अकंपन कपट दर्प मनुजाद मद शूल पानी।

(२) लक्षणामूलक हेतु

क—दोनों दुर्गम हैं।

ख—दोनों का पार्वती और शिव से सम्बन्ध है।

ग—संबल, सत्संग और भगवत्कृपा दोनों में अपेक्षित है।[१]

(३) व्यंजनामूलक हेतु

क—काव्य मनोमय कोश का विषय है—वह व्यंजनामूलक कहा गया है। परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥[२]

ख—मानस वृत्तियों का मनोरम मानवीकरण अभिव्यंजित हुआ है।

लक्ष्यानुरूप वर्ण्य विषय

मानस की कथा के तीन वक्ता—शिव याज्ञवल्क्य और कागभुशुंडि हैं और क्रमानुसार तीन श्रोता भी हैं—पार्वती भरद्वाज और गरुड़। इन श्रोताओं का यही मोह था—

अमितबल परम दुर्जय निसाचर-निकर सहित षड्वर्ग गो यातुधानी।
जीव भवदंघ्रि-सेवक विभीषण बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता।
नियम यम सकल सुरलोक लोकेस लंकेसबस नाथ अत्यन्त भीता।
ज्ञान-अवधेस-गृह गेहिनी भक्ति शुभ, तंत्र अवतार भूभार-हर्ता।
भक्त-संकष्ट अवलोकि पितु-वाक्य कृत गवन किय गहन वैदेहि भर्त्ता॥
कैवल्य साधक अखिल भालु मर्कट विपुल ज्ञान-सुग्रीव कृत जलधि सेतू।
प्रबल वैराग्य दारुन प्रभंजन तनय विषम वन भवनमिव धूमकेतू।
दुष्ट दनुजेस निर्वंशकृत दासहित, विश्व दुख हरण बोधैक रासी।
अनुज निज जानकी सहित हरि सर्वदा दासतुलसी हृदय कमलवासी॥

—छंद ५८ विनयपत्रिका।

१. 'मानस' के रूपक में खोजने पर अनुगामी धर्म, वस्तु प्रतिवस्तु धर्म, और उपचरित धर्म सब मिल जायेंगे। हां, बिम्ब प्रतिविम्ब भाव (रूप सादृश्य) अवश्य ही नहीं मिलेगा।

२. (अ) साहित्य में मन रम कर जगत् प्रपंच से मुक्त हो जाता है। मन का विकार दूर करने के लिए जो साधनाएं योगी किया करता है वे इससे आपसे आप हो जाती हैं।...अहंकार का त्याग इसका प्रथम लक्षण है। राजनीति केवल रजोगुण की साधना सिखलाती है, सात्विक भाव का उद्रेक साहित्य से ही हो सकता है। सत्वोद्रेक के उपरांत क्या चिन्मय स्थिति होती है इसे अभिनव गुप्त, मम्मट, पंडितराज बहुत पहले बतला गए हैं। आधुनिक क्रोचे, ब्रैडले, रिचर्डस् से पूछने पर भी यही उत्तर मिलेगा।

—हि० साहित्य का अतीत (पहला भाग) पृ० १०

(सती रूप में पार्वती का मोह शिवप्रति)

[1]संकरु जगत बन्द जगदीसा। सुरनर मुनि जेहि नावत सीसा ।।
तिन्ह नृप सुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानन्द पर धामा ।।
ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत वेद ।।
विष्नु जो सुरहित नरतनु धारी। सोउ सर्वग्य जथा त्रिपुरारी ।।
खोजइ सोकि अग्य इव नारी। ग्यान धाम श्रीपति असुरारी ।।
रामु सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई ।।
जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि विरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमित बुद्धि अति मोरि ।।

(गरुड़ का मोह भुशुंडि प्रति)

[2]व्यापक ब्रह्म विरज वागीसा। माया मोह पार परमीसा ।।
सो अवतार सुनेउं जग माही। देखेउं सो प्रभाव कछु नाहीं ।।
भव बंधन तो छूटहिं नर जपि जाकर नाम।
खर्व निसाचर बांधेउ नाग पास सोइ राम ।।

(भरद्वाज का मोह)

[3]राम कवन प्रभु पूछउं तोही। कहिय बुझाइ कृपा निधि मोही ।।
एक राम अवधेस कुमारा। तिन्ह कर चरित विदित संसारा ।।
नारि विरह दुखु लहेउ अपारा। भयउ रोष रन रावन मारा ।।
प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्य धाम सर्वज्ञ तुम्ह कहहु विवेक विचारि ।।

तीनों श्रोताओं की मुख्य शंका तो यही थी कि राम कहीं मनुष्य तो नहीं थे और तीनों

(आ) अभिव्यक्ति अन्तःकरण का ही काम है। राम और भरत के प्रेम में उसकी स्थिति ही नहीं रह गई। कवि की पहुंच से वह परे हो गया ऐसे प्रेम का विवरण नहीं दिया जा सकता, उसकी व्यंजना मात्र हो सकती है। वही कवि ने कर दी।
—हिन्दी साहित्य का अतीत (पहला भाग) पृ० २४२।

१. दे० रा० च० मा०, बा० कां० पृ० ६५, ९७।
२. मानस : उत्तर कांड पृ० ६२८।
३. मानस : बालकांड पृ० ६३

वक्ताओं ने मुख्य रूप से इसी का समाधान भी किया है। पर पार्वती के शब्दों में पूरी प्रश्नावली यों है —

'प्रथम सो कारन कहहु विचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन वपु धारी।।
पुलक प्रभु कहहु राम अवतारा। बाल चरित पुनि कहहु उदारा।।
कहहु जथा जानकी विहाही। राज तजा सो दूषन काही।।
बन बसि कीन्हें चरित अपारा। कहहु नाथ जिमि रावन मारा।।
राज बैठि कीन्हीं बहुलीला। सकल कहहु संकर सुख सीला।।
बहुरि कहहु करुना यतन कीन्ह जो अचरज राम।
प्रजा सहित रघुवंशमनि किमि गवने निज धाम।।
पुनि कहहु सो तत्त्व बखानी। जेहि विज्ञान मगन मुनि ज्ञानी।।
औरउ राम रहस्य अनेका। कहहु नाथ अति विमल विवेका।।
जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सोउ दयालु राखहु जनि गोई।।

शिव ने पूरी प्रश्नावली का उत्तर दिया है। जो प्रश्न छूटा है वह यह है :—

प्रजा सहित रघुवंश मनि किमि गवने निज धाम

रामायणियों का कथन है कि बाद में पार्वती ने प्रथम में 'जो मैं पूछा सोई कहहू' के के द्वारा अपने उक्त प्रश्न को वापस ले लिया था। कहना न होगा कि इस प्रश्न के निकाल देने से मानस की भावना की रक्षा ही हुई है।

गो० तुलसीदास जी ने स्वान्तःसुखाय रघुनाथ गाथा गायी है और इस स्वान्तः सुखाय का पेटा बहुत बड़ा है। इसको आत्म सुख आत्मानंद वा ब्रह्मानंद भी कह सकते हैं जिससे लोकमंगल का भी साधन अनायास—अनइच्छित आवत बरियाई—हो जाता है। कविता की सार्थकता इसी में है :

'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई।।

शिव भी आरंभ में ही स्पष्ट कर देते हैं :

'कीन्हिहु प्रश्न जगत हित लागी'

अर्थात् हे पार्वती लोकमंगल के लिए तुमने यह प्रश्न किया है। तात्पर्य यह कि "राम जैसा आचरण करो रावण जैसा नहीं" इस प्रकार का कान्तासंमित उपदेश ही मानस का लक्ष्य

---

१. मानस : बालकांड पृ० ९८।
२. मानस : बालकांड पृ० ४४।

है और मेरे मतानुसार तो तुलसीदास के स्वान्तःसुखाय का तात्पर्य मम्मटाचार्य के सकल प्रयोजन मौलिभूत सद्यःपरनिर्वितिः" से है।

इस लक्ष्य के काव्य को उपनिबद्ध करने में गोस्वामी जी ने निम्नांकित साक्षात्कार कराया है—

(१) तुलसी के राम[१] निषाद को गले लगाकर कुल समेत उसे पावन कर देते हैं और इस व्याज से सवर्णों और अन्त्यजों के बीच का युग-युग का विलगाव दूर कर उनके हृदयों को निकट लाने में सफल होते हैं।

(२) **राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी॥**
का अन्यतम उदाहरण दशरथ उपस्थित करते हैं।

(३) भरत की भ्रातृभक्ति अनुकरणीय है।

(४) लक्ष्मण का एकान्तिक राम-प्रेम और सीता का लोकोत्तर पातिव्रत्य संसार के लिए आदर्श सिद्ध हुआ।

(५) शैवों और वैष्णवों में सौहार्द और सौमनस्य की सृष्टि का स्तुत्य प्रयास किया है। राम ने शिव के साथ अपना अभेद सम्बन्ध स्थापित किया है।

(६) शंबूक की कथा की योजना से संभवतः सवर्णों और अन्त्यजों के बीच की खाई चौड़ी होती, परस्पर कटुता का बीज वपन होता, अतः तुलसी ने जिनका लक्ष्य समाज में समन्वय लाना था इस प्रसंग की चर्चा नहीं की। केवल "सियनिन्दक अघओघ नसाये" लिखकर राम की समदर्शिता प्रदर्शित की।

(७) **चौदह भुवन एक पति होई। भूत द्रोह तिष्ठइ नहिं सोई॥**
इस कथन की चरितार्थता रावण के पतन द्वारा प्रदर्शित की।

(८) साखी, सबदी, दोहरा, कहनी और उपखान कहकर एवं वेद पुराण की निन्दा करके वे समाज को लोक वेद से विमुख नहीं करना चाहते थे अपितु लोक-संग्रह के लिए, लोकधर्म की रक्षा के लिए ही उनके राम अवतार लेते हैं[१] 'मानस' द्वारा इसी तथ्य का साक्षात्कार उन्होंने कराया है।

तुलसीदास जी की जो कविता-सरिता राम मनोहर जस रूप जल से भरी हुई मानस से उमग कर चलती है उसके 'लोक और वेद' ये दो 'मंजुल कूल' कहे गए हैं। तुलसी के भरत जैसे 'विधि प्रपंच महं सुना न दीसा' पात्र भी लोक पक्ष को छोड़ते नहीं हैं—

---

१. **जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं विप्र धेनु सुरधरनी॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
असुर मारि थापहिं सुरन्हि राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग विस्तारहिं विसद जस रामजन्म कर हेतु। —मानसः बालकांड पृ० १०४।**

'सम्पति सब रघुपति कर आही। जो बिनु जतन चलौं तजि ताही।

क्योंकि गृहस्थाश्रम को छोड़ देने पर, कर्मकांड का परित्याग कर देने पर भक्ति के लिए अवकाश नहीं रहता।[2]

(९) पर स्त्री को 'चौथ चंदा' सा दृष्टि वर्ज्य बताया[3] और पर धन एवं पर दारा पर दृष्टि रखने वालों की दुर्दशा दिखाई।[4]

भक्ति और सदाचार का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध प्रतिपादित किया।[5]

(१०) 'राजा किसी विजित प्रदेश पर अपनी संस्कृति न लादे वरन् वहाँ की परंपरा प्राप्त संस्कृति का संरक्षण करे।' मनु के इस आदेश का पूरा-पूरा पालन हम राम को करते पाते हैं। उन्होंने किष्किन्धा और लंका पर अपनी आर्य संस्कृति नहीं लादी।

(११) युग की मांग के अनुरूप ही 'ग्राम्य गिरा' में राम का यशोगान किया।[6] विद्यापति ने भी कहा था 'देसिल बैना सब जन मिट्ठा'।

गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपा सिंधु मानुष तनुधारी॥
जन रंजन भंजन खल व्राता। वेद धर्म रच्छक सुनु भ्राता॥
मानस : सुन्दर कांड पृ० ४९०।

१. मानस : अयोध्याकांड पृ० ३३२।

२. सोचिय गृही जो मोहबस करइ कर्म पथ त्याग
—मानस : अयोध्या कांड पृ० ३२५।

और भी

बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो। विनय प०, पद्य सं० १७३।
इत कुल की करनी तजी उत न भजे धनु पानि।
तुलसी अध बिचके भए जिमि कोटर को पानि॥
गंगा प्रसाद कृत अप्रकाशित विनय पत्रिका की टीका।
—सरस्वती भंडार रामनगर दुर्ग।

३. जो आपन चाहै कल्याना। सुजसु सुमति सुभगति सुखनाना॥
सो परनारि लिलार गोसाई। तजउ चउथि चंदा की नाई॥
—मानस : पृ० ४८९।

४. लोभी लंपट लोलुप चारा। जे ताकहिं परधनु पर दारा।
पावौं मैं तिनकर गति घोरा। जौं जननी यहु संमत मोरा। —मानस : वही ३२३।

५. ऊषर बरषइ तृन नहिं जामा। संत हृदय जिमि उपज न कामा॥
पृ० ४५५ मानस : किष्कि० कां०।

६. स्याम सुरभिपय बिसद अति गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय रामजस गावहिं सुनहिं सुजान॥ —मानस : बालकांड पृ० ४२।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोक-मंगल के साधन के लिए उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से समाज में शील-सदाचार का प्रचार किया, समाज की ऊँची नीची श्रेणियों को मिलाने की चेष्टा की। भेदभाव मिटाने की ओर भी हम उन्हें उन्मुख देखते हैं। राजा के कर्त्तव्यादि का भी निर्देश किया। साथ ही मानव जीवन के चरम लक्ष्य का भी बोध कराया। तुलसी के 'लोक मंगल' की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें 'धर्मसहित सब कर हित होई' पर विशेष बल दिया गया है। उसमें समय, समाज और धर्म का अविरोध दरसाया गया है—

समय समाज धर्म अविरोधा

उनके राम 'धर्म सेतु पालक' हैं। अपनी इच्छा के सर्वथा विरुद्ध हुए निश्चयों को भी—यदि वे सर्व सम्मत हैं—वे शिरसा स्वीकार कर लेते हैं।

लोकतंत्र का मूलभूत सिद्धान्त और उसका जीवन प्राण यही तो है :—'सबके संमत सर्व हित करिय प्रेम पहिचानि'

तुलसीदास जी ने अपने समानधर्माओं (कवियों) की भी खबर ली है। तत्कालीन कवि या तो अपने आश्रयदाताओं की विरुदावली बखानते या उनकी वासना की तृप्ति के लिए घोर श्रृंगारिक रचनाएँ करके अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग करते थे। तुलसी ने इनको फटकारा। उन्होंने चेतावनी दी—राम नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु विचारि त्यागि मन मोहा॥

श्रृंगारिक रचनाओं को टीका करते हुए उन्होंने कहा :—

[1]'विधु बदनी सब भांति संवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥
वसन हीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित वर नारी॥

रावण के प्रति कही गई निम्नीय उक्ति को हम तत्कालीन राजाओं की विरुदावली बखानने वाले अर्थ लोलुप कविराजों के प्रति व्यंग्य समझते हैं।[2] इस प्रवृत्ति पर इससे करारी चोट और क्या हो सकती है।

मानस का मुख्य वर्ण्य वा प्रतिपाद्य तो सगुण-निर्गुण रूपों में परस्पर अभेद स्थापन है[3] अवतारवाद का मंडन है। कबीर जैसे निर्गुण संतों की 'राम नाम का भरम है आना।

---

१. मानस सुं० कां० दो० २३।

२. राम विमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥
सजल मूल जिन सरितन्ह नाहीं। बरसि गए पुनि तबहिं सुखाहीं॥
—मा० सुं० सं० २३।

३. परमातमा ब्रह्म नर रूपा। होइहि रघुकुल भूषन भूपा॥मानस : ३, दो० ४८।

दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना' जैसी भ्रान्त उक्तियों के निरसन के लिए ही मानो मानस की अवतारणा हुई।

मानस की मुख्य श्रोता पार्वती कुछ इन्हीं शब्दों में पूछती हैं—

रामु सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई।।

सच्चा भारतीय भक्त इस प्रकार की कल्पना से तिलमिला उठता है।[१] उसका पक्ष बहुत स्पष्ट है।[२] सगुण-निर्गुण में कोई भेद नहीं है। जिसे अगुन, अरूप, अलख, अज नामों से पुकारते हैं वही भक्त के प्रेम के वशीभूत होकर सगुन रूप धारण कर लेता है। जो कहो कि भला गुण रहित तत्व सगुण कैसे हो सकता है तो उसे समझने के लिए दूर नहीं जाना होगा। जल और हिम उपल का दृष्टान्त सामने है। नाम रूप में भेद होने पर भी वे वास्तव में भिन्न नहीं हैं।...मेरे आराध्य रघुकुलमणि राम ही परमानंद, परेश और पुराण ब्रह्म हैं। विद्वानों का अनुमान है कि गोस्वामी जी राम की ओर स्वामी रामानन्द के प्रभाव में आकर आकृष्ट हुए होंगे और भक्ति के दास्य भाव को रामानुजाचार्य जी के कारण अपनाया होगा। श्री सम्प्रदाय की ब्रह्म वाली व्याख्या इनकी भक्ति के अधिक अनुकूल कही जा सकती है। ब्रह्म अंशी है और जीव तथा जगत अंश। इसी से रामानुज ने ब्रह्म को 'चित्-अचित्-विशिष्ट' कहा है। ब्रह्म में सूक्ष्म चित् और सूक्ष्म अचित् दो प्रकार होते हैं। सूक्ष्म चित् से स्थूल चित् अर्थात् जीव और सूक्ष्म अचित् से स्थूल अचित् अर्थात् जगत् की उत्पत्ति होती है।[३] निम्नलिखित उक्तियों में विशिष्ट मत की ध्वनि गूँज रही है—

---

१. एक बात नहिं मोहिं सोहानी। जदपि मोह बस कहेहु भवानी।
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति कहहिं धरहिं मुनि ध्याना।
कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखंडी हरि पद विमुख जानहिं झूठ न सांच।। मानस : बा० कां० १००।

२. सगुनहि अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल विलग नहिं जैसें।।
जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिअ विमोह प्रसंगा।।
राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहं मोह निसा लवलेसा।।
सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहं पुनि विग्यान विहाना।।
हरष विषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना।।
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना।।
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुल मनि मय रचहिं सोइ कहि सिव नायउ माथ।। मानस : पृ० १०१।

३. हिन्दी साहित्य का अतीत का पहला भाग पृ० २२६।

ईस्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।।
सुरसरि जल कृत वारुनि जाना। तिन्हिं न संत करहिं कहुं पाना।।
सुरसरि मिले सो पावन कैसे। ईस अनीसहिं अंतर तैसे।।

—मानस : बालकांड।

दो शब्द वस्तु संघटन के सम्बन्ध में निवेदन कर देना अस्वाभाविक न होगा। गोस्वामी जी ने "नाना पुराण निगमागम संमतम् यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि" की बात स्वीकार की है। इसके अनुसार उन्होंने पुराणों में बिखरी राम कथाओं, राम तापनीय उपनिषद् में सूत्र रूप से प्राप्त वृत्त एवं दार्शनिक सिद्धान्त, महारामायण, अध्यात्म रामायण, प्रसन्न राघव, हनुमन्नाटक, उत्तर रामचरित, महावीर चरित, अनर्घराघव आदि को आधार बनाया है। साथ ही रमणीयार्थ के प्रतिपादन के लिए प्रसिद्ध कथा-प्रसंगों में कुछ हेर-फेर भी किया है और उन्हीं प्रसंगोद्भव भावनाओं की ओर लक्ष्य करके लिखा है—

सो सब हेतु कहब मैं गाई। कथा प्रबंध विचित्र बनाई।।
जे यह कथा सुनी नहिं होई। सुनि आचरज करे जनि सोई।।

काग भुशुण्डि की कथा तुलसी की स्वतंत्र उद्भावना जान पड़ती है क्योंकि इसका आधार किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता।

उपस्थापन पद्धति : पौराणिक या काव्यीय

रामचरित मानस पुराण है कि काव्य इस पर विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। आचार्य चन्द्रवली पाण्डेय ने लिखा है 'शिव पार्वती के कारण जहां मानस आगम ग्रन्थ है वहीं याज्ञवल्क्य भरद्वाज और कागभुशुण्डि के कारण पुराण भी। तुलसी के कारण वह काव्य ग्रन्थ है ही।'[1] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार मानस में इस भ्रम (पुराण होने का) का कारण है पुराण शैली का साहित्यिक ग्रहण। उसमें चार-चार संवाद भ्रम उत्पन्न करते हैं। पर हिन्दी में प्रबन्ध काव्यों का अपना स्वरूप संवाद रूप में ही चलता था। इसके प्रमाण 'रासो' में तथा केशवदास के ग्रन्थों में, वीर चरित आदि में, बहुत मिलते हैं। 'मानस' में अधिक इतना ही मिलता है कि संवादों का गुंफ है। यह संवाद गुंफ पुराणों में मिलता तो है पर मानस में उसका साहित्यिक सक्षिप्त प्रयोग है। जैसा सूक्ष्म प्रयोग रासो ग्रन्थों और वीर चरित्र आदि में भी नहीं है। संवाद के प्रश्नकर्त्ता को सामने रखने के बदले मानस में उसे कथा प्रवाह के बीच नेपथ्य में ही रखा गया है। सामने वक्ता ही है जो श्रोता के प्रश्नों का उत्तर उसे सम्बोधन मात्र करके दे सकता है।[2] ऐसे सारस्वत तुलसीदास को सूत पौराणिक का भाई-बन्धु मानने वालों की बुद्धि को क्या कहा जाय।[3]

---

१. तुलसीदास : पृ० ८७—चन्द्रबली पांडेय।
२. हिन्दी साहित्य का अतीत : प्र० भा० पृ० २४१।
३. हिन्दी साहित्य का अतीत : प्र० भा० पृ० २५९।

मेरे मतानुसार भी रामचरित मानस काव्य ही है। यद्यपि 'मानस' में नीति परक सूक्तियों और गरुड़ पुराण के ढंग का कर्मों का फलाफल कथन पुष्कल परिमाण में है और ऐसे कोरे उपदेशों को काव्य के भीतर लेने में आचार्यों को द्विविधा भी हुई है पर उन्होंने इसका युक्तियुक्त समाधान भी कर दिया है। ऐसी उक्तियों को काव्य के भीतर समझने के लिए यही एक शास्त्रीय युक्ति है कि "जैसे समूचे प्रबन्ध के रस से बीच-बीच में आए हुए 'आगे चले बहुरि रघुराई' ऐसे नीरस पद्य भी रसवान हो जाते हैं, वैसे ही इस प्रकार के कोरे उपदेश भी।"[१]

आचार्य शुक्ल 'मानस' को एक रसात्मक महाकाव्य के साथ ही धर्म ग्रन्थ भी मानते हैं। काव्य पक्ष में उनकी दलील बड़ी जोरदार है—

मानस के काव्य पक्ष का तो कहना ही क्या है। उसके भीतर मनुष्य जीवन में साधारणतः आनेवाली प्रत्येक दशा और प्रत्येक परिस्थिति का सन्निवेश तथा उस दशा और परिस्थिति का अत्यन्त स्वाभाविक मर्मस्पर्शी और सर्वग्राह्य चित्रण है। जैसा लोकाभिराम राम का चरित था, वैसी ही प्रसादमयी गंभीर गिरा, संस्कृत और हिन्दी दोनों में, उसके प्रकाश के लिए मिली···। मनुष्य जीवन की दशा के हिसाब से देखें तो बालकांड में आनन्दोत्सव अपनी हद को पहुँचता है, अयोध्या में गार्हस्थ्य की विषम स्थिति सामने आती है, अरण्य किष्किन्धा और सुन्दर कर्म और उद्योग का पक्ष प्रतिबिम्बित करते हैं तथा लंका में और उत्तर में कर्म की चरम सीमा, विजय और विभूति का चित्र दिखाई पड़ता है।[२]

गोस्वामी जी भी अपने ग्रन्थ का उल्लेख प्रबन्ध[३], वस्तु,[४] भनित[५], कवित[६] आदि नाम से करते हैं और अपने को कवि[७] नाम से ख्यापित करते हैं। ग्रन्थारंम में सर्व प्रथम वर्णं; अर्थसंघ, रस, छंदादि के कर्त्ता रूप में वाणी विनायक की वन्दना[८] एवं 'धुनि अवरेव' कवित गुनजाती, नवरस जपतप जोग विरागा, भाव भेद रस भेद अपारा, आखर अरथ अलंकृति नाना॥ छंद प्रबंध अनेक विधाना आदि उक्तियाँ मानस को काव्य ही सिद्ध करती हैं।

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ८०, आचार्य शुक्ल।
२. वही।
३. गो० तुलसीदास, पृ० ७९, ८०।
४. जो प्रबन्ध नहिं बुध आदरहीं। मानस : बालकांड पृ० ४४।
५. भनिति भदेसु वस्तु भलि बरनी। ,, ,, ,,
६. भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ। ,, ,, ,,
७. कवित विवेक एक नहिं मोरे ,, ,, ,,
८. राम चरित मानस कवि तुलसी ,, ,, ,,
९. वर्णनामर्थसंधानां रसानां छन्दसामापि। मंगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ॥
—मानस : बाल कां० पृ० ३३।

महाकाव्य की पूरी कवायद का विदग्धता एवं रसात्मकता पूर्वक पालन हुआ है। साथ ही कोरे 'शास्त्र स्थिति संपादन' से बचने का प्रयास भी लक्षित होता है। यथा १२ सर्ग के स्थान पर ७ कांडों की योजना।

भक्ति ज्ञान, वैराग्य के उपदेश उसमें काव्य-पद्धति पर सहज संप्रेषणीय ढंग से किए गए हैं।[1]

'मानस' काव्य है किंवा नीति ग्रन्थ, इस प्रकार के सन्देह की जड़ वहां जाकर स्वतः कट जाती है जहां गोस्वामी जी उसे 'मुक्ति-युवती' का 'सुभग शृंगार' श्रीमुख से मानते हैं—

'सुभग सिंगार मुक्ति जुवती की'[2]

अधिक से अधिक लोगों की अनुभूति का जो विषय होगा, अधिक से अधिक लोगों के हृदय को जो रमा सकेगा, काव्य कहलाने का वही पदार्थ अधिकारी हो सकता है। योग और दर्शन के गूढ़ विषयों को समझाने के लिए तत्तत् ग्रन्थों में जो रमणीय शृंगारिक रूपकों का सहारा लिया गया है उसमें यही रहस्य है। अभिनव भारतीकार कहते हैं—

'तत्रकामस्य सकल जाति सुलभतयात्यन्त परिचितत्वेन सर्वान् प्रति हृद्यतेति पूर्वश्शृंगारः

अर्थात् काम मनुष्येतर जातियों के लिए भी सुलभ और उनकी परिचित वृत्ति है।

शृंगार की इसी व्यापकता और संप्रेषणीयता को लक्ष्य करके आनन्दवर्धन भी कहते हैं—'शृंगार रस के अंगों से प्रवृत्त हुए शिष्यगण सदाचार के उपदेशों को आनन्दपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं।[3]

काव्य को कान्तासंमित उपदेश कहा गया है और उत्तम काव्य तो 'सद्यः परिनिर्वृति' के साथ ही वृत्तिपरिष्कार भी करते हैं—

जिमि सो असन पचवै जठरागी

लक्ष्य एवं पद्धति का समन्वय

इस प्रकार यह बात सिद्ध हो जाती है कि 'मानस' की उपस्थापन-पद्धति काव्यीय है न कि पौराणिक। उक्त स्थापना के पक्ष में दो शब्द और निवेदन करना चाहेंगे। काव्य के कतिपय व्यतिरेक और कवि की विरलता के उल्लेख से कदाचित् पुराणों के साथ उसकी भेदकता अधिक स्पष्ट हो जायगी। महाकावियों की वाणी की विशेषता है—

---

१. गो० तुलसीदास : आ० शुक्ल पृ० ८१।

२. मानस : आरती पृ० ४।

३. भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा १२१ पृ०

प्रतीयमानं पुनरन्यदेववस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनां।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ।। (ध्वन्यालोक)

अर्थात् प्रतीयमान वह व्यंग्य रसादि वाच्यार्थ से कुछ विलक्षण ही है, जो रमणियों के प्रसिद्ध मुखनेत्रादि अंगों से भिन्न उनके लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में भासित होता है।

काव्य की दूसरी मुख्य विशेषता यह होती है कि कवि चिर पुरातन वस्तु को भी अपनी 'शक्ति' एवं रस प्रक्रिया के बल पर मनोरम एवं हृदयग्राह्य बना देता है—

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रस परिग्रहात्।
सर्वेनवा दवा भान्ति मधुमास इव द्रुमाः।। ध्वन्यालोक

कवि अपने प्रतिभा प्रकर्ष से 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' की उक्ति चरितार्थ कर देता है। राम का वृत्त अनेक बार सुनने पर भी वाल्मीकीय रामायण और रामचरित मानस में नया-सा लगता है और उनमें हृदय की वृत्तियां रम जाती हैं।

काव्य की तीसरी विशेषता है कि उसके कर्त्ता को कुछ छूटें मिली हैं जिनके अनुसार वह लोक प्रसिद्ध ऐतिहासिक कथावस्तु में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकता है।[१] कहना न होगा कि इस सुविधा का लाभ गोस्वामी जी ने भी उठाया है और प्रसिद्ध इतिवृत्त में बहुत कुछ परिवर्तन उन्होंने तत्कालीन लोक रुचि, परिस्थिति और साहित्यिक रूढ़ियों के अनुसार किया है।

पर पुराणों की स्थिति इससे भिन्न है।[२] धार्मिक विश्वासानुसार पुराणों की संख्या

---

१. यत्तत्रानुचितं किंचिन्नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत।। दशरूपक : पृ० १५९।
अर्थात् नायक की प्रकृति (धीरोदात्तता आदि) तथा नाटक के प्रमुख रस (वीर शृंगार) के प्रतिकूल जो कोई बात उस इतिवृत्त में पाई जाती है, कवि को चाहिए कि उसे इस तरह से परिवर्तित कर दे कि नायक के चरित्र का वह दोष न रहे या रस का वह प्रतिकूल तत्व हट जाय। इस तरह की जो कोई अनुचित बात हो तो उसे छोड़ ही दे या परिवर्तन करके नए रूप में रख दे।
उदात्त राघव में राम के द्वारा 'छल से बालि का बध' छोड़ दिया गया है। महावीर चरित में रावण की मित्रता के कारण बालि राम को मारने आता है और राम उसे मारते हैं। इसी प्रकार अभिज्ञान शाकुंतल में भी दुष्यन्त की धीरोदात्तता पर बट्टा न लगे इस कारण दुर्वासा के शाप की कल्पना की गई है।

२. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंश्यानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्।। —पुराणादिग्दर्शन : पृ० ३००।

निश्चित है। उसके कर्ता भगवान् वेदव्यास हैं जिन्होंने ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा वेदों का उप-बृंहण पुराणों में किया है। उसमें कल्पना या फेर बदल के लिए स्थान नहीं। पुराणों में तीन प्रकार के वचनों एवं तीन प्रकार की भाषाओं का व्यवहार हुआ है[1]। इस प्रकार पुराण आर्ष ग्रन्थ हैं और वे आप्त महर्षियों द्वारा भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सादि दोषों से रहित योग दृष्टि से रचे गए हैं। अतः किसी लौकिक काव्य से उनकी तुलना नहीं हो सकती। एतावता मानस को पुराण नहीं कह सकते। हाँ, गोस्वामी जी ने जैसे अपनी रचनाओं में प्रचलित अथवा परंपरा प्रायः सभी प्रमुख शैलियों का समाहार किया है वैसे ही पुराण शैली[2] का भी। नायक राम का लोक मंगल के लिए था, मानस की रचना भी लोक संग्रह को लेकर हुई और काव्य का लक्ष्य भी लोक मंगल है, अतः लक्ष्य, नेता और पद्धति तीनों का समन्वय हो जाता है।

---

१. संवाद शैली की चर्चा ऊपर हो चुकी है। पुराणों में रोचक, भयानक और यथार्थ वचनों एवं समाधि, लौकिकी और परकीया भाषाओं का भी प्रयोग हुआ है। यह बताना अनावश्यक है कि गोस्वामी जी ने उक्त वचनों और भाषाओं का भी समावेश मानस में किया है।

उदाहरणार्थ—

रोचक वचन—फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन।
रहहिं एक संग गज पंचानन॥

—मानस : उत्तर कां० पृ० ६०९।

भयानक व०—कलप कलप भरि एक एक नरका।
परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका॥

—वही उ० कां०, ६५३।

यथार्थ व०—अनुचित उचित विचार तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन॥

—वही० अयो० कां० ३२६।

समाधि भाषा—बिनुपद चलै सुनै बिनु काना। बिनु कर कर्म करै विधि नाना॥
आनन रहित सकल रसभोगी। बिनु बानी वक्ता बड़ जोगी॥

—वही पृ० १०२।

लौकिकी भा०—विनयपत्रिका के 'मोहदस मौलि०' पद द्वारा मानस वृत्तियों का चित्रण राम रावणादि के रूपक के माध्यम से किया गया है। इस प्रकार मानस भी पद्मावत और 'कामायिनी' की भांति अन्यापदेश काव्य कहा जा सकता है।

परकीया भाषा—अव्यक्त मूल मनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने।

रीति शब्दार्थ

पीछे बता आए हैं कि रीतिवाद के प्रवर्तक आचार्य वामन हुए हैं और उन्होंने काव्यांग विशेष—विशिष्ट पद रचना रीति—के अर्थ में रीति शब्द का व्यवहार किया है। यही नहीं वे रीति को काव्य की आत्मा तक मानते हैं—

'रीतिरात्मा काव्यस्य'

'विशेष' की व्याख्या करते हुए वे आगे बताते हैं—'विशेषोगुणात्मा' अर्थात् माधुर्यादि गुणों का समावेश ही इसकी विशेषता है। इस प्रकार वामन ने रीति और गुण का अभेद सम्बन्ध स्थापित किया और 'काव्यशोभायाः कर्त्तारोधर्मा गुणाः एवं तदतिशय हेतवस्त्वलंकाराः के द्वारा गुणों का अलंकारों से उत्कृष्ट ठहराया। पर परवर्ती आचार्यों ने उत्तरोत्तर इसके महत्व को न्यून ही ठहराया और आत्मा के स्तर से हटाकर इसे काव्य शरीर के अंग के रूप में स्वीकार किया यथा—

'रीतयोऽवयव संस्थान विशेषवत्'

दण्डी के अनन्तर वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तक ने 'रीति' सिद्धान्त का शोधन कर के वामन कृत उसके देशभेद परक् विभाग—पांचाली, वेदर्भी, गौड़ी आदि की जगह उसे काव्यशैली के रूप में स्वीकार किया और इसी प्रकार वैदर्भी का सुकुमार मार्ग, गौड़ी रीति का विचित्र मार्ग तथा पांचाली रीति का मध्यमार्ग नामकरण किया। बाद में ध्वनिवादियों ने रीति को तो कोई महत्व नहीं दिया पर भरत मुनि द्वारा प्रवर्तित

श्लेष प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पद सौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरूदारता च कांतिश्च काव्यार्थ गुणा दशैते॥

दस गुणों को भामह के अनुसार घटाकर तीन कर दिया—माधुर्य, ओज और प्रसाद, जो क्रमशः चित की द्रुति, दीप्ति और व्यापकता पर आश्रित है।

ध्वनिवादियों ने गुणों को रस का नित्य सम्बन्धी और उपकारी माना है। भोज ने मागधी और अवंतिका नामक दो रीतियों की और उद्भावना की। मम्मट ने वामन की रीतियों और उद्भट की वृत्तियों का एकीकरण करते हुए वैदर्भी को उपनागरिका के साथ

फल जुगल विधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे॥—वही ६०२।

कबीर की उल्टवासियां एवं गोस्वामीजी का विनयपत्रिका गत 'केसव कहि न जाइ का कहिए' वाला पद परकीया भाषा के अन्यतम उदाहरण हैं।

परुषा को गौड़ी के साथ एवं पांचाली को कोमला के साथ मिला दिया। आगे चलकर विश्वनाथ ने रीति को विशेष महत्व प्रदान करने का प्रयास किया।

संस्कृत साहित्य की परंपरा में रीति शब्दार्थ

'रीति' शब्द की व्याख्या करते हुए विश्वनाथ लिखते हैं—'पद संघटना रीतिरंग संस्था विशेषवत, उपकर्त्री रसादीनां' अर्थात् 'रीति' अंग रचना की भाँति पद रचना अथवा पद संघटना है जो कि रस भावादि की अभिव्यंजना में सहायक होती है। वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली और लाटी ये चार भेद इन्होंने स्वीकार किए हैं। कुछ विद्वानों ने संस्कृत साहित्य से कतिपय उक्तियाँ उद्धृत करके 'रीति' शब्द को काव्य रचना पद्धति के अर्थ में प्रयुक्त दिखाने का भी प्रयास किया है।[१]

हिन्दी साहित्य की परंपरा में रीति शब्दार्थ

कहते हैं चिंतामणि के समय से ही 'रीति' शब्द का प्रयोग। 'काव्य रचना पद्धति' वा समग्र काव्यांग के वाचक रूप में हो रहा है। आचार्यों ने 'पंथ' को इसी अर्थ में लिया है।[२]

---

१. भोज—वैदर्भादिकृतः पंथाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः
रीङ्० गतावितिधातोः साव्युत्पत्या रीति रुच्यते।।
सरस्वती कंठाभरण २।२७।
कुन्तक—तत्र तस्मिन् काव्ये मार्गाः पन्थात्रयस्य च संभवन्ति—
वक्रोक्ति जीवित १।२४।
—हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, पृष्ठ भाग से पृ० १८१।

२. सो विश्रव्य नवोढ़ यो वरनत कवि रस रीति—मतिराम
सुकविन हूं की कछु कृपा, समुझि कविन को पंथ—भूषण
रीति सुभाषा कवित की वरनत बुध अनुसार—चिंतामणि
अपनी अपनी रीति के काव्य और कवि रीति—देव
बरनन मन रंजन जहां रीति अलौकिक होइ।
निपुन कर्म कवि को जु तिहि काव्य कहत सब कोइ।। सुरति मिश्र
द्वन्द रीति समुझै नहीं बिन पिंगल के ज्ञान—सोमनाथ
क. काव्य की रीति सिखी सुकवनि सों।
ख. अस कछु मुक्तक रीति लखि, कहत एक उल्लास
ग. बंदौ सुकविन के चरण अस सुकविन के ग्रन्थ।
जाते कछु हौं हूं लह्यौ, कविताई को पंथ—भिखारीदास
कोरे क्रम क्रम से कही अलंकार की रीति—दूलह

इसी प्रकार यदि कहना चाहें तो कह सकते हैं कि गोस्वामी जी ने भी 'रीति' के अर्थ में 'विवेक' वा विधान शब्द का व्यवहार किया है। उदाहरणार्थ

क—कवित विवेक एक नहिं मोरे।

ख—छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि रीति शब्द कहीं अकेले न आकर किसी न किसी विशेषण के साथ ही आया है। हाँ, मिश्र बन्धुओं ने अलबत्ता हिन्दी के शृंगार कालीन कवियों के ग्रन्थों को 'रीति ग्रन्थ' एवं उनके विवेचन को रीति कथन कहा है और आचार्य शुक्ल के हिन्दी साहित्य का इतिहास ग्रन्थ में सर्वप्रथम इस काल को 'रीतिकाल' कहा गया है एवं 'रीति' का व्यापक अर्थ में—रस, अलंकार, पिंगल आदि के अर्थ में अर्थात् समूचे काव्यांग के अर्थ में प्रयोग हुआ है। तभी से यह शब्द हिन्दी काव्य परंपरा का मान्य अर्थ समझा जाने लगा है।

सिद्धान्त भूत अर्थ

कहना न होगा कि रीति की व्याप्ति तुलसी के 'वर्णानामर्थ संघानाम् रसानाम् छन्द-सामपि' तक फैली हुई है और रीति तत्व न केवल अलंकारों अथवा संस्कृत के पद संघटना के संकुचित अर्थ का वाचक है अपितु सम्पूर्ण काव्य तत्व का वाचक है। इसीलिए मैंने मानस में 'काव्यतत्व' की जगह 'रीतितत्व' रखना उपयुक्त समझा है।

साहित्यिक परंपरा में रीति

पुराना विश्वास है कि समस्त ज्ञान विज्ञान और निखिल विधायें बीज रूप से वेद में सन्निहित हैं। काव्यतत्व भी, जिसका निर्देश तुलसीदास ने 'वर्णानाम् अर्थसंधानाम् रसानाम् छन्दसामपि' कहकर किया है, वेद में निहित है। यद्यपि वेदों से काव्य का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है फिर भी वेद को 'देव का अमर काव्य' कहा गया है—

'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'

और वेद के रचयिता ईश्वर का अनेक स्थानों पर कवि नाम से उल्लेख मिलता है। 'आखर अरथ अलंकृतिनाना' और 'धुनि अवरेव कवित गुन जाती' के उदाहरणों को प्रभूत परिमाण में वेदों में देखा जा सकता है।

ताही को रति कहत हैं रस ग्रन्थन को रीति—पद्माकर

या रस असनव तरंग में नव रस रीतहिं देखि—

अति प्रसन्न ह्वै ललनजी कीन्ही प्रीति विसेषि॥ बेनी प्रवीन

कवित रीति कछु कहत हौं व्यंग्य अर्थ चित लाय। प्रताप साहि०

दे० हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ० १७९।

उतत्वः पश्यन् न ददर्शवाचं उतत्वः श्रृण्वन् न श्रृणोत्येनाम्।
उतोत्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उषती सुवासा॥१॥[1]

इस अवतरण में विरोधाभास' उपमा और प्रसादगुण के सुन्दरतम उदाहरण प्रस्तुत हैं। इसी प्रकार 'उषा हसन्नैव निर्णीत अप्सः[2] में कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयो रन्यः पिप्पलं स्वाद्नत्ति अनश्ननत्यो अभिचाकषीति॥[3]

इसमें रूपक, उपमा, विभावना एवं विशेषोक्ति के मनोरम निदर्शन मिलेंगे। यही नहीं विद्वानों ने पदद्योत्य ध्वनि और अनुप्रास को भी इसमें खोज निकाला है।

इसी प्रकार व्याकरण, दर्शन आदि शास्त्रों में भी विद्वानों ने रीति-तत्व की अवस्थिति दिखाई है। पर काव्यशास्त्र का स्वतंत्र प्रवर्तन कब से हुआ इसका पता अभी तक नहीं चल पाया है। शास्त्र विचारित सुस्थ के भीतर आते हैं। पर इनमें भी काव्यशास्त्र पर कोई स्वतंत्र पुस्तक नहीं मिलती। 'विचारित सुस्थ' से अविचारित रमणीय का पार्थक्य आदि काव्य वाल्मीकीय रामायण के साथ होता है। यह पहला काव्य ग्रन्थ है जिसमें समूचा काव्यांग-रस, ध्वनि, अलंकार, गुण, रीति प्रभृति-पूरी सहृदयता, रमणीयता एवं अलौकिक उन्मेष के साथ स्फुरित हुआ है। यह महाकाव्य करुण रस प्रधान माना जाता है। इन महर्षि के बाद भगवान वेदव्यास आते हैं जिनकी प्रशस्ति तुलसीदास 'व्यास आदि कवि पुंगव नाना' के रूप में करते हैं। इनके रचे १८ पुराण और महाभारत में, काव्यतत्व का उत्कर्ष अपनी चरम सीमा को पहुँचा दिखाई पड़ता है। महाभारत को शान्तरस प्रधान महाकाव्य कहते हैं। उसके रचयिता का दावा है कि जो महाभारत में है वही सब जगह है जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं है। इससे यह प्रकट है कि काव्य का भी कोई पक्ष इससे छूटा नहीं है। इसमें बिखरे हुए सैकड़ों दृष्टिकूटक पद इस दावे की साखी भरते हैं। इन्हीं महर्षि वेदव्यास के रचे हुए अट्ठारह पुराणों

---

१. कुछ लोग ऐसे हैं जो देखते हुए भी वाणी के स्वरूप नहीं देख पाते और सुनकर भी उसको सुन नहीं पाते हैं। तीसरे वे लोग हैं जिनके सामने वाणी अपना सारा सौन्दर्य खोलकर इस प्रकार रख देती है जिस प्रकार सुन्दरतम वेश भूषा में अलंकृत होकर पत्नी अपने पति के सामने अपने सौन्दर्य को पूर्ण रूप से प्रदर्शित करती है।' दे० काव्यप्रकाश की भूमिका। टीकाकार आचार्य विश्वेश्वर। पृ० ७।

२. उषा हँसती हुई सी अपने सौन्दर्य को प्रकाशित करती है।

३. प्रकृति ही एक विशाल पिप्पल वृक्ष है। इसमें ईश्वर और जीव रूप दो सुन्दर पंखों वाले और साथ रहने वाले पक्षी हैं। इनमें एक अर्थात् 'जीव' उस वृक्ष के फलों को खाता है अर्थात् कर्मानुसार दुःख सुख रूप फल भोगता है और दूसरा ईश्वर रूप पक्षी फलों का भोग न करता हुआ अपने सौन्दर्य को प्रकाशित करता है।

में एक अग्निपुराण भी है जिसमें रीति विषय का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भ विमर्श मिलता है। इसमें अलंकारों के तीन भेद मिलते हैं—(१) शब्दालंकार, (२) अर्थालंकार और (३) उभयालंकार। अर्थालंकार को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है—

अर्थालंकार रहिता विधवेव सरस्वती"[१]

साहित्यशास्त्र की सर्जना के सम्बन्ध में 'काव्यमीमांसा'[२] में एक अत्यन्त रोचक आस्थान मिलता है जिसमें बताया गया है कि भगवान् शिव ने 'सर्वप्रथम काव्य-विद्या का उपदेश अपने परमेष्ठी वैकुण्ठादि चौंसठ शिष्यों को किस प्रकार किया और फिर उसका प्रचार लोक में कैसे हुआ। काव्य पुरुष की उत्पत्ति का भी रोचक वृत्तान्त उक्त ग्रन्थ में द्रष्टव्य है।[३]

काव्यशास्त्र का व्यवस्थित रूप से सूत्रपात होता है भरतमुनि के समय से। भरतमुनि का काल विक्रम की दो शताब्दी पूर्व से दो शताब्दी बाद तक माना जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य शास्त्र के सर्जन एवं प्रणयन की जो शृंखला भरत से आरम्भ हुई वह १८वीं शताब्दी में आकर जगन्नाथ पंडितराज एवं विश्वेश्वर पंडित के समय तक चली चलती है। इतिहास के पंडितों ने इस लम्बी चौड़ी कालावधि को चार भागों में बांटा है।[४] उक्त विभाग तो स्थूल विभाग है। इसके अतिरिक्त साहित्यशास्त्र के इतिहास में सयय-समय पर होने वाली मौलिक उद्‌भावनाओं के कारण जो स्वतंत्र सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुए उनके आधार पर सूक्ष्म विभाग भी किए गए हैं। ये सिद्धान्त अथवा वाद सम्प्रदाय के रूप में प्रसिद्ध हुए। उनका संक्षिप्त परिचय करा देना समीचीन होगा।

(१) रस सम्प्रदाय

काव्यमीमांसा के अनुसार यद्यपि रससिद्धान्त के आदि प्रवर्तक नन्दिकेश्वर होते हैं पर उनका कोई ग्रंथ इस विषय पर उपलब्ध न होने की दशा में भरतमुनि को ही इस सिद्धान्त का प्रवर्तक मानना पड़ता है। रस और भावों का बड़ा ही गम्भीर और सूक्ष्म विवेचन उन्होंने किया है। इनके प्रसिद्ध सूत्र

'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः'

पर भट्टनायक, भट्टलोल्लट, शंकुक, अभिनव गुप्त आदि ने क्रमशः उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद मुक्तिवाद और अभिव्यक्तिवाद इन चार सिद्धान्तों का विवेचन एवं विकास किया। उक्त सम्प्रदाय वाले रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं।

---

१. अग्निपुराण।

२, दे० काव्य मीमांसा : प्रथम अध्याय शास्त्र संग्रह।

३. दे० काव्य मीमांसा : तृतीय अध्याय।

४. प्रारंभिक काल, रचनाकाल, निर्णयात्मक काल और व्याख्याकाल—दे० आचार्य विश्वेश्वर कृत काव्यप्रकाश टीका की भूमिका पृ० १४।

(२) अलंकार सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं आचार्य भामह और अनुयायी हैं उद्‌भट, दंडी, रुद्रट, प्रतिहारेन्दुराज, जयदेव आदि। प्रस्तुत सम्प्रदाय के अनुवर्ती भी यद्यपि रस की सत्ता स्वीकार करते हैं पर उसे जीवनाधायक तत्व नहीं मानते ये लोग अलंकार को काव्य की आत्मा मानते हैं। इनके अनुसार जैसे बिना उष्णता के आग की कल्पनान हीं की जा सकती है वैसे ही अलंकारविहीन शब्दार्थ भी नहीं कहा जा सकता। रसवद् अलंकारों के भीतर ये रसों को अन्तर्मुक्त करते हैं।[1] रसवत् प्रेय, उर्जस्वित और समाहित ये चार प्रकार रसवदलंकार के होते हैं।

(३) रीति सम्प्रदाय

रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा घोषित किया है। रीति और गुण में अभिन्नता स्थापित करते हुए इन्होंने प्रतिपादित किया कि गुण काव्य की शोभा के उत्पादक हैं जबकि काव्य उस शोभा के अभिवर्द्धक मात्र।

उपनागरिकादि वृत्तियों, माधुर्यादि गुणों का रीति से मौलिक सम्बन्ध है। उपनागरिकादि वृत्तियां मुख्य तथा अक्षरों की संघटना से सम्बन्ध रखती हैं जबकि रीति समास संघटना से। रूपक की कौशिकी आदि चारों वृत्तियां विलासाश्रित हैं और रीति वाणी के आश्रित। सबको वृत्ति कहने से साहित्य के साधारण अध्येताओं को कभी-कभी भ्रम हो जाता है।

(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय

वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य हैं वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तक। यद्यपि भामह दण्डी और वामन ने भी वक्रोक्ति के महत्व को स्वीकार किया है पर काव्य के जीवनाधायक तत्व के रूप में वे इसे नहीं मानते। कुन्तक ने न केवल वक्रोक्तिवाद प्रवर्तन किया अपितु इन्होंने वामन के 'रीति-सिद्धान्त' में भी फेरबदल किया।

(५) ध्वनि सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के आविष्कर्ता हैं आनन्दवर्द्धन जिन्होंने 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ लिखकर बड़ी ही प्रौढ़ और पांडित्यपूर्ण शैली में 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' सिद्ध कर दिया है। दूसरे विद्वान् मम्मट ने विरोधियों का मुँहतोड़ उत्तर देकर उसकी महत्ता हृदयंगम करा दी है।

यहाँ एक बात याद रखने की है कि जैसे हिन्दी साहित्य में रीति शब्द पूरे काव्यांग

---

१. 'रसवद् दर्शितस्पष्ट शृंगारादि रसं यथा'—भामह, काव्यालंकार ३-६।
मधुरे रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसास्थितिः—दंडी, काव्यादर्श ३-५१।

का वाचक हो गया है वैसे ही संस्कृत में अलंकार शब्द भी पूरे काव्यांग के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य के पिछले २००० वर्षों की गतिविधि का आलोड़न करने पर पता चलता है कि किस प्रकार काव्यशास्त्र के विभिन्न पक्षों का विकास समय-समय पर हुआ और आचार्यों ने अपनी मौलिक एवं प्रौढ़ विवेचन शैली द्वारा महत्वपूर्ण उद्‌भावनाओं को पुष्ट एवं अंगीकार और 'भरती' की बातों का बहिष्कार किया।

इस सम्बन्ध में अलंकारों के क्रम विकास का इतिहास द्रष्टव्य है।

ऊपर यह निवेदन किया जा चुका है कि भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में चार अलंकारों का उल्लेख मिलता है। अग्निपुराण में उसकी संख्या चार से बढ़ कर १५ हो गई है। भट्टि और भामह ने संख्या ३८ तक पहुँचायी और दंडी, उद्‌भट तथा वामन ने १४ अलंकारों की और वृद्धि करके उसकी संख्या ५२ कर दी। फिर रुद्रट, भोज, मम्मट का काल आता है। इन आचार्यों ने न केवल ५२ से बढ़ाकर अलंकारों की संख्या १०३ तक पहुँचायी वरन् उत्तरोत्तर अधिक गंभीर एवं सूक्ष्म विवेचन शैली को भी जन्म दिया। ईसा की १३वीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी तक अलंकारों के क्रम विकास का अंतिम काल माना जाता है। इस काल में जयदेव ने १६, विश्वनाथ ने ४, अप्पय दीक्षित ने १७, नूतन अलंकारों की श्रीवृद्धि की। अप्पय दीक्षित ने अपने कुवलयानन्द में १३३ अलंकारों का उल्लेख किया है। पंडितराज तक अलंकारों की संख्या १८० तक पहुँच चुकी थी। पहले ये ही अंतिम आचार्य माने जाते थे पर अब खोज से इनके एक परवर्ती आचार्य का भी पता चला है, जिन्होंने अलंकारों पर एक बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखा है। इनका नाम विश्वेश्वर पंडित था।

यह तो हुआ संस्कृत साहित्य में 'रीतितत्व' पर हुए कार्यों का लेखा-जोखा। अब हिन्दी साहित्य के इतिहास की भी छानबीन कर ली जाय।

हिन्दी में रीति तत्व का विकास

वैसे तो हिन्दी में सं० १५९८ वि० में कृपाराम ने थोड़ा रस-निरूपण करके रीति ग्रन्थ रचना का श्रीगणेश कर दिया था और उसी समय के आसपास चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने शृङ्गार सागर और करनेस कवि ने कर्णाभरण, श्रुति भूषण और भूप भूषण लिख कर उनके कार्य को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया पर यह छिटफुट एवं एकांगी प्रयास था। सच तो यह है कि काव्य के सब अंगों का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर केशवदास ने किया। इनकी 'कविप्रिया' में काव्य-रीति का सम्यक् समावेश मिलता है। पर इन्होंने अपनी 'कविप्रिया' के लिए सामग्री का चयन संस्कृत साहित्य मीमांसा के पूर्वकाल भामह और उद्‌भट के काल से किया जबकि अलंकार और अलंकार्य भेद ही स्पष्ट नहीं हुआ था। रस, रीति, अलंकार सब के लिए 'अलंकार' शब्द का ही व्यवहार होता था। संस्कृत के काव्य-निरूपण का वह उत्तर काल

जिसको आनन्दवर्द्धन, मम्मट और विश्वनाथ ने विकसित किया था, इनकी दृष्टि से मानो ओझल रहा।

केशव की 'कविप्रिया' के ५० वर्ष बाद हम रीति ग्रन्थों की अविरल परंपरा प्रवाहित होते देखते हैं। इस काल के रीति ग्रन्थकार आचार्यों ने संस्कृत के उत्तरवर्ती आचार्यों को अपना आदर्श बनाया और तदनुसार 'कुवलयानन्द' और 'चन्द्रालोक' से प्रेराणयें लीं। इन्होंने काव्य प्रकाश और 'साहित्य दर्पण' को अपना आधार ग्रन्थ बनाया।

आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि 'इस प्रकार दैवयोग से संस्कृत साहित्यशास्त्र के इतिहास की एक संक्षिप्त उद्धरणी हिन्दी में हो गई।'[1]

हिन्दी रीति ग्रन्थों के द्वारा साहित्य शास्त्र की जानकारी पूरी क्या अधूरी भी नहीं हो सकती। कारण हिन्दी रीति ग्रन्थकारों में आचार्यत्व के गुण नहीं थे। 'आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है (उक्त आचार्यों में) उसका विकास नहीं हुआ। काव्यांगों का विस्तृत विवेचन तर्क द्वारा खण्डन-मण्डन, नए नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि कुछ भी नहीं हुआ।'[2]

इन सबके अतिरिक्त उस समय गद्य का विकास भी नहीं हुआ था। पद्य में गम्भीर शास्त्रीय विवेचन संभव नहीं। अतः इन आचार्यों को चन्द्रालोक की शैली में लक्षण और उदाहरण का कथन सुगम प्रतीत हुआ। हिन्दी में सबसे बड़ी विचित्रता यह थी कि उसमें कवि और आचार्य संस्कृत की तरह दो श्रेणी के व्यक्ति नहीं थे वरन् एक ही व्यक्ति कवि और आचार्य दोनों के दायित्व संभालता था। अतः इनसे मौलिक विवेचन और नूतन उद्भावना की आशा ही कैसे की जा सकती थी। अवश्य ही इनके लक्षण लद्धड़ होने पर भी उदाहरण बड़े सरस होते थे। आचार्य शुक्ल के शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि इन रीति ग्रन्थों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उद्देश्य कविता करना था न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः इनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों विशेषतः शृंगार रस और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदय-ग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी।

यद्यपि आचार्य शुक्ल ने प्रस्तुत काल का नाम 'रीतिकाल' रखा है पर उनके एक सूत्र[3] के आधार पर आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस काल का नामकरण 'शृङ्गारकाल' किया

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास। सं० १९९६ वि०। पृ० २८१।

२. वही पृ० २८१।

३. वास्तव में शृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृंगार काल कहे तो कह सकता है। हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २९१।

है। यही नहीं, शुक्ल जी के एक और सूत्र[१] को पकड़ कर आपने रीति काल के भी तीन भेद—रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त-कर डाले हैं।[१]

हिन्दी के रीति ग्रन्थकारों की उपलब्धियां

हिन्दी के रीतकालिक आचार्यों ने रीतिशास्त्र के क्षेत्र में क्या कोई स्वतंत्र उद्भावना भी की है, इस प्रश्न का उत्तर मैं समझता हूँ नकारात्मक ही होगा। फिर भी दो एक आचार्यों ने कुछ नई चीजें दी हैं और अपनी मौलिकता की छाप छोड़ गए हैं। संक्षेप में प्रमुख आचार्यों के कृतित्व और उनकी महत्वपूर्ण उपलब्धियो दोनों का मूल्यांकन कर लेना उचित है।

आचार्य केशव ने मुख्य रूप से नायिका भेद और हास्य रस के विवेचन के सन्दर्भ में अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है। नायिकाभेद का निरूपण इन्होंने कामशास्त्र के सहारे किया है अतः उसमें कुछ नवीनता गोचर होती है और हास्यरस के चार भेद किए हैं—मंदहास, कलहास, अतिहास, परिहास। परिहास को हास्य के भीतर रखे जाने में हिन्दी के एक मान्य आचार्य कौ विप्रतिपत्ति है।[२] हिन्दी रीति क्षेत्र में अलंकारवाद के प्रवर्तक भी ये कहे जा सकते हैं।[३]

कारण ये काव्य में अलंकार को प्राधान्य देने वाले आचार्य थे और रस, रीति, सबको अलंकारों में ही ही अन्तर्भुक्त मानते थे।[४]

दूसरे आचार्य देव हैं जिन्हें साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में कई नूतन उद्भावनाओं का श्रेय, कुछ विद्वानों ने दे डाला है। कुछ समय पूर्व तक 'तात्पर्यवृत्ति' और 'छल संचारी' इनके मौलिक आविष्कार माने जाने लगे थे। पर आचार्य शुक्ल ने भली प्रकार इस भ्रम का निराकरण कर दिया है। देव ने भी भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' से प्रभाव ग्रहण किया है। पर इसका मतलब यह नहीं है कि इनमें मौलिकता का सर्वथा अभाव है। विश्वनाथ प्रसाद जी तो

---

१. रीतिबद्ध ग्रन्थों की बहुत गहरी छानबीन और सूक्ष्म पर्यालोचन करने पर आगे चलकर शायद विभाग का कोई आधार मिल जाय पर अभी तक मुझे नहीं मिला है।
—हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रस्तावना पृ० ७।

२. हिन्दी साहित्य का अतीत—दूसरा भाग पृ० ३९४।

३. संस्कृत साहित्य में जैसे, अलंकारवाद, रीतिवाद, रसवाद, ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद इत्यादि अनेक वाद पाए जाते हैं, वैसे वादों के लिए हिन्दी के रीति क्षेत्र में रास्ता ही नहीं निकला। केशव को ही अलंकार आवश्यक मानने के कारण अलंकारवादी कह सकते हैं। केशव के उपरांत रीतिकाल में होने वाले कवियों ने किसी वाद का निर्देश नहीं किया।
—हिन्दीसाहित्य का इतिहास (सं० १९९६ वि० पृ० २८५।)

४. दे० हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं० १९९६ वि०, पृ० २८५)

इनमें मौलिकता और स्वच्छन्दता दोनों का योग मानते हैं। हिन्दी के आलोचकों ने जो इन्हें कई शास्त्रीय विषयों का आविष्कर्त्ता घोषित किया है उसका कारण यह है कि उनके सामने देव का 'भाव विलास' पढ़ते समय भानुदत्त की रसतरंगिणी नहीं रही। हिन्दी के रीति ग्रन्थों में निरूपित नायिका भेद, भानुदत्त की रस तरंगिणी के आधार पर हुआ है। इन आधार ग्रन्थों के बिना पढ़े भ्रम होना स्वाभाविक ही है।

इनके निम्नीय दोहे को लेकर साहित्य के आचार्यों तक को भ्रम हो गया था[1] पर पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने उसका बड़ा समीचीन विवेचन प्रस्तुत कर दिया है, जिससे अब भ्रम के लिए स्थान नहीं रहा।[2] वह दोहा है—

[3]अभिधा उत्तम काव्य है मध्य लच्छना लीन।
अधम व्यंजना रसविरस उलटी कहत नवीन॥

मिश्र बन्धुओं ने इसे नूतन शास्त्रीय उद्भावना समझा और आचार्य शुक्ल ने व्यंजना से पहेली बुझौवल 'वाली वस्तु व्यंजना' अर्थ लिया। पर विश्वनाथ जी ने प्रस्तुत ग्रन्थ के अनेक अन्तर्साक्ष्यों एवं उद्धरणों से यह सिद्ध कर दिया कि 'प्राचीन लोगों ने उत्तम काव्य व्यंजना, मध्यम काव्य लक्षणा और अधम काव्य अभिधा को मान रखा है—शब्द शक्ति के प्रसङ्ग में।

यहाँ नवीन उलटी कह रहे हैं—नायिका भेद के प्रसङ्ग में देव जी का 'विशेष प्रकार' से नायिकादि का काव्यमर्यादा के विचार से सूक्ष्म निरूपण है।[4] पहले देवजी की निम्नलिखित तीन उद्भावनाएं रीति के क्षेत्र में अंगीकार की जाती रही हैं—

(१) संचारी भावों के भीतर स्तंभादि सात्विक भावों को भी परिगणित कर संचारी के दो भेद किए—

थिति विभाव अनुभाव ते न्यारे अति अभिराम।
सकल रसन में संचरै संचारी कउ नाम।
ते सारी रहु आंतरहु द्विविध कहत भरतादि।
स्तंभादिक सारीर अस आंतरनिरबेदादि।

(२) 'छल' को चौबीसवें संचारी के रूप में कल्पित किया—

भरतादिक सत्कवि कहैं विभिचारी तैंतीस।
बरनत छल चौंतीसयो एक कविन के ईस॥

---

१. दे० ,, ,, ,, ,, पृ० २८५
२. हिन्दी साहित्य का अतीत (दूसरा भाग, पृ० ४९७ से ५००)
३. हिन्दी साहित्य का अतीत (दूसरा भागअ पृ० ४९७।
४. हिन्दी साहित्य का अतीत (दूसरा भाग, पृ० ५००)

(३) तीसरी नई बात जो भाव विलास में दिखाई पड़ी वह रस के दो भेदों की है, जिनमें से एक के तीन प्रभेद भी बताए गए हैं।

रीति के क्षेत्र में अपनी महत्वपूर्ण उद्भावनाओं के लिए तीसरे प्रसिद्ध आचार्य हैं भिखारीदास। रीतिकालीन आचार्यों में संभवतः ये महानुभाव सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। कारण, काव्य के प्रायः सम्पूर्ण अंगों—छन्द, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष, शब्द शक्ति आदि—को इन्होंने अपना प्रतिपाद्य बनाया है। इनमें निरूपण और समीक्षण दोनों शक्तियों का तुल्य योग हम पाते हैं। श्रीपति के 'काव्यसरोज' से बहुत सी सामग्री उठा कर चुपचाप इन्होंने अपने काव्य निर्णय में रख दिया है, कुछ विद्वानों की इस प्रकार की धारणा[१] का समाधान एक विद्वान कर चुके हैं।[२] इस भ्रम का कारण है 'काव्य सरोज' और 'काव्य निर्णय' दोनों ग्रन्थों का एक ही उपजीव्य-काव्य प्रकाश-होना।

यहाँ यह समझ रखना चाहिए कि जहाँ तक काव्यांगों के विषय-विस्तार की बात है, हिन्दी रीति ग्रन्थकारों में, ये सबसे बढ़े-चढ़े हैं। क्योंकि किसी ने अपना मुख्य विवेच्य अलंकारों को बनाया, किसी ने नायिका भेद निरूपित करने में ही अपनी सारी प्रतिभा लगा दी। पर इन्होंने काव्य के प्रायः सभी उपकरणों को स्पर्श किया है। इस दृष्टि से तो हिन्दी के आचार्यों में इनका स्थान अन्यतम है। पर विषय प्रतिपादन में इन्हें भी सफलता नहीं मिल पायी है। इनकी स्वतंत्र उद्भावनाओं की चर्चा अप्रासंगिक न होगी।

(१) इनमें देव की अपेक्षा कहीं अधिक रस विवेक था। यही कारण है कि इन्होंने अपने ग्रन्थ में निम्न जाति की स्त्रियों को काव्य का आलंबन न बना कर, दूती के रूप में रखा है, औचित्य के लिहाज से।

(२) भाषा के बारे में इन्होंने आचार्य की हैसियत से व्यवस्था दी।

भाषा वृज भाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोइ।
मिलै संस्कृत पारस्यौ पै अति प्रगट जु होइ॥
वृज मागधी मिलै अमर नाग जमन भाषानि।
सहज पारसी हूं मिलै षट विधि कवित बखानि॥ 'काव्य निर्णय'

साथ ही अपने मत की पुष्टि में तुलसी को उद्धृत करके बताया कि उक्त प्रकार की मिश्रित भाषा का प्रयोग उन्होंने भी किया है—

तुलसी गंग दोऊ भए सुकविन के सरदार।
इनकी काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार॥ 'काव्य निर्णय'

---

१. दे० हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ३३४ रामचन्द्र शुक्ल, सं० १९९६ वि०।
२. दे० हिन्दी साहित्य का अतीत (दूसरा भाग) पृ० ५०१—विश्वनाथ प्रणयित।

(३) अलंकारों के वर्गीकरण का भी प्रयास लक्षित होता है और कहीं-कहीं उद्भावना का आग्रह भी अभिव्यंजित होता है। 'नवीनता' का यह आग्रह नायिका भेद तक पीछे लगा है—

गुप्त विदग्धा लक्षिता मुदिता तिय को भाइ।
किए बनै सुकिपाहु में त्रया हास्य रस पाइ॥
त्योंही परकीया हु में है मुग्धादिक कर्म।
जैसे अस्त्र कोऊ गहै क्षत्रि जाति को धर्म॥

(४) करुण रस के भीतर ही उसके अवांतर भेद के रूप में 'प्रेम रस' का आविष्कार किया।

(५) इनके प्रसिद्ध पिंगल ग्रन्थ 'छन्दार्णव' में 'दोहा', 'दोही', 'दोहरा' इस प्रकार दाहे के तीन भेद किए गए हैं। जायसी के 'पद्मावत' में प्रायः दोहरे का ही प्रयोग मिलता है और तुलसी के 'मानस' में भी कहीं-कहीं इसका प्रयोग हुआ है।

(६) इनका सबसे नया और मौलिक प्रयत्न तुक निर्णय है। तुक इन्होंने तीन प्रकार के माने हैं—(१) उत्तम, (२) मध्यम, (३) अधम। इनमें भी प्रत्येक के तीन तीन भेद किए गए हैं। 'रदीफ' का भी विचार मिलता है।

पद्माकर जी की भी दो महत्वपूर्ण देन हैं—

(१) नायिका भेद के क्षेत्र में संस्कृत वालों के अनुकरण पर अष्टनायिका भेद को स्वीकार न करके हिन्दी वालों की पद्धति पर 'दस नायिका भेद' को इन्होंने मान्यता प्रदान की। यह इनकी स्वतंत्र चेतना का परिचायक है। क्योंकि हिन्दी के कई महारथियों तक ने ८ भेद ही स्वीकार किए हैं।[1]

(२) हिन्दी वालों से दूसरा महत्वपूर्ण पार्थक्य जो इनमें दिखाई पड़ा वह यह कि भाव और रसावस्था को प्राप्त स्थायी भावों में इन्होंने अंतर माना है।

अंत में बिना ग्वाल जी की चर्चा किए यह प्रकरण अधूरा ही रहेगा। इनमें कुछ स्वतंत्र उद्भावना करने का हौसला लक्षित होता है, जैसे अलंकार को इन्होंने शब्द से भिन्न माना और केशवदास के अनुसार भाव के चार भेद कर डाले—

(१) विभाव, (२) स्थायीभाव, (३) अनुभाव और (४) संचारीभाव।

नायिका भेद प्रकरण में काव्यशास्त्र के ढर्रे पर जातिगत भेदोपभेद किए गए हैं।

'दूषण दर्पण' में काव्य दोहों का उल्लेख है और उदाहरण रूप बिहारी की रचनाएँ पेश की गई हैं। नाक, पेट, गाल जैसे शब्दों को इन्होंने ग्रामीण माना है।

---

१. रामनगर की प्रसिद्ध रामलीला में भी, जिसके संवादादि की रचना रीवां नरेश महा० रघुराज सिंह, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रघुनाथ बन्दी जन आदि ने मिल कर की थी, अष्ट सखी संवाद। (फुलवारी में) की योजना की गई है।

रसिकानन्द में नायिका भेद सहित रसतत्व पर विचार किया गया है। इन्होंने भी दस नायिकाएँ मानी हैं। यद्यपि संस्कृत काव्यशास्त्रों का इन्होंने पर्याप्त मंथन किया था और उसके अनुसार विवेचन में बारीकी भी दिखाई देती है पर हिन्दी के रीति ग्रन्थों को भी इन्होंने बराबर सामने रखा है। केशव की 'रसिकप्रिया' आदि से भी प्रभाव ग्रहण किया है तथा कहीं कहीं स्वतंत्र मीमांसा का भी यत्न किया है।

जगन्नाथ पंडितराज की भांति खण्डनमंडन की भी प्रवृत्ति इनमें दिखाई पड़ती है। कुलपति की मान्यताओं का इन्होंने खन्डन किया है।

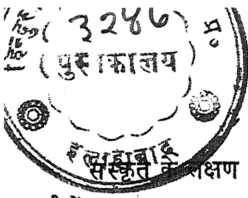
भक्ति को इन्होंने शान्त रस के अन्तर्गत लिया है। कुछ विद्वानों के मतानुसार हिन्दी रीति ग्रन्थकारों में संस्कृत के आधार ग्रन्थों का इन्होंने सबसे अधिक अनुशीलन किया था।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य और हिन्दी साहित्य के दीर्घकालिक इतिहास का आलोड़न करके हमने देख लिया कि यद्यपि काव्यतत्व बीज रूप में वेदादि ग्रन्थों में भी अभिव्यंजित है पर उनके लक्षणादि की व्यवस्थित एवं प्रौढ़ शास्त्रीय विवेचना बहुत पीछे हुई। पहले मोटे तौर पर कतिपय अलंकारों की धारणा मात्र रही जिसका बाद में विकास हुआ। भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' रस मत पर सर्वप्रथम प्रौढ़ विवेचन प्रस्तुत करता है और अलंकारों पर सर्वप्रथम वेद व्यास अपने अग्निपुराण में चर्चा करते हैं। उत्तरवर्ती आचार्यों के लक्षण ग्रन्थ इन्हीं के ऋणी एवं उपजीवी हैं।

परवर्ती आचार्यों ने वृत्ति, वार्तिक, भाष्यादि लिखकर पूर्ववर्ती स्थापनाओं का मौलिक और प्रौढ़ ढंग से विवेचन, संवर्द्धन एवं विकास किया। अलंकारों का भी क्रमिक विकास हुआ। रीति, गुण, नायिका भेद, काव्य भेद आदि विषयों पर गवेषणात्मक ग्रन्थ लिखे गए। पंडितराज जगन्नाथ और विश्वेश्वरपंडित तक यह क्रम अजस्र रूपेण चला। विश्वेश्वर पंडित संस्कृत के अन्तिम आचार्य थे। फिर हिन्दी के आचार्यों में भी विवेचनादि का क्रम जारी रहा पर इनमें वह प्रौढ़ विवेचन शक्ति, मौलिकता एवं उद्भावनाएं नहीं दिखाई पड़तीं। हां, नायिका भेदादि के बड़े ही सरस और मनोरम उदाहरण ये प्रस्तुत कर सके। अतः कहना पड़ता है कि हिन्दी के रीति ग्रन्थ पूर्णतया संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों के उपजीवी हैं।

मानस में रीति तत्व निरूपण का आधार

हमने यहां हिन्दी के उन रीति ग्रन्थकारों की भी चर्चा की है जो तुलसीदास के परवर्ती थे। यहां उनकी चर्चा करके एक बात स्पष्ट हो जाती है कि उस काल के आचार्यों में मौलिक प्रतिभा का अभाव था। इसलिए यहां उनके 'काव्यरीति' के अर्थ में प्रयुक्त 'रीति' शब्द को तो ले लिया गया है पर काव्यतत्व की व्यापक दृष्टि संस्कृत आचार्यों से ग्रहण की गई है। मेरा विचार है कि हिन्दी रीति ग्रन्थकार आचार्यों के निकष पर तुलसी की सांगोपांग परख हो नहीं सकती—



संस्कृत के लक्षण ग्रन्थ ही 'मानस' के मोतियों की परख जौहरी की तरह करने में समर्थ हैं—

'सो प्रगटत जिमि मोल रतन तें'

भाषा के रीति ग्रन्थों की सर्वथा उपेक्षा भी नहीं हुई है। कारण 'मानस' भाषा में ही तो उपनिबद्ध है—

'भाषाबद्ध करब मैं सोई'

○

द्वितीय अध्याय

काव्यं का स्वरूप

साहित्य शास्त्र के आचार्य काव्य के स्वरूप निर्णय में मतैक्य नहीं रखते।[1] फिर भी मुख्य मुख्य मतों पर विचार कर लेना उचित होगा।

---

१. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं पद्यं गद्यं च तद्द्विधा। भामह १, १६।
काव्य शब्दऽयं गुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। वामन १, १
शब्दार्थौ काव्यम्। रुद्रट काव्यालंकार २, १।
अदोषो सगुणो सालंकारो च शब्दार्थौ काव्यम्। (हेमचन्द्रः काव्यानुशासन)
शब्दार्थो निर्दोषो सगुणौ प्रायः सालंकारौ च काव्यम् (वाग्भट)
गुणालंकार सहितौ शब्दार्थो दोष वर्जितो। (प्रताप रुद्रे विद्यानाथ)
शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विबुधैरात्माम्यधाधि ध्वनिः (एकावली, विद्याधर)
तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृतौ पुनः क्वापि (काव्य प्रकाश)
वाक्यं रसात्मकं काव्यम् (साहित्यदर्पण)
रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् (रस गंगाधर)
चरण धरत चिंता करत, नींद न आवत मोर।
सुवरण को सोधत फिरत कवि व्यभिचारी चोर।। (केशव)
छन्द निबद्ध सुपद्य कहि गद्य होत विनु छंद।
भाषा छंद निबद्ध सुनि सुकवि होत सानंद।।
सगुनालंकारन सहित दोष रहित जो होई।
शब्द अर्थ ताको कवित कहत विबुध सब कोई (चिंतामणि)
जगतें अद्भुत सुख सदन शब्दरु अर्थ कवित्त।
यह लच्छने मैंने कियो समुझि ग्रन्थ बहुचित।। (कुलपति)
शब्द सुभति मुखते कढ़ै, लै पद वचननि अर्थ।
छन्द भाव भूषण सरस सो कहि काव्य समर्थ। (देव)
शब्द अर्थ बिन दोष गुन अलंकार रसखान।
ताको काव्य बखानिए श्रीपति परम सुजान।। (श्रीपति)

काव्य प्रकाशकार मम्मट के अनुसार 'दोषरहित, गुण एवं अलंकार सहित अथवा कहीं-कहीं अलंकार सहित शब्दार्थ को काव्य कहते हैं। पर यह लक्षण साहित्य दर्पण-कार विश्वनाथ को न भाया और 'रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं,' उन्होंने, यह लक्षण ठहराया।

यही नहीं प्रत्युत इन्होंने भावाभास, रसाभास आदि को भी काव्य के भीतर समेट लिया है। विश्वनाथ को तो मम्मट के 'दोषरहित' शब्द पर विशेष आपत्ति थी क्योंकि उनके मतानुसार निर्दोष काव्य रचना असंभव व्यापार है और लक्षण भी अव्याप्ति दोष से दूषित था पर पंडितराज ने एक दूसरी ही आपत्ति खड़ी की। इन्होंने यह प्रश्न उठाया कि काव्यत्व रहता किसमें है? शब्द में, अर्थ में, अथवा दोनों में। परिभाषिक शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि काव्यत्व 'व्यासज्यवृत्ति' है अथवा 'प्रत्येक पर्याप्त'। बड़े गंभीर और सूक्ष्म शास्त्रार्थ के अनन्तर अन्ततः पंडितराज इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि काव्यत्व शब्दनिष्ठ धर्म है। उन्होंने काव्य का स्वरूप निर्देश किया—

'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'—रस गंगाधर

अर्थात् 'रमणीय' अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य कहते हैं। पर अन्य आचार्य शब्द और अर्थ दोनों में काव्य की स्थिति स्वीकार करते हैं। कालिदास और तुलसी-दास जैसे कविवरेण्य भी शब्दार्थ युगल में काव्यत्व मानते हैं।[1] तुलसी ने काव्य में अर्थ, भाव और भाषा (शब्द) की स्थिति बड़े ही रमणीय ढंग से दरसायी है—

अरथ अनूप सुभाव सुभासा।
सोइ पराग मकरन्द सुवासा।।

यही नहीं 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' से भी आगे बढ़कर तुलसीदास काव्यार्थ (काव्य का विषय) को भी समेट लेते हैं और फिर क्या ही सुन्दर परिभाषा प्रस्तुत करते हैं काव्य की—

सगुन पदारथ दोष बिनु पिंगल मत अविरुद्ध।
भूषन जुत कवि कर्म जो सो कवित्त कहि सुद्ध। (सोमनाथ)
बानी लता अनूप काव्य अमृत फल सुफल्यो।
प्रगट करें कवि भूप, स्वादवेदता रसिक जन।। (भिखारीदास)
व्यंग्य जीवन कहि कवित को हृदय सुधनि पहिचानि।
शब्द अर्थ कहि देह पुनि भूषण भूषण जानि।। (प्रताप साहि० भार० का० श्रा० की परंपरा से)

१. वागर्थाविव संपृक्तौ......रघुवंश १।१
गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न
—रा० च० मा० : बाल कांड पृ० ४७।

सरल कवित की रति सरल सोइ आदरहि सुजान।
सहज बयर बिसराय रिपु, जो सुनि करहि बखान ।।

तुलसी के जीवन्त काव्य पुरुष को देखिए—
'वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि'

काव्य का प्रयोजन

लोक व्यवहार और परमार्थ, प्रवृत्ति और निवृत्ति सभी क्षेत्रों में, भौतिक और आध्यात्मिक उभयविध जीवन सरणियों में काव्य की उपयोगिता निर्विवाद है। इसी कारण वेदादि ग्रन्थों में, जो अपौरुषेय कहे जाते हैं, गूढ़ दार्शनिक विषयों को काव्यमय ढंग से, रमणीय रूप को में, समझाया गया है।[1]

काव्य प्रकाश में काव्य के ६ प्रयोजन बताए गए हैं।[2] काव्य यश का जनक, अर्थ का उत्पादक, (लोक) व्यवहार का बोधक, शिव अर्थात् कल्याण, शिवेतर अर्थात् उससे भिन्न अनिष्ट का नाशक, पढ़ने (या सुनने देखने आदि) के साथ ही (सद्यः) परम आनन्द का देने वाला और स्त्री के समान (सरस रूप से कर्तव्याकर्तव्य का) उपदेश प्रदान करने वाला होता है।

साहित्य दर्पणकार ने काव्य का प्रयोजन पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति माना है—

चतुर्वर्ग फलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते।। —साहित्यदर्पण

हिन्दी के रीति ग्रन्थकारों ने भी बड़े सरस ढंग से काव्य के प्रयोजन समझाए हैं।[3]

---

१. शृंगार रस के अंगों से प्रवृत्त हुए शिष्यगण सदाचार के उपदेशों को आनन्दपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं। मुनियों ने शिक्षणीय जनों के हित के लिए ही सदाचारोपदेश रूप नाटकादि गोष्ठी की अवतारणा की है।

—भारतीय काव्यशास्त्र पृ० १२१।

२. काव्यं यशसेऽर्थ कृते व्यवहारविदेशिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्ता सम्मिततयोपदेश युजे।। —काव्यप्रकाश पृ० १०।

३. जस संपति आनन्द अति दुरितन डारै खोइ।
होत कवितते चतुरई जगत रामबस होइ।।—कुलपति
ऊँच नीच तरु कर्म बस चलोजात संसार।
रहत भव्य भगवंतजस नव्य काव्य सुखसार।।
रहत न धरवर धाम धन तरुवर सरवर कूप।
जस शरीर जग में अमर भव्य काव्य रस रूप।।—देव।

यहाँ हमें आचार्य मम्मट के प्रयोजनों पर विचार करना है। जैसा कि निवेदन कर चुके हैं मम्मट ने काव्य रचना के ६ प्रयोजन—यश की प्राप्ति, अर्थलाभ, लोकव्यवहार ज्ञान, अमंगलनाश, सद्यः परनिर्वृति या रस मग्नता, उद्देश—बताये हैं। जिनमें पहले चार उद्देश्य गौण हैं। मुख्य दो ही अन्तिम उद्देश्य ठहरते हैं। इनमें भी पांचवां सर्वप्रधान प्रयोजन है।

काव्य के श्रवण मनन अध्ययनादि से जिस अखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मय आनन्द की प्राप्ति होती है, उस आनन्द की जिसे मम्मट ने सकल प्रयोजन मौलिभूत, रसास्वादन समुद्भूत और विगलित वेद्यान्तर रूप बताया है, वही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। तुलसीदास के संमुख भी मुख्य उद्देश्य यही 'सद्यः परनिर्वृत' ही रहा। 'मानस' के उपक्रमोपसंहार' से यह बात सिद्ध है :

उपक्रम——स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति॥
उपसंहार——मत्वातद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्।

इसके अतिरिक्त मानस के प्रमुख वक्ता शिव भी काव्यवस्तु का स्मरण करते ही आनन्द-मग्न हो जाते हैं।[1]

इसी कारण रसानुभव 'आतम अनुभव सुख सुप्रकाशा' की टक्कर का माना जाता है। यह अनुभव न प्रत्यक्ष ज्ञान है न अनुमान न प्रातिभ ज्ञान और न योगज साक्षात्कार ही। इस आनन्दानुभूति के अधिकारी वे ही सहृदय हृदय हैं 'जे बहुकाल सुकृत सब कीन्हें'। अस्तु, मुख्य प्रयोजन के साथ तुलसीदास गौण प्रयोजन रूप उपदेश अर्थात् वृत्ति परिष्कार और लोकमंगल को काव्य का उद्देश्य स्वीकार करते हैं—

किरति वित्त विनोद अरु अति मंगल को देति।
करै भलो उपदेस नित वह कवित्त चित चेति॥——सोमनाथ
एक लहैं तप पुंजन के फल, ज्यौं तुलसी अरु सूर गोसाई
एक लहैं बहुसंपति केशव भूषन ज्यों वर वीर की नाई
दास कवित्तन की चरचा बुधिवन्तन को सुख दै सब नाई॥——भिखारीदास।

१. **हरहिय राम चरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल पाये।**
श्री रघुनाथ रूप उर आवा। परमानन्द अमित सुख पावा॥
मगन ध्यान रस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह।
रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह॥
—मानस, पृ० ९९।

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई।।

उपदेश की त्रिविधि शैली प्रसिद्ध है—(१) प्रभुसंमित, (२) सुहृत् संमित, (३) कान्ता संमित।

वेदादिशास्त्र राजा या प्रभु की भांति विधि-निषेधों के पालन का आदेश करते हैं और अनिच्छापूर्वक अक्षरशः उनका पालन करना अनिवार्य हो जाता है। अतः श्रुतियाँ शब्द प्रधान हैं।

इतिहास-पुराणों के उपदेश सुहृत् शैली के भीतर आते हैं। इसमें उपदेश का अक्षरशः पालन करना आवश्यक नहीं अपितु अर्थतः पालन होता है। अर्थात् आदेश का अभिप्राय समझकर तदनुसार आचरण होता है। इसमें भी कुछ बाध्यता होती है—संकोच होता ही है। अतः उपदेश की उस दूसरी शैली को अर्थप्रधान कहा जाता है।

तीसरी शैली को कान्तासंमित कहते हैं। इनमें राम-रावण के चरित्र को संमुख रखकर व्यंजना द्वारा यह समझाया जाता है कि राम जैसा आचरण करो, रावण जैसा नहीं। अतः यह तीसरा उपदेश रस प्रधान कहलाता है। इसके द्वारा सदाचार के प्रति हार्दिक हुलास पैदा होता है, सत्कर्मों के प्रति स्वाभाविक आकर्षण जगता है—

'हरषे जन नव निधि पहिचाने'

किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि तुलसीदास ने शेष चार प्रयोजनों की ओर से बिलकुल आँख मूँद ली थी। ध्यान पूर्वक देखने पर मानस रचना के मूल में 'त्रिविध एषना तरुन तिजारी' के रूप में यश लिप्सा को भी हम पैठा हुआ देखते हैं—

'जे प्रबन्ध नहीं बुध आदरहीं। सो श्रमवादि बाल कवि करहीं'

इस उक्ति से क्या 'यश' का प्रयोजन नहीं ध्वनित होगा। रहा सहा सन्देह मैं समझता हूँ आगे पंक्ति से दूर हो जायगा—

होइ प्रसन्न देहु बरदानू। साधु समाज भनिति सनमानू।

'मानस' को बुध समाज में आदर प्राप्त हो, अपनी इस लोकैषणा को कवि निस्संकोच व्यक्त कर देता है। वैसे तो 'निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होय अथवा अति फीका'। अपनी रचना किसको अच्छी नहीं लगती पर वास्तव में काव्य की सार्थकता तो तब है जब चार भले आदमी उसकी प्रशंसा करें। अन्यथा 'अपनी समुझि साधु सुचि कोभा' गोस्वामी जी को यदि लोगों से प्रशंसा पाने की एषणा न होती तो उनके जैसा निर्द्वन्द्व और वीतराग महापुरुष, जो 'माँग के खैबो मसीद में सोइबो लैबों को एक न दैबों को दोऊ' की वृत्ति में और 'पदुम पत्र जिमि जग जल जाये' के भाव में रम रहा था[1], 'खल परिहास होइ हित मोरा। काक कहहिं कल कंठ कठोरा' जैसी उक्तियों का प्रयोग न करता।

---

१. और चराचर जगत् को 'सिया राम मय' देखता था।

ग्रन्थान्तर से गोस्वामी जी का अर्थ प्रयोजन भी ध्वनित होता है—

(१) रोटी लूगा नीके राखै आगेहूं की वेद भाखैं—विनय पत्रिका
(२) तुलसी गोसाईं भयो भोंड़े दिन भूलि गयो।
(३) तुलसी के दुहूं हाथ मोदक हैं ऐसे ठाउं।
जाके जिए सुए सोच करिहैं न लरिकौ।।

यद्यपि यह सही है कि 'राम विमुख संपति प्रभुताई (रूप अर्थ) तुलसी को कभी इष्ट नहीं रही।

लोकव्यवहार का ज्ञान तो 'नाना पुराण निगमागम संमतम् यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' से एवं लोक वेद जुग मंजुल कूला' से सिद्ध ही है। इसी को निपुणता भी कहते हैं। सूक्ष्म निरीक्षण को भी हम इसी निपुणता के भीतर ले सकते हैं।

अब रहा अमंगल नाश, सो यह सभी जानते हैं कि 'बाहुपीड़ा निवारण' के लिए, तुलसीदास ने, हनुमान बाहुक की रचना की थी—

बात तरु मूल बाहु सूल कपि कच्छ बेलि।
उपजी सकेलि कपि खेल हो उरवारिए।।—बाहुक

चरक संहिता के अनुसार चिकित्सा के तीन पाद होते हैं—

(१) युक्तिव्यपाश्रय, (२) दैवव्यपाश्रय, (३) सत्वावजय।

दैवव्यपाश्रय चिकित्सा के भीतर भजन, पूजन, तीर्थाटन, दानपुण्य, स्तुति पाठादि परिगणित हैं। इसमें कौन इनकार कर सकता है कि तुलसीदास की मानस रचना का उद्देश्य जीवन के क्लेशों से त्राण पाना भी था—

राम भजन बिन सुनहु खगेसा। मिटहिं न जीवन केर कलेसा।।

उत्तर कांड में 'मानस रोगों' की लम्बी सूची मेरे मत की पुष्टि करेगी।[1]

---

१. रामकृपा नासहिं भवरोगा। जौं एहि भांति बनै संजोगा।।
सगुद्रु वेदबचन विस्वासा। संजम यह न विषय कै आसा।।
रघुपति भगति सजीवनि भूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी।।
एहि बिधि भलेहि सो रोग नसाहीं। नाहिं जतन कोटि नहिं जाहीं।।
जानिय तब मन विरुज गोसाई। जब उरबल विराग अधिकाई।।
सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। विषय आस दुर्बलता गई।।
विमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई।।
—मानस पृ० ६७४।

इस प्रकार मानस-रचना के मूल में हम प्रथम प्रयोजन—सद्यः परिनिर्वृत्ति कहिए वा स्वान्तः सुख अथवा रसानुभूति कहिए—पाते हैं तथा गौण प्रयोजन उपदेश तो अन्योन्याश्रित रूप से है ही। शेष चार प्रयोजन भी आनुषंगिक रूप से सन्निहित हैं।

काव्य के प्रभेद

मोटे तौर पर काव्य के मुख्यतः दो भेद हैं—(१) दृश्यकाव्य और (२) श्रव्य काव्य। दृश्यकाव्य के भीतर नाटक आते हैं जो मुख्यतया दृष्टि के विषय हैं और श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत वह काव्य आता है जिसका आनन्द कानों के माध्यम से प्राप्त होता है। यहाँ हमारा प्रतिपाद्य काव्य है। अतः उसी की मीमांसा में हम प्रवृत्त होते हैं।

शैली, अर्थ और बंध की दृष्टि से काव्य (श्रव्य) के तीन-तीन भेद होते हैं। शैली के अनुसार तीन भेद इस प्रकार हैं—

(१) पद्य, (२) गद्य, (३) मिश्र

रामचरित मानस पद्यबद्ध काव्य है—

छन्द सोरठा सुन्दर दोहा
पुरइन सघन चारु चौपाई

अर्थ की दृष्टि से (१) उत्तम (२) मध्यम (३) अधम ये तीन भेद होते हैं। पंडितराज ने चार भेद—(१) उत्तमोत्तम, (२) उत्तम, (३) मध्यम, (४) अधम—किए हैं। पर परवर्तियों ने ये भेद स्वीकार नहीं किए। काव्य के तीन ही भेद स्वीकृत हुए।

उत्तम काव्य

उत्तमकाव्य—वह है जहाँ व्यंग्यार्थ में मुख्यार्थ से अधिक चमत्कार हो।[1] यथा,

मोहि दीन्ह सुख सुजसु सुराजू। कीन्ह कैकई सब कर काजू॥
एहि ते मोर काह अब नीका। तेहि पर देन कहहु तुम्ह टीका॥[2]

वसिष्ठादि द्वारा राज्य पद स्वीकार किए जाने के अनुरोध के उत्तर में भरत की यह उक्ति है। यहाँ अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है। 'सुख', 'सुजस' आदि का अर्थ यहाँ दुःख, अपयश आदि होगा। वक्ता तथा बोद्धा के वैशिष्ट्य से यहाँ यही व्यंग्यार्थ प्रतीयमान है।

धर्मसीलता तव जग जागी। पावा दरस हमहुं बड़ भागी॥[3]

---

१. इदमुत्तममति शायिनि व्यंग्येवाच्याद् ध्वनिबुधैः कथितः

२. मानस : पृ० ३२९।

३. मानस : पृ० ५१८।

यह परम अधार्मिक रावण के प्रति अंगद की उक्ति है। यहाँ भी अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है।

जौहौं राम त कुल सहित कहिय दसानन जाइ[1]

यह गीधराज के प्रति राम का कथन है। 'जौ हौं राम' में यहाँ 'राम' अर्थान्तर संक्रमित पद है। यहाँ राम का तात्पर्य है 'यदि मैं सत्य पर प्राण न्यौछावर करने वाले दशरथ का औरस पुत्र हूँ, यदि मेरा 'सत्यसन्ध' विशेषण सही है और 'प्राण जाइ बरु बचन न जाई' बाना निभाने वाले कुल का यदि मैं वंशधर हूँ तो निश्चय ही रावण को यमलोक भेजूँगा।

जननी तू जननी भई विधि सन कछु न बसाइ[2]

भी इसी प्रकार अर्थान्तर संक्रमित ध्वनि का उदाहरण है।

मध्यम काव्य

जहाँ व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ के समान या उससे कम चमत्कारक हो, वहाँ गुणीभूत व्यंग्य होता है। गुणीभूत व्यंग्य को मध्यम काव्य भी कहते हैं।

(१) सीताहरण के अनन्तर राम का विरह विकल हो कर

खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रवीना॥

से एवं लता तरु पातियों से जानकी का पता पूछना गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण है। यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार की ध्वनि है।

(२) रावण के शोक में मन्दोदरी का विलाप भगवद् विषयक रति का अंग हो जाने के कारण गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण हो गया है—

तव बल नाथ डोल नित धरनी। तेज हीन पावक ससि तरनी॥
सेष कमठ सहि सकहिं न भारा। सो तनु भूमि परेउ भरि छारा॥
वरुन कुबेर सुरेस समीरा। रन सनमुख धरि काहुं न धीरा॥
भुजबल जितेहु काल जम साईं। आजु परेउ अनाथ की नाईं॥
जगत विदित तुम्हारि प्रभुताई। सुत परिजन बल वरनि न जाई॥
रामविमुख अस दान तुम्हारा। रहा न कोउ कुल रोवनि हारा॥
तव बस विधि प्रपंच सबनाथा। सभयदिसिप नित नावहिं माथा॥
अब तव भुज सिर जंबुक खाहीं। राम विमुख यह अनुचित नाहीं॥
काल विवस पति कहा न माना। अज जग नाथ मनुज करि जाना॥

---

१. वही, पृ० ४३२।
२. वही, पृ० ४३२।

अहह नाथ रघुनाथ सम कृपासिंधु नहिं आन।
जोगिवृन्द दुर्लभ गति तोहि दीन्हि भगवान॥

चित्र काव्य

चित्र काव्य के दो भेद होते हैं—(१) शब्दचित्र (२) अर्थचित्र।

पहले में शब्दालंकार का चमत्कार मुख्य होता है और दूसरे में अर्थालंकर का।

शब्दचित्र का उदाहरण

क. बहुरि सक्र सम विनवउं तेही
सन्तत सुरानीक हित जेही

यहां खलों की व्याज निन्दा के सन्दर्भ में उनको इन्द्र से उपमित किया गया है। दूसरी अर्द्धाली में श्लेष का चमत्कार द्रष्टव्य है। इस चमत्कार के कारण भाव में कोई तीव्रता नहीं आती जबकि भावोत्तेजन ही अलंकार का उद्देश्य होना चाहिए।

ख. साधु चरित सुभ चरित कपासू
निरस विसद गुनमय फल जासू

यहां साधु चरित की कपास से समता की गई है। निरस, विसद, गुनमय आदि श्लिष्ट शब्दों की योजना होने के कारण मुख्य अर्थ दब सा गया है।

अर्थचित्र

दंड जतिन कर भेद जहं नर्तक नृत्य सामाज
जितहु मनहि अस सुनिय जग रामचन्द्र के राज

राम राज्य की सुख-शान्ति सुव्यवस्था की प्रशंसा प्रस्तुत है पर परिसंख्या के गोरखधन्धे में पाठक उलझ जाता है। पर ऐसे 'नीरस' उदाहरण मानस में कम ही मिलेंगे।

बंध की दृष्टि से काव्य के भेद

बंध की दृष्टि से दो प्रकार की रचनायें सामने आती हैं—(१) प्रबन्ध (२) निबन्ध या मुक्तक।

निबन्ध या मुक्तक के पांच अवान्तर भेद होते हैं—(१) मुक्तक, (२) युग्मक (३) सान्दानितक (४) कलापक (५) कुलक।

प्रबन्ध के मुख्य तीन भेद होते हैं—(१) खण्डकाव्य (२) एकार्थ काव्य और (३) महाकाव्य।

हमारा आलोच्य 'मानस' महाकाव्य है। साहित्य दर्पण के अनुसार[1] महाकाव्य वह है जो सर्गबद्ध हो, जिसका नायक कोई देवता वा सद्वंशीय राजा हो और साथ ही धीरोदात्त गुणों से युक्त हो। शृङ्गार, वीर, शांत आदि में से कोई रस प्रधान हो। संधिपंचक की योजना हो। कोई ऐतिहासिक वा लोक प्रसिद्ध महापुरुष का जीवन-वृत 'वस्तु' रूप में गृहीत हो। पुरुषार्थ चतुष्टय का रमणीय निरूपण हो और किसी एक पुरुषार्थ को काव्य के परमफल रूप में व्यंजित किया जाय। विविध मंगलाचरणों—(१) नमस्कारात्मक (२) आशीर्वादात्मक और वस्तुनिर्देशात्मक में से किसी एक वा सबका ग्रहण हो सकता है। खलों की निन्दा एवं सज्जनों की स्तुति का विधान हो। प्रत्येक सर्ग में छन्दान्तर की व्यवस्था हो। कम से कम आठ सर्ग हों। सर्ग के अन्त में आगे की कथा की सूचना हो।

(१) संध्या, (२) सूर्य, (३) चन्द्र, (४) रात्रि, (५) प्रदोष (६) अन्धकार (७) दिन (८) प्रातःकाल (९) मध्याह्न (१०) मृगया (११) पर्वत (१२) ऋतु (१३) वन उपवन (१४)

---

१. सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सवंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः॥
एकवंश भवा भूपाः कुलजा वहवोऽपि वा॥
शृंगार वीर शान्ता नामैको रस इष्यते।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटक सन्धयः।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्॥
आदौनमस्क्रियाऽशी र्वा वस्तु निर्देश एव वा।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्।
एक वृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्य वृत्तकैः।
नाति स्वल्पानातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिकाइह॥
नाना वृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।
सर्गान्ते भावि सर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्॥
सन्ध्या सूर्येन्दु रजनी प्रदोषऽध्वान वासराः।
प्रातर्मध्यान्ह मृगयाशैलर्तुवनसागराः॥
संभोग विप्रलम्भौ च मुनि स्वर्ग पुराऽध्वराः।
रण प्रयाणोपयमन्त्र पुत्रोऽ दयादयः॥
वर्णनीया यथा योग्यं सांगोपांगा अमी इह।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्यवा॥
नामास्य सर्गोपादेय कथया सर्गनामतु॥
—साहित्य दर्पण पृ० ५४९।

समुद्र (१५) संभोग (१६) विप्रयोग (१७) मुनि (१८) स्वर्ग (१९) नगर (२०) यज्ञ (२१) संग्राम (२२) यात्रा (२३) विवाद (२४) सामादि उपाय (२५) पुत्रजन्म आदि का सांगोपांग वर्णन हो। महाकाव्य का नामकरण या तो कवि के नाम पर या वर्णचरित के आधार पर अथवा नायक के नाम पर किया गया हो। यथासंभव प्रत्येक सर्ग के भी नामकरण किए गए हों।

'साहित्यदर्पण' की उक्त कसौटी पर मानस कहां तक खरा उतरता है, इसको भी देख लेना चाहिये। संघटन के विचार से सर्व प्रथम महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए तो मानस में भी—'एहिमहं सुभग सप्त सोपाना। रघुवर चरित फेर-बन्धाना' है—पर सर्गों की संख्या नियत कर दी गई है जिसके अनुसार कम से कम आठ सर्ग होने चाहिए और मानस में इसके विपरीत जैसा कि अभी अभी निवेदन किया गया है सात ही सर्ग वा सोपान हैं तो क्या मानस को सदोष माना जाय? पर वाल्मीकीय रामायण भी तो सात कांडों में है, इस नियम के अनुसार तो वह भी सदोष हुआ किन्तु उसे आर्षग्रन्थ कह कर दोष मुक्त किया जा सकता है पर 'मानस' प्राकृत रचना होने के कारण इस दोष से कथमपि बरी नहीं हो सकता है। अतः इस पर थोड़ा विचार अपेक्षित है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने वाङ्मयविमर्श में इस पर विचार किया है। उनके अनुसार जैसे वाल्मीकीय रामायण में है यद्यपि सात कांड ही पर प्रत्येक कांड में सैकड़ों सर्ग हैं वैसे ही 'मानस' के भी प्रत्येक सोपान (कांड) में अनेक प्रकरण हैं। अतः उनका मत है कि 'इसका यह तात्पर्य नहीं कि यदि किसी रचना में मोटे-मोटे आठ से कम ही खण्ड रखे जायं तो वह रचना अन्य सब सामग्रियों से पूर्ण होने पर भी सदोष हो जायगी।' ध्वन्यालोककार ने भी ऐसी कवायद[1] को निरर्थक बताया है। गोस्वामी जी ने शास्त्रस्थिति संपादन के चक्कर में न पड़ कर यहां चारुत्वातिशय पर अधिक बल दिया है।

हमारे यहाँ कथावस्तु अथवा इतिवृत्त के तीन प्रकार बताए गए हैं—(१) प्रख्यात (२) उत्पाद्य और (३) मिश्र प्रख्यात वस्तु इतिहास पुराणाश्रित होती है, उत्पाद्य कवि-कल्पित एवं मिश्र ऐतिहासिक और कल्पित के खेल से निर्मित होती है।

इतिवृत्त के दिव्य, मर्त्य और दिव्यादिव्य करके तीन भेद और होते हैं। महाकाव्य के लिए प्रख्यात चरित ही ग्रहण करने का नियम है। कारण, महाकाव्य का लक्ष्य रस संचार या साधारणीकरण है। कल्पित वृत्त की योजना से उक्त लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकता साथ ही काव्य का लक्ष्य केवल मात्र इतिहास का वर्णन करना नहीं है। उसमें इतिहास पुराण की वही कथा ली जाती है जो विभावादि के औचित्य से युक्त हो। अतः नायक के शीलाचार में बट्टा

---

१. संधि सन्ध्यंग घटनं समाभिव्यक्त्यपेक्षया।
नतुकेवलया शास्त्र स्थिति संपादनेच्छया।।
—ध्वन्यालोक पृ० ३१४।

लगाने वाली कोई बात अथवा रस भंग करने वाला कोई प्रसंग इतिहास में हो तो कवि को उसे रसानुकूल परिवर्तित कर लेने का अधिकार आचार्यों ने दे रखा है । जो प्रसंग रस के प्रतिकूल सिद्ध हो रहा हो उसको काव्य से निकाल दे और रसोत्कर्ष के लिए नूतन कथा, प्रसंग वा वृत्त की उद्भावना करले । दे० भारतीय काव्यशास्त्री परम्परा पृ० ११४ । साहित्य दर्पण ३६०

अयुक्तां च विरुद्धं च नायकस्य रसस्य वा।
वृत्तं यत्तत् परित्याज्यं प्रकल्प्यमथवाऽन्यथा ।।

—नाट्यदर्पण, प्रथम विवेक

जहाँ तक 'मानस' की कथावस्तु की बात है, वह प्रख्यात है । इतिवृत्त दिव्यादिव्य है—माया मानुष ब्रह्म का चरित वर्णित है । कवि ने अनेक आर्ष और मानुष ग्रन्थों से सामग्री ली है—

नाना पुराण निगमागम संमतं यद् रामायणे निगदितं

'मानस की कुछ ऐसी कथाओं के लिए जिनका आधार उक्त ग्रन्थों में नहीं मिलता, कवि ने 'क्वचिदन्यतोऽपि' कहकर इशारा कर दिया है । इसके भीतर प्रसन्न-राघवादि नाटक आवेंगे । क्योंकि गोस्वामी जी ने इन नाटकों से न केवल कथा सामग्री ली है अपितु कितनी ही उक्तियाँ भी अविकल ले ली हैं ।

अपनी उद्भावनाओं को इतिहास सम्मत सिद्ध करने के लिए उनकी युक्ति भी कितनी युक्तियुक्त है—

जे यह कथा सुनी नहिं होई । जनि आचरज करहिं सुनि सोई ।
कलप भेद हरि चरित सुहाये । भांति अनेक मुनीसन गाए ।
करिय न संसय अस जिय जानी । सुनिय कथा सादर रति मानी ।

इतिहास में घटनाओं का ब्योरेवार वर्णन अविकल रूप में होता है । अतः यदि ज्यों का त्यों ऐतिहासिक वृत्तों को उठाकर काव्य में रख दिया जाय तो फिर काव्य और इतिहास में अन्तर ही क्या रहा । इतिहास के सभी वृत्त काव्य के काम के नहीं होते ।[1] कुछ विशेष वृत्त ही काव्योपयोगी होते हैं जिन्हें लेकर कवि अपनी प्रतिभा से 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' एवं 'ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई' की उक्ति चरितार्थ करता है ।

---

१. काव्य में रसोद्रेक ही मुख्य है, इतिवृत्त गौण । जैसे प्रकाश चाहने वाला व्यक्ति पहले दीपक जलाने का यत्न करता है वैसे ही व्यंग्यार्थ के लिए मूल कारण वाच्य-वाचक को ही पहले अपनाते हैं ।—ध्वन्यालोक ।

नायक विचार

अब नायक को लीजिए। शास्त्रों में चार प्रकार के नायक बताये गए हैं—(१) धीरोदात्त, (२) धीर ललित, (३) धीर प्रशांत और (४) धीरोद्धत। महाकाव्यों के लिए धीरोदात्त[1] नायक उपयुक्त होता है।

नायक को विनीत होना चाहिए। यथा परशुराम की उग्रवाणी पर राम की निम्नीय उक्ति उनकी विनम्रता की परिचायक है—

सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना।
बालक वचनु करिअ नहिं काना॥

× × ×

तिन नाहीं कछु काज विगारा। अपराधी मै नाथ तुम्हारा।
कृपा कोपु बधु बंधब गोसाई। मो पर करिअ दास की नाई॥

इसी प्रकार मानस से राम में धीरोदात्त नायक के सभी गुण घटाये जा सकते हैं—

(१) विनीत— विद्या विनय निपुन गुन सीला।
प्रभु विलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर भारी॥
—मानस : अरण्यकांड

(२) मधुर— नाथ असुर सुर नर मुनि जेते।
देखे जिते हते हम केते॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुन्दरताई।

(३) त्यागी—
जो संपति सिव रावनहिं दीन्ह दिए दस माथ।
सो सम्पदा विभीषनहिं सकुच दीन्ह रघुनाथ॥

(४) दक्ष—
दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ। पुनि नभ धनु मंडल सम भयऊ॥
लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा रहे सब ठाढ़े॥

---

१. नेता विनीतौ मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्त लोकः शुचिर्वाग्मी रूढ़वंशः स्थिरो युवा॥
बुद्धयुत्साहस्मृति प्रज्ञा कला मान समन्वितः।
शूरो दृढ़श्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकाः॥
महासत्योऽति गंभीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढ़ाहंकारो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः॥
—दशरूपक 'द्वितीय प्रकाश पृ० ७२।

(५) प्रियवंद—

नाथ करहु बालक पर छोहू। सूध दूध मुख करि अन कोहू॥
जौं पै प्रभु सुभाउ कछु जाना। तौके बराबरि करत अपाना॥
जौं लरिका कछु अचगरि करहीं। गुर पितु मातु मोद मन भरहीं॥
करिअ कृपा सिसु सेवक जानी। तुम्ह सम सील धीरमुनि ग्यानी॥

—रामचरित मानस-१८६

(६) लोक भक्त—

सेवक सचिव सकल पुरवासी। जे हमरे अरि मित्र उदासी॥
सबहि रामु प्रिय जेहि विधि मोही। प्रभु असीस जनु तनु धरि सोही॥

अथवा

अवध नगर वासिन नर नारि वृद्ध अरु बाल।
प्रानहुते प्रिय लागहिं सब कहं राम कृपाल।

(७) शौच—

रघुवंसिन कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पग धरहिं नाऊं॥
जिनके लहहिं न रिपु रन पीठी। नहिं लावहिं परतिय मन दीठी॥

(८) वाग्मी—

सारद कोटि अमित चतुराई।
राम कहा मुनि कहहु विचारी। रिस अति बड़ि लघु चूक हमारी।
छुअतहिं टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करौं अभिमाना॥

(९) रूढ़वंश—

हंस बंसु दसरथु जनकु राम लखन से भाइ।
भानु बंस भे भूप घनेरे अधिक एकते एक बड़ेरे॥

(१०) स्थिर—

खरदूषण के साथ युद्ध में राम ने एकाकी उनका अविचल भाव से सामना किया जिसे देखकर देवता भी अधीर हो उठे थे पर राम अस्थिर नहीं हुए—

सुर डरत चौदह सहस प्रेत विलोकि एक अवध धनी

(११) युवा—

स्यामल गौर किसोर सर सुन्दर सुषमा ऐन।
सरद सर्वरी नाथ मुखु सरद सरोरुह नैन॥

इसी प्रकार बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, कला, मान, शूरता, दृढ़ता, तेजस्विता, शास्त्र

ज्ञान तथा धार्मिकता के भी अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं पर विस्तार भय से उन्हें उदाहृत करने का लोभ संवरण करता हूँ। पर महासत्वादि के प्रमुख लक्षण उदाहरण अवश्य देना चाहूँगा।

महोत्सव--

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवास दुःखतः।
मुखाम्बुज श्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मंजुल मंगलप्रदा ॥

अविकत्थन--

मुनि रघुवीर परस्पर नवही।
वचन अगोचर सुख अनुभवहीं ॥

निगूढ़ालंकार--

बिप्रबंस कै असि प्रभुताई।
अभय होइ जो तुम्हहि डेराई ॥

दृढ़व्रत--

मोर तुम्हार परम पुरुषारथु। स्वारथु सुजसु धरमु परमारथु ॥
पितु आयसु पालिहिं दुहु भाई। लोक वेद भल भूप भलाई ॥

गंभीर--

परम गंभीर कृपामृत सानी। सिन्धु कोटि सत सम गंभीरा।

औदात्य--

विमल वंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥

पर 'मानस' के राम इन सबके अतिरिक्त भी 'कुछ' हैं। धीरोदात्त होने के साथ ही वे दिव्यादिव्य हैं। कवि की भावना के अनुसार 'ब्रह्म भयउ कौसल पुर भूपा' की उक्ति को वे चरितार्थ करते हैं। 'जेहिं समान अतिसय नहिं कोई' ऐसे वे नायक हैं। गोस्वामी जी ने अपने नायक की अनन्वय अतिशयता पर उत्तर कांड में प्रकाश डाला है।[1]

---

१. रामु काम सत कोटि सुभग तन दुर्गा कोटि अमित अरिमर्दन।
सक्र कोटि सत सरिस विलासा। नभ सत कोटि अमित अवकासा ॥
मरुत कोटि सत विपुल बल रवि सत कोटि प्रकास।
ससि सत कोटि सुसीतल सदन सकल भवत्रास ॥
काल कोटि सत सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत।
धूमकेतु सतकोटि सम दुराधरष भगवंत।

महाकाव्य होने के कारण यों तो मानस में नवो रसों की व्यंजना हुई है पर अंगी रूप में भक्ति शान्त रस का परिपाक हुआ है।

सन्धि पंचक

मानस में पांचों सन्धियों, अर्थ प्रकृतियों और अवस्थाओं के अनुसन्धान में बड़ा मंथन करना पड़ा है। आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने कुछ संकेत दिए जिनमें निर्वहण सन्धि कार्य और फलागम तो उन्होंने बिलकुल स्पष्ट निर्दिष्ट करके लिख भेजे थे। डा० राममूर्ति त्रिपाठी एवं आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी से विमर्श करके 'समुझि परी मोही मति अनुसार' न्याय से मैने यह विवेचन प्रस्तुत किया है। महामहोपाध्याय पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी जी के अनुसार संधि पंचक आदि का काव्य में होना अनिवार्य नहीं है, वे नाटकों के आवश्यक अंग हैं।

संधि	अर्थप्रकृति	अवस्था
‖ मुख ‖	‖ बीज ‖	‖आरंभ ‖
नारद मोह, रावणजन्म, रामावतार, बालचरित, विश्वामित्र आगमन, विवाह अभिषेचनसमारंभ इनमें देव विषयक रति, भयानक रस, वात्सल्य श्रृङ्गार, वीर रसों का समावेश है।	देवताओं का गो रूपधारी पृथ्वी के साथ भगवान की शरण में जाना और रावण के अत्याचारों से रक्षा की प्रार्थना करना भगवान का आश्वासन, 'राम कवन प्रभु पूछउं तोही।'	रावण के अत्याचार से त्रस्त देवों का भगवान् की शरण में जाना और भगवान् का आश्वासन।

प्रभु अगाध सत कोटि पताला। समन कोटि सत सरिस कराला॥
तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन॥
—दे० रामचरित मानस : पृ० ६४७।

हिम गिरि कोटि अचल रघुबीरा। सिंधु कोटि सत सम गंभीरा॥
कामधेनु सत कोटि समाना। सकल काम दायक भगवाना॥
सारद कोटि अमित चतुराई। बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई॥
विष्णु कोटि सम पालनकर्ता। रुद्रकोटि सत सम संहर्ता॥
धनद कोटि सत सम धनवाना। मायाकोटि प्रपंच निधाना॥
भार धरन सतकोटि अहीसा। निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा॥
छ०—निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगमु कहै
जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहै॥
एहि भांति निजनिज मति विलास मुनीस हरिहि बखानही
प्रभु भाव गाहक अतिकाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं। —रामचरित मानस : पृ० ६४८।

॥ प्रतिमुख ॥ खरदूषण बघ पर रावण का वितर्क	॥ बिंदु ॥ सीताहरण अथवा अभिषेचन प्रस्ताव और कोपभवन अथवा शूर्पणखा नासिकाछेदन	॥ यत्न ॥ निसिचर हीन करौं महि भुज उठाइ पनु कीन्ह सुग्रीव मैत्री, समुद्र सेतु बंध आदि।
॥ गर्भ ॥ रावण द्वारा सीता को धमकाया जाना सीता की चिंता, आत्मघात का निश्चय हनुमान से भेंट, पुनः राम का नकली कटा सिर देखकर सीता का अधीर होना आदि।	॥ पताका ॥ सुग्रीव मैत्री विभीषण शरणागति	॥ प्राप्त्याशा ॥ सीताहरण, लक्ष्मणशक्ति वा भय आरत कपि भागन लागे। जद्दपि उमा जीति अहिं आगे ॥
॥ विमर्श ॥ भागे वानर धरहिं न धीरा। त्राहि त्राहि लछिमन रघुबीरा ॥ दहुंदिसि धावहि कोटिन्ह रावन। गर्जहिं घोर कठोर भयावन डरे सकल सुर चले पराई। जय के ग्रास तजहु अब भाई सब सुर जिते एक दसकंधर अब बहु भए तकहु गिरिकंदर ॥ प्रभु छन महुं माया सब काटी। जिमि रवि उएं जाहिं तम फाटी ॥	॥ प्रकरी ॥ शबरी से भेंट जटायु प्रकरण, संपाति मिलन।	॥ नियताप्ति ॥ रावण के हृदय में जानकी वा अमृतकुण्ड का होना और जानकी का ध्यान छूटने या अमृत कुण्ड के रीतने से रावण की मृत्यु होगी, इसका पता चलना।
॥ निर्वहण ॥ देवताओं द्वारा राज्याभिषेक के अवसर पर स्तुति।	॥ कार्य ॥ राम परमानंद परेस पुराना हैं—राम ईश्वर हैं।	॥ फलागम ॥[1] रावण-वध

१. मानस के फलागम के सम्बन्ध में डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने अपनी विमति टिप्पणी दी है जो इस प्रकार है—नायक की परिभाषा है—फल-भोक्ता तु नायकः—नायक वह कहा जाता है—जो फल का भोक्ता हो।
अतः फल इस प्रकार की वस्तु को होना चाहिये जो राम को मिला हो और अंततः मिला हो। यद्यपि 'राम जनम जग मंगल हेतू"—के अनुसार जगमंगल या लोकमंगल ही उनके

पुरुषार्थ चतुष्ट्य—

'मानस' में पुरुषार्थ चतुष्टय का हृदयग्राही निरूपण हुआ है। उसके प्रतिपाद्य राम के सम्बन्ध में कहा गया है—

नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥

राम और उनके परिकरादि के सम्बन्ध में निम्नीय उक्तियां ध्यान देने योग्य हैं—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा
जनु जीव उर चारिव अवस्था विभुन सहित विराजहीं।
उभय बीच सिय सोहति कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥
श्रुति सेतु पालक राम तुम जगदीश माया जानकी
संसार में त्रिविध जीवों की स्थिति बताई गई है—
विषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग वेद बखाने

'मानस' में इन सबके सम्बन्ध में कुछ न कुछ मिलता है—

(१) **विषइन्ह कहं पुनि हरिगुन ग्रामा। सुखद श्रवन मन कहं विश्रामा॥**
(२) **साधक नाम जपहिं लय लाए। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाए॥**
(३) **राम सुप्रेम पियूषहृद तिनहुं किए मन मीन**

परम फल के रूप में धर्म रूप पुरुषार्थ ही 'मानस' का लक्ष्य जान पड़ता है—

माया मानुष रूपिणो रघुवरो सद्धर्म वर्मौ हितौ

दशरथ ने सत्यधर्म की रक्षा के लिए अपने प्राणाधिक प्रिय पुत्र राम का परित्याग कर दिया—

राखेउ राउ सत्व मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी।

जन्म का फल है फिर भी निरपेक्ष रूप में यह ऐसा तत्व है जो लोक को मिलता है राम को नहीं। अतः मेरे विचार से राज्यारोहण रूप फल माना जाय तो वह राम का प्राप्य हो सकेगा। कहा जा सकता है कि राम जैसा उदात्ततम पात्र अपना लक्ष्य मात्र राज्यारोहण समझे संगत नहीं जान पड़ता। ठीक है, पर यदि राज्यारोहण रामराज्य को लोकमंगलात्मक मान लिया जाय तो उपर्युक्त सारी विसंगतियां मिट जाती हैं। राम राज्य के लोकमंगलात्मक रूप में भवभूति के वक्तव्य को ही लें—

स्नेहं दया च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा॥

—उत्तर रामचरित १-१२ पृ० २२-२३।

राम की उक्त सत्य धर्म की रक्षा में तत्पर दिखाई पड़ती हैं—

जानेहु तात तरनि कुल रीती। सत्य संघ पितु की रति प्रीती॥
पिता बचन मेटत अतिसोचू। तेहि ते अधिक तुम्हार संकोचू॥

रघुकुल की यही तो रीति है। चित्रकूट की सभा में यही धर्माविरोधी मार्ग तो निकाला गया—

'धर्म सहित सब कर हित होई।

इसी कुल क्रमागत प्रोज्ज्वल परंपरा को ही लक्ष्य करके तो राम कहते हैं—
'जौं हौं राम त कुल सहित कहिहि दसानन जाय'
रघुवंशियों का सहज स्वभाव है—

रघुबंसिन कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पग धरहिं न काऊ॥
जिनके लहहिन रिपुरन पीठी। नहिं लावहिं परतिय मन डीठी॥
मंगन लहहि न जिनके नाहीं। ते नरवर थोरे जगमाही॥

वे धर्ममय रथ पर चढ़कर अजेय बने रहते हैं—
"सौरज धीरज जेहि रथ चाका......"

मंगलाचरण

न केवल ग्रन्थारम्भ में अपितु प्रत्येक कांड के आरम्भ में भी मंगलाचरण मिलता है। इनके मंगलाचरण में साम्प्रदायिक आग्रह का लेश नहीं मिलता। लोकाचार के अनुसार गणेशादि की वन्दना पहले की गई है। यद्यपि सबसे रामभक्ति ही ये मांगते हैं पर जैसे लोक-व्यवहार में हम देखते हैं कि राजा के यहाँ कोई सीधे नहीं पहुँच पाता उसे दरबान आदि कई कर्मचारियों के बीच से होकर दरबार तक जाना होता है वैसे ही गोस्वामी जी अन्य देवताओं की वन्दना करते हुए राम तक पहुँचते हैं।

मंगलाचरण तीन प्रकार के होते हैं—(१) नमस्कारात्मक, (२) वस्तुनिर्देशात्मक, (३) आशीर्वादात्मक।

(१) नमस्कारात्मक—

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मंगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ॥

(२) वस्तुनिर्देशात्मक—

बन्दउं अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीन दयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥

(३) आशीर्वादात्मक—

ग्रन्थारम्भ में अथवा किसी सोपान के आरम्भ में सीधे कवि द्वारा प्रयुक्त तो नहीं मिलता, हां, कवि निबद्ध पात्र द्वारा अवश्य ही प्रयुक्त हुआ है—

जय रघुवंस वनज वन भानू। गहन दनुज कुल दहन कृसानू॥
जय सुरविप्र धेनु हितकारी। जय मद मोह कोह भ्रम हारी॥

खलवन्दना

गोस्वामी जी ने खलों की भी वन्दना की है जो व्याजनिन्दा के उत्कृष्टम उदाहरण हैं :

बहुरिबंदि खलगन सतिभाएं। जे बिनु काज दाहिनेहु बाएं॥
परहित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरें हरष विषाद वसेरे॥

× × ×

हरिहर जस राकेस राहु से। पर अकाज भट सहस बाहु से॥
जे परदोष लखहिं सहसाखी। परहित घृत जिन्हके मनमाखी॥

खलों की वन्दना में एक विशेषता ध्यान देने योग्य है—

उदासीन अरिमीत हित सुनत जरहिं खल रीति॥
जानि पानि जुग जोरिजन विनती करइ सप्रीति॥

उनकी बन्दना जानु पानि दोनों जोड़ कर की गई है फिर भी वे अपने जन्मजात स्वभाव को छोड़ देंगे, यह भरोसा कवि को नहीं है।

मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा। तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा॥

सन्तवन्दना

संतों की वन्दना में तो गोस्वामी जी ने कलम तोड़ दी है—

जानहिं संत अनंत समाना।
बंदउं संत समान चित्त हित अनहित नहिं कोइ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगन्ध कर दोइ॥

छंदोव्यवस्था

गोस्वामी जी ने ईश्वरदास के समय से चली आती हुई दोहे चौपाई वाली शैली को, जिसे सूफियों ने भी अपनाया था, ग्रहण किया। बीच-बीच में दूसरे-दूसरे छन्दों का प्रयोग भी किया है पर मुख्य रूप से दोहे चौपाइयाँ ही व्यवहृत हैं। शास्त्रीय कवायद की पूर्ति के हेतु नियम की लीक मात्र पीटने के लिए उन्होंने प्रत्येक सोपान में छन्द नहीं बदले हैं। हाँ 'बीच-बीच में, प्रसंग के बदलने पर, रस के परिवर्तन पर, पात्र की विशेषता के कारण और

परिस्थिति के अनुकूल, छन्दों की भी परिवृत्ति की गई है।[1] केशव ने छन्दों की प्रदर्शनी लगाकर काव्य प्रवाह को क्षति ही पहुँचायी है।

प्रकृति-वर्णन

संध्यासूर्यादि का प्रथापालन के रूप में वर्णन तो मिलता है पर प्रकृति का वह संश्लिष्ट चित्रण जो वाल्मीकि कालिदास आदि कवियों में देखने को मिलता है, तुलसी में क्या हिन्दी के किसी कवि में खोजने पर भी नहीं मिलता। आचार्य शुक्ल ने इस सम्बन्ध में गोस्वामी जी की सफाई देते हुए, इस अभाव के लिए उत्तरदायी तत्कालीन काव्यपरिपाटी को ठहराया है।

नायक का अनुसंधान

प्रत्येक सर्ग में चरित नायक की कथा अवश्य आनी चाहिए और साथ ही आगे की कथा का संकेत भी दे देना चाहिए। गोस्वामी जी जो पग-पग पर राम की ईश्वरता का स्मरण दिलाते हैं, उसका कारण न समझ पाने के कारण लोग उसे दोष कोटि में रखते हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि भारतीय काव्य दृष्टि को वैचित्र्य इष्ट नहीं है अपितु कवि, नायक वा आलंबन और पाठक वा श्रोता, इन तीन हृदयों का तादात्म्य अभिप्रेत है। उसे सत्वोद्रेक, रस संचार वा साधारणीकरण अपेक्षित है। महाकाव्य के लिए प्रख्यात वृत इसी लिए वर्ण्य बताया गया है कि उसके पात्रों के प्रति सहृदयों वा भावुकों में श्रद्धा-घृणा की भावना परम्परा प्रतिष्ठित रहती है। कवि का काम उनको उचित ढंग से चित्रित कर देना भर होता है। और फिर मानस की कथा का मुख्य प्रयोजन तो-जो नृप तनपत ब्रह्म किमि—का समाधान था। इसी लिए महाकाव्य के प्रतिपाद्य[2] को कवि ने सदैव संमुख रखा है—

एहि महं आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।।

बात यह है कि निर्गुन की महिमा[3] और सगुन का चरित[4] इन दोनों में सामंजस्य बैठा पाने में शिवचतुरानन तक असमर्थ हैं फिर 'आन जीव पामर का जाना' कहा भी है—

देखि चरित महिमा सुनत भ्रमित बुद्धि अति मोरि

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्रथम भाग) पृ० २३।

२. रामु सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई।।
जौं नृपतनय त ब्रह्म किमि नारि विरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि।।

३. बिनु पद चलै सुनै बिनु काना......।

४. जाकी सहज स्वास श्रुति चारी। सो प्रभु पढ़ यह कौतुक भारी।।

अतः 'मानस' के वक्ताओं को जो स्वयं कई बार राममाया के आखेट हो चुके हैं[1] अपने श्रोताओं को 'राम ब्रह्म परमारथ रूपा' का बारम्बार स्मरण दिलाना उचित ही है।

सम्बन्ध निर्वाह

सम्बन्ध-निर्वाह महाकाव्य का अनिवार्य तत्व होता है। साथ ही घटना और वर्णन का समुचित योग होना चाहिए।

आचार्य शुक्ल के अनुसार महाकाव्य में निम्नीय चार अवयवों का निवेश रहता है—(१) इतिवृत्ति (२) वस्तु व्यापार वर्णन (३) भाव-व्यंजना (४) संवाद।

कुशल कवि की कृति में इन अवयवों का उचित समीकरण रहता है।

(१) इतिवृत्त—से तात्पर्य कथावस्तु से है। जहाँ तक 'मानस' के इतिवृत्त की बात है इसमें कहीं क्रम नहीं बिगड़ने पाया है और कथा में कहीं जोड़ लखाई नहीं पड़ती। इस तत्व की उपेक्षा से प्रबन्ध काव्य प्रकीर्णक हो जाता है।

वस्तु व्यापार वर्णन

अयोध्यापुरी की शोभा, बाललीला, नखशिख, जनक की वाटिका, अभिषेकोत्सव आदि के वर्णन न तो अधिक लम्बे हो पाए हैं कि पढ़ते-पढ़ते जी ऊबने लगे और न तो परिपाटी पालन के नाम पर उन्हें चलता ही कर दिया गया है। संतुलन का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है।

संवाद

संवाद भी अधिक लम्बे नहीं हो पाये हैं और उनमें ओज प्रभविष्णुता आदि की उचित योजना मिलती है।

भावव्यंजना

कतिपय कार्य, प्रबन्ध काव्य में, भावव्यंजना में संयम नहीं रख सके हैं। समूचे काव्य का आधा हिस्सा उन्होंने भाव व्यंजना या वस्तुव्यंजना को अर्पित कर दिया है। उदाहरण के लिए आधुनिक काल के तीन प्रमुख महाकाव्यों को ले लीजिए—(१) प्रियप्रवास (२) साकेत (३) कामायनी।

प्रबन्ध काव्यों में कवि को इस बात पर हमेशा सतर्क दृष्टि रखनी पड़ती है कि उक्त चारों अवयवों में से किसी ने बढ़कर फीलपांव का रूप तो धारण नहीं कर लिया अथवा कोई अवयव इतना छोटा तो नहीं हो गया कि काव्य विकलांग हो गया। रचना कौशल, प्रबन्ध-पटुता, सहृदयता इत्यादि गुणों का समाहार जिस कवि में होगा निश्चय ही उसमें त्रुटियों की

---

१. 'विपुल बार जेहि मोहि नचावा'

कम गुंजाइश रहेगी। कहना न होगा कि तुलसीदास इन गुणों से सम्पन्न थे और उनका महाकाव्य इन दोषों से सर्वथा अछूता है।

मार्मिक स्थलों की पहिचान

मनुष्य मात्र के हृदय को स्पर्श करने वाले प्रसंगों—जनक की वाटिका में राम सीता का परस्पर दर्शन, रामवनगमन, दशरथ मरण, भरत की आत्मग्लानि, वन के मार्ग में स्त्री पुरुषों की सहानुभूति, युद्ध, लक्ष्मण को शक्ति लगना आदि—को कैसी रसात्मकता और मार्मिकता से उन्होंने रखा है। यह उनकी अन्तर्दृष्टि की सूक्ष्मता का सूचक है।

वाह्य दृश्य चित्रण

प्रबन्धगत पात्रों की अन्तर्वृत्तियों एवं उनके शील स्वरूप का उद्‌घाटन जिस प्रकार एक अनिवार्य कवि कर्म है उसी प्रकार उन पात्रों के शरीर सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण भी एक महत्वपूर्ण कवि धर्म। यही नहीं, कवि को प्रकृति के नाना रूपों का चित्रण इस रूप में करना पड़ता है कि काव्य के भावुक का हृदय उनका बिम्ब ग्रहण करने में समर्थ हो सके और अपनी रागात्मिका वृत्ति को लीन कर सके। यह काम सब कवियों के बूते का नहीं है। यह काम वही कवि सफलतापूर्वक कर सकता है, जिसमें सूक्ष्म निरीक्षण के साथ ही साथ प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करने वाली रागात्मिका वृत्ति हो। किसी वस्तु का वर्णन मुख्यतः दो प्रकार से होता है—(१) अर्थग्रहण द्वारा (२) बिम्बग्रहण द्वारा।

अर्थग्रहण से मतलब 'वस्तु' परिगणन शैली से है अर्थात् अनेक वस्तुओं या व्यापारों का नाम गिना देना—यथा 'कमल फूले हैं, भौंरे गूँज रहे हैं, आदि।

'बिम्बग्रहण' इससे सर्वथा भिन्न चीज है। आसपास की और वस्तुओं के बीज उसकी परिस्थिति तथा नाना अंगों की संश्लिष्ट योजना के साथ किसी वस्तु का जो वर्णन होगा, वही चित्रण कहा जायगा।[१]

यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी वालों में प्रकृति वर्णन और उसमें भी उसके संश्लिष्ट चित्रण का न तो उत्साह ही था और न क्षमता ही। शास्त्रस्थिति सम्पादन के अनुरोध से और यमक एवं श्लेष का 'करतब' दिखाने के लिए ही हिन्दी के कवि प्रकृति वर्णन की ओर उन्मुख हुए थे।

जहाँ तक गोस्वामी जी की बात है वे अपने समय की परिस्थिति से लाचार थे। किष्किन्धा, पंपासर आदि प्रकृति के रमणीय अंचलों में जाकर भी तुलसी के राम उनकी

---

१. लहराते हुए नीले जल के ऊपर कहीं गोल हरे पत्तों के समूह के बीच कमल नाल निकले हैं जिनके झुके हुए छोरों पर रक्ताभ कमल दल छितरा कर फैले हुए हैं।

—गोस्वामी तुलसीदास (आ० रामचन्द्र शुक्ल) पृ० १५०।

सुषमा में अपने को लीन नहीं करते। वर्षा, शरद् के वर्णन भी शुष्क प्रथा पालन रूप में मिलते हैं। वस्तु-परिगणन शैली का ही व्यवहार मिलता है। हाँ, गीतावली में आलंबन रूप प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण का थोड़ा प्रयास अवश्य लक्षित होता है। दृश्यों की स्थानगत विशेषता की ओर भी इन्होंने ध्यान दिया है। जैसे—चित्रकूट के वर्णन में कहीं एला, लवंग, पुंगीफल का नाम वे नहीं लाए हैं। जबकि केशवदास मगध में बेधड़क 'एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहैं, की स्थिति दिखा देते हैं। तुलसीदास जैसे वृक्षादि के उल्लेख में देशकाल का ध्यान रखते हैं वैसे ही ऋतु विशेष के वर्णन में भी सुनी सुनाई बातों वा रीति पर आँख मूँद कर नहीं चलते। इसी कारण वसन्त में मोर का कूजन और वर्षा में कोयल की कूक, उनके काव्यों में, काव्य परिपाटी के विरुद्ध सुनाई पड़ती है।

तुलसी के दृश्यचित्रण और वस्तु वर्णन की कतिपय विशेषताओं की ओर ध्यान दें—

(१) उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत आदि के द्वारा वस्तुओं और व्यापारों का बड़ा पूर्ण वर्णन हुआ है जिसका उल्लेख अलंकारों के प्रकरण में किया जायगा।

(२) अनुभाव रूप में बंधी परिपाटी पर तो मुद्राओं का चित्रण बहुतेरे कवियों ने किया है पर ऐसे चित्रण कवि का सूक्ष्म निरीक्षण नहीं प्रत्यक्ष करते। अनेक व्यापारों में मनुष्य की आकृति और मुद्रायें विभिन्न प्रकार की हो जाती हैं। मात्र परंपरा की लीक पीटने वाले कवि का ध्यान उधर नहीं जा सकता। गोस्वामी जी ने ऐसी मुद्राओं का भी रूप प्रत्यक्षीकरण किया है।[1]

(३) दृश्य प्रत्यक्षीकरण में भी हम उन्हें बहुत ही संयत पाते हैं। इनके वर्णन में उनकी परिष्कृत रुचि एवं शिष्टता का परिचय मिलता है। भोजनादि के वर्णनों में कितने कवियों ने बड़ा उत्साह दिखाया है जो काव्य शिष्टता के विरुद्ध है।[2]

(४) वस्तुओं की लम्बी फिहरिस्त पेश करना भी भद्दी रुचि का परिचायक माना गया है। हिन्दी में सूदन कवि और महाराज रघुराजसिंह इसके लिए बदनाम हैं। वस्तुओं की लम्बी नामावली देकर कवि शायद पाठकों पर अपनी विभिन्न व्यवसाय क्षेत्रों की जानकारी

---

१. माथे हाथ मूंद दोउ लोचन। तनुधरि सोच लागि जनु सोचन॥
कान मूंदि रद गहि कर जीहा। एक कहहिं यह बात अलीहा॥
लोचन सजल दीठि भइ थोरी।
कैकय सुता सुनत कटु बानी। कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी॥
तन पसेउ कदली जिमि कांपी। कुबरी दसन जीभ तब चांपी॥
कपट सनेहु बढ़ाइ बहोरी। बोली बिहँसि नयन मुहुं मोरी॥

२. दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादि विप्लवः।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गो मृत्यु रतिः तथा॥
—दे० गोस्वामी तुलसीदास (आ० शुक्ल) पृ० १५९।

प्रकट कर उन्हें आतंकित करना चाहते हैं। गोस्वामी जी इस भोंड़ी प्रवृत्ति से कोसों दूर रहे।

वस्तु प्रत्यक्षीकरण काव्य का साधन है, साध्य नहीं इसे सदैव ध्यान में रखना चाहिए। वैसे सभी विषयों की जानकारी, काव्य मीमांसा के अनुसार, कवि के लिए आवश्यक है।

रूप प्रत्यक्षीकरण वा नखशिख

भाव रस की भाँति व्यंग्य होते हैं। अतः अनुभावों आदि के वर्णन द्वारा ही काव्य में उनकी व्यंजना अभिप्रेत होती है। रूप चित्रण में हावों अनुभावों, चेष्टाओं, मुद्राओं और कार्य व्यापारों का वर्णन अपेक्षित होता है। आलंबनगत चेष्टाएँ उद्दीपन के भीतर एवं आश्रयगत चेष्टाएँ अनुभाव के अन्तर्गत आती हैं। इनमें भी वस्तुएँ दो रूपों में गृहीत होती हैं—(१) वस्तु रूप में (२) अलंकार रूप में। इनमें क्रमशः प्रस्तुत और अप्रस्तुत भी कह सकते हैं। एक बात और अनुभावों और हावों में अन्तर होता है। अनुभाव भाव प्रेरित होते हैं जबकि हाव स्वाभाविक। यही कारण है जो संस्कृत रीति ग्रन्थकारों ने हावों को अलंकार कहा है। अनुभाव विधान एवं रूप चित्रण में स्वतंत्र अपेक्षण शक्ति अपेक्षित होती है। शास्त्र की बंधी परिपाटी वाला वर्णन उतना सरस नहीं होता।

'ब्रीड़ा' संचारी की मनोहर व्यंजना देखें। वनपथ में ग्रामीण स्त्रियाँ राम की ओर लक्ष्य करके सीताजी से पूछती हैं कि ये तुम्हारे कौन हैं। इस पर सीताजी लज्जा से संकुचित हो जाती हैं—

तिनहिं बिलोकि बिलोकति धरनी।
दुहुं संकोच संकुचति बर बरनी॥

विलोकति धरनी बड़ी ही स्वाभाविक मुद्रा है। इस मुद्रा से असमंजस की स्थिति व्यंजित होती है। आगे राम का परिचय वे देती हैं।

बहुरि बदन बिधु अंचल ढांकी। पियतन चितै भौंह करि बांकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि॥

कुल बधू के शील की कितनी मधुर व्यंजना हुई है इन पंक्तियों में। ये शृङ्गारिक चेष्टाएँ अनुभाव के भीतर आवेंगी न कि हाव के भीतर। विभिन्न भावों को अभिव्यंजित करने वाली कुछ मुद्रायें, यहाँ 'मानस' से और उद्धृत की जा रही हैं—

(१) **बैठि नमित मुख सोचति सीता। रूप रासि पति प्रेम पुनीता॥**
चारु चरन नख लेखति धरनी। नूपुर मुखर मधुर कवि बरनी॥
मनहुं प्रेम बस बिनती करहीं। हमहि सीय पद जनि परि हरहीं॥

(२) **फेरति मनहुं मातु कृत खोरी। चलत भगतिबल धीरज धोरी॥**

जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाउ॥
भरत दसा तेहि अवसर कैसी। जल प्रवाह जल अलि गति जैसी॥
(३) भल दिन आजु जानि मनमाहीं। रामु कृपाल कहत सकुचाहीं॥
गुरु नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि विलोकी॥
सील सराहि सभा सब सोची। कहुंन राम सम स्वामि संकोची॥
(४) वेदी पर मुनि साधु समाजू। सीय सहित राजत रघुराजू॥
बलकल बसन जटिल तनुस्यामा। जनुमुनि वेश कीन्ह रतिकामा॥
कर कमलनि धनु सायक फेरत। जिय की जरनि हरत हंसि हेरत॥
(५) अंगद हृदय प्रीति नहिं थोरा। फिरिफिरि चितव राम की ओरा॥
बारबार कर दंड प्रनामा। मन अस रहन कहहिं मोहि रामा॥
(६) उठे रामु सुनि पेम अधीरा। कहुं पट कहुं निषंग धनु तीरा॥

काव्य के भेद के अंतर्गत, महाकाव्य की विशेषताओं के सन्दर्भ में, प्राचीन और अर्वाचीन दृष्टियों से, कुछ विवेचन प्रस्तुत किए गए। अब काव्य के हेतुओं पर विचार किया जायगा।

काव्य के हेतु

जैसे मानव शरीर दुर्लभ बताया गया है[1] वैसे ही कवित्व शक्ति भी।[2] सांसारिक द्वन्द्वों का—जगत् के नानाविध स्थूल और सूक्ष्म सुखद और दुखद अर्थों का संवेदन हम सभी करते हैं पर उसे प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त सभी नहीं कर सकते। ऐसे बड़भागी कम होते ही हैं जिनका शोक भी श्लोक बन जाता है और रोज रोज की अनुभूत और सर्वथा देखी-सुनी वस्तु भी जिनकी वाणी का विषय बनकर बिलकुल नई सी जान पड़ती है। वह कौन सी शक्ति है जिससे संवलित होकर कोई व्यक्ति कवि बन जाता है और युग युगों तक रसिकों की रसना पर चढ़ा रहता है। वह शक्ति है प्रतिभा[3] निपुणता आदि। कुछ लोग शक्ति[4] एवं प्रतिभा[5] को

---

१. नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही—"मानस"

२. नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्रापि दुर्लभा—अग्निपुराण

३. शक्तिर्निपुणता लोकः शास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतु स्तदुद् भवे॥—काव्य प्रकाश १ पृ० १७।

४. मनसि सदा सुसमाधिनी विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥—काव्यालंकार

५. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रस परिग्रहात्।
सर्वे नवा इवा भान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥—ध्वन्यालोक।

भिन्न-भिन्न तत्व निर्दिष्ट करके शक्ति को मुख्य और कवित्व का वीजभूत संस्कार ठहराते हैं।[१] इस शक्ति अथवा प्रतिभा को कुछ लोग जन्मान्तरीय संस्कार मानते हैं, कुछ आचार्य इष्टदेव का प्रसाद एवं कुछ विद्वान् अभ्यास के द्वारा अर्जित शक्ति। उनके अनुसार सहजा और उत्पादा करके दो भेद प्रतिभा के होते हैं। जो हो, मुझे यहाँ काव्य प्रकाशगत हेतुओं के प्रकाश में ही प्रस्तुत प्रसंग की निरख परख करनी है। मम्भट के अनुसार काव्य का वीजभूत कारण शक्ति है, जिसके विना काव्य रचना हो ही नहीं सकती अथवा होती भी है तो उपहास योग्य।

(२) दूसरा सहायक कारण है लोक व्यवहार ज्ञान। लोक निरीक्षण। अर्थात् छन्द, व्याकरण, अभिधानकोश, कला, चतुवर्ग, हाथी, घोड़ों एवं खड्ग आदि के लक्षण ग्रन्थों, महाकवियों की कृतियों और इतिहासादि के अध्ययन के उत्पन्न ज्ञान। इसे व्युत्पत्ति, अथवा निपुणता भी कहते हैं।[२]

(३) तीसरा सहायक कारण है काव्य के रचयिताओं एवं उसके उस्तादों से रचना-विधि सीखना और उन विधियों का बार-बार अभ्यास। ये तीनों कारण स्वतंत्र नहीं अपितु एक दूसरे के पूरक हैं। समष्टि रूप में ये तीनों ही मिलकर काव्य निर्माण हेतु होते हैं। न्याय के पारिभाषिक शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि काव्य में उक्त हेतुओं की कारणता चक्रचीवरादिन्याय से है तृणारणि मणिन्याय से नहीं।[३] भिखारीदास ने काव्य रथ का रूपक बाँध कर इसको अच्छी प्रकार समझाया है।[४]

---

१. देखिए डा० राममूर्ति त्रिपाठी कृत 'भारतीय साहित्य दर्शन' पृ० ३८।

२. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने निपुणता के तीन भेद किए हैं—(१) लोक का निरीक्षण (२) शास्त्रों का अनुशीलन (३) काव्य परंपराका अध्ययन (दे० वाङ्मय विमर्श, पृ० १०) निरीक्षण के भी दो भेद हैं—(१) निरीक्षित वस्तु को हृदयंगम करने की शक्ति (२) प्रत्येक परिस्थिति में अपने को डाल कर उसकी अनुभूति कर सकने की क्षमता। पहली के अनुसार आलंबन या वर्ण्यविषय के सूक्ष्म से सूक्ष्म ब्योरों का ज्ञान अपेक्षित है और दूसरी के अनुसार भावग्राहकता। पहली में बुद्धि तत्व का योग है और दूसरी में हृदयतत्व का। पहली ज्ञान प्रधान है और दूसरी भाव प्रधान। इसी प्रकार निरीक्षण के लिए बोध-वृत्ति और रागवृत्ति दोनों का योग आवश्यक है। लोक का निरीक्षण करने पर भी शास्त्र का अनुशीलन आवश्यक हुआ करता है क्योंकि शास्त्र का अनुशीलन किए बिना व्यक्त करने की प्रणालियों, प्रवृत्तियों का सम्यक् ज्ञान हो पाता, आंखें नहीं खुलती।

३. दे० भा० सा० द० पृ० ३७—डा० रा० मू० त्रि०

४. सक्ति कवित्त बनाइबे की जिहि जन्म नछत्र में दीनी विधातें।
काव्य की रीति सिख्यो सुकवीन सों देखी सुनी बहुलोक की बातें।

प्रताप साहि के भी विचार द्रष्टव्य हैं।[1]

जहां तक गोस्वामी जी की बात है वे काव्य हेतु की उक्त त्रयी को महत्व देते हैं। इनमें प्रतिभा को वे मुख्यता प्रदान करते हैं। यह प्रतिभा जन्मान्तर संस्कार भी हो सकती है और प्रसादज भी—

सारद दास नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी।।
जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी।।

आप बीती वे लिखते हैं—

कवि न होउं नहिं वचन प्रवीनू।
सकल कला सब विद्या हीनू।।

पर

संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी।।

शिवजी की कृपा से 'सुमति' का कारयित्री प्रतिभा का हृदय में स्फुरण हुआ और फल स्वरूप सब कलाओं और सब विद्याओं से हीन एवं कवि कर्म और वचन प्रवीणता से रहित तुलसी 'रामचरित मानस जैसे महाकाव्य का कवि हो गया। सरस्वती कठपुतली की भांति है, राम सूत्रधार हैं। वे जिस पर कृपा करते हैं उसके हृदय रूपी आंगन में सरस्वती

'दासजू' जामे एकत्र ये तीन्यो बने कविता मन रोचक तातें।
एक बिना न चलै रथ जैसे धुरन्धर सूत कि चक्र नियातें।
दे० भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा पृ० ४२८ (काव्य निर्णय पृ० ५)

१. बीजमूल है कविता को सोई शक्ति गनाय।
वाच्य चमत्कृत रूप जहं जामे उपजल जाय।।
सुहै शक्ति द्वै भांति की कनिष्ठा यक जानि।
श्रोत्र-विद्ध दूजी कहत कवि कोविद पहिचानि।।
बिना शक्ति की काव्य जो छंद प्रबंध बनाइ।
सुहृदै मन रंजन अनहि उपहसनीय कहाइ।।
कोस व्याकरण काव्य पुनि शास्त्र कला अवगाहि।
यह गव षंड प्रमाण लहि कहत निपुनता ताहि।।
जो विचार निसिदिन करत करत काव्य अभिराम।
लहि सिक्षा उपदेश नित कहि अभ्यास सुनाम।।
कवित होत है सक्ति सों बढ़त म्यास संजोग।
वितपतिजे अति चाहना कहत सयाने लोग।।
—काव्य विलास, प्रताप साहि

—दे० भारतीय काव्य शास्त्र की परंपरा पृ० ४३७।

को नचाते हैं। भक्त से ध्यान करते ही बेचारी सरस्वती पति को छोड़ कर दौड़ी चली आती है।[१] पर जो कवि अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग करते अर्थात् प्राकृत जनों का गुणगान करते हैं, वे सरस्वती को व्यर्थ कष्ट देने के अपराधी हैं। गोस्वामी जी की दृष्टि में विमल विवेक धरम नय साली' काव्य ही प्रशस्त है। उनके अनुसार[२] हृदय सिन्धु है, मति सीप के समान है और सराचती स्वाती नक्षत्र है। यदि वह सुन्दर विचार रूपी वर्षा कर दे तो कवित्त रूप सुन्दर मुक्तामणि उत्पन्न होती है। पर यह तभी संभव है जब भगवत्कृपा हो।[३] यद्यपि प्रतिभा कविता की मूलभूत कारण है पर जैसे मोती सीपी से निकाले जाने पर तत्काल उपयोगी नहीं होता, व्यवहार योग्य बनाने के लिए उसके कुछ और संस्कार किए जाते हैं वैसे ही कविता भी निपुणता और अभ्यास से सुसंस्कृत की जाती है।[४]

निपुणता में शास्त्र और लोक का निरीक्षण सम्मिलित है। सो गोस्वामी जी का 'मानस' न केवल नाना पुराण निगमागम सम्मत और 'छइउ शास्त्र सब ग्रन्थनि को रस है' अपितु 'कहौं प्रतीति प्रीति रुचि मन की' भी है। अर्थात् कवि ने आंख मूंद कर शास्त्रों की बातें नहीं दुहराई हैं वरन् आंख खोलकर जगत के नाना अर्थों का निरीक्षण किया है। यही कारण है कि उन्होंने वर्षा में कोयल की बोली बन्द नहीं कराई है। अभ्यास पर भी आपने जोर दिया है।[५] मानस के चरितनायक राम परात्पर ब्रह्म होते हुए भी गुरु के घर जाकर विद्याभ्यास, लोक संग्रह के लिए, करते हैं।[६]

---

१. भगत हेतु विधि भवन विहाई। सुमिरत सारद आवत धाई।
कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥—मानस: बालकांड।

२. हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।
जो बरषइ बरवारि विचारू। होहि कवित्त मुकतामनि चारू॥—मानस: बालकांड।

३. अस संयोग जब देइ विधाता। तब तजि दोष गुनहि मन राता॥

४. जुगुति बेधि पुनि पोहि अहिं राम चरित बरताग।
पहिरहिं सज्जन विमल उर सोभा अति अनुराग॥
पावन पर्वत वेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ज्ञान विराग नयन उरगारी॥
भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मति सब सुख खानी॥ वही।

५. मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउं अचेत॥
श्रोता बकता ज्ञान निधि कथा राम कै गूढ़।
किमि समुझौं मैं जीव जड़ कलिमल ग्रसित विमूढ़॥
तदपि कहीं गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥ वही।

६. गुरुगृह गए पढ़न रघुराई। अल्पकाल विद्या सब आई॥
जाकी सहज स्वांस श्रुति चारी। सौ प्रभु पढ़ यह कौतुक भारी॥—मानस: अयो० कांड

तृतीय अध्याय

रामचरित मानस में काव्य के प्रमुख सातों तत्वों का निवेश गोस्वामी जी ने पूरी सहृदयता और निपुणता के साथ किया है। यहां सैद्धान्तिक समीक्षा इष्ट है अतः उदाहरणों को उद्धृत करने का अवकाश संभवतः कम ही मिलेगा।

भावभेद रसभेद अपारा

प्रत्येक विचार अपना एक दर्शन रखता है। इस नियम के अनुसार भारतीय साहित्य शास्त्र का रसवाद भी दर्शनों की दृढ़भूमिका पर आधृत है। रस पर जो व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं वे सभी अपने व्याख्याताओं के दार्शनिक मतवादों से प्रभावित हैं। मुख्य रूप से रस पर न्याय, सांख्य, द्वैतवाद, प्रत्यभिज्ञा और अद्वैत का प्रभाव लक्षित होता है। इन दृष्टियों पर यहां संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

न्यायदर्शन और रस

न्यायदर्शन द्वैतवाद के अन्तर्गत माना जाता है। दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति उसका लक्ष्य है। जीव मुक्त होने पर दुःख-सुख रूप विशिष्ट गुणों से हीन हो जाता है। फिर आनन्द की प्राप्ति उसके लिए संभव नहीं। क्योंकि आनन्द के साथ राग का सम्बद्ध है और राग बंध का कारण है। एतावता मोक्ष को सुखात्मक मानने से उसके साथ राग का सम्बन्ध अवश्यम्भावी हो जायगा और जहां राग होगा वहां बन्धन की स्थिति अनिवार्य है।

'काम अछत सुख सपनेहुं नाहीं'

कहा जा सकता है कि 'आनन्द ब्रह्म' कह कर श्रुतियां तो ब्रह्म में आनन्द का आरोप करती हैं पर यहां उनका तात्पर्य सत्तात्मक न होकर निषेधात्मक है। दुःखनिवृत्ति बोधक है। जैसे व्यवहार में बराबर देखा जाता है कि सिर की पीड़ा वा ज्वर की निवृत्ति होने पर लोग अपने को सुखी मानने लगते हैं जबकि होता है वास्तव में दुःख का अपनयन या निषेधात्मक व्यापार। पर मानते हैं लोग सुख का उदय रूप सत्तात्मक व्यापार। ठीक वैसे ही मोक्ष के तथाकथित सुख को भी—'न यत्र दुखं न सुखं न चिन्ता न द्वेष रागो न च काचिदिच्छा' की अवस्था को भी उपचारतः आनन्द रूप मान लेते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात हुआ कि न्याय दर्शन में आनन्दमय रस के लिए गुंजाइश नहीं है। क्योंकि दुःखमय संसार में आनन्द की प्राप्ति संभव नहीं और मोक्ष की अवस्था यतः दुःख सुख से हीन होती है अतः वहां आनन्द की आशा आकाश कुसुमवत ही समझनी चाहिए।

वेदान्तियों और प्रपत्तिवादी वैष्णवों ने इस निरानन्द मुक्ति की बड़ी खिल्ली उड़ायी है।

न्याय दर्शन की दृष्टि से रस मीमांसा प्रस्तुत करने वाले आचार्य हैं शंकुक जिनकी मान्यता है कि नाट्यकौशल से पहले नट में और तदनन्तर सामाजिक में अनुमान के द्वारा रसनिष्पत्ति होती है। अनुमितिवाद के प्रवर्तक ये ही आचार्य हैं। इनका बड़ा ही युक्तियुक्त खंडन भट्टनायक ने किया है। कहना न होगा कि साहित्य जगत में अनुमितिवाद आदर नहीं पा सका।

अभिनव ने शंकुक के रसानुकरण को साररहित ठहराते हुए पूछा है कि स्थायी भाव के अनुकरण को रस कहते हैं, यह सिद्धान्त आखिर किस दृष्टि से शंकुक ने स्थिर किया है? सामाजिक दृष्टि से, नट की दृष्टि से, वस्तुस्थिति के विवेचक व्याख्याताओं की दृष्टि से अथवा भरत मुनि की दृष्टि से? इन चार मुद्दों पर अभिनव गुप्त की आलोचना द्रष्टव्य है।

किसी वस्तु के प्रमाण से ग्रहण होने पर वह (वस्तु) अनुकरण है यह कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ 'जैसे मैं दूध पी रहा हूँ, वैसे ही वह शराब पीता है'। यहां सुरापान के अनुकरण रूप में दुग्धपान प्रत्यक्ष दिखलाई दे रहा है। पर नट में तो उसका शरीर, उसके मुकुटादि, उसके अनुभाव, कोई भी चित्तवृत्ति रूप रत्यादि के अनुकरण रूप में किसी को प्रतीत नहीं होता। शरीरादि का ग्रहण हम नेत्रादि से और रत्यादि भावों का ग्रहण मन से करते हैं। अतः शरीरादि और रत्यादि में अन्तर सिद्ध है। दूसरे मुख्य (अनुकार्य) तथा अमुख्य (अनुकरण) दोनों को देखने पर यह उसका अनुकरण है, यह प्रतीत होता है। पर यहां रामगत रति रूप (मुख्य अनुकार्य) को (सामाजिकों में से) किसी ने नहीं देखा है, अतः रस अनुकरण रूप नहीं है।

यदि नट की दृष्टि से रस को अनुकरणात्मक माना है तो भी ठीक नहीं क्योंकि सामाजिक की दृष्टि में नटगत रत्यादि अपने प्रसिद्ध कारण अर्थात् वास्तविक विभावादि से उत्पन्न होने के कारण वास्तविक रत्यादि रूप ही है, रत्यादि के अनुकरण रूप नहीं।

व्याख्याताओं की दृष्टि से वस्तुस्थिति के अनुसार स्थायी भावों का अनुसरण नहीं हो सकता क्योंकि बाद को प्रतीत होने वाले को वस्तुवृत्त नहीं कह सकते।

भरत की दृष्टि से शंकुकवादी कहते हैं कि जैसे कान्तादि के वेषादि का अनुकरण संभव है वैसे ही स्थायी भावों का भी अनुकरण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त

'सपृद्धपानुकरणं नाटयमेतद् भविष्यति' के अनुसार संसार की सभी बातों का जब नाटक में अनुकरण होना बताया है तब स्थायी भावों का अनुकरण न हो पाना समझ में नहीं आता। अभिनव गुप्त उक्त उभय तर्कों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि पहले तो तर्क से यह सिद्ध नहीं होता कि स्थायी भाव के अनुकरण को रस कहते हैं और यदि दूसरे तर्क को मान लें एवं उसके अनुसार स्थायी भाव का अनुकरण भी संभव है, यह स्वीकार कर लें तो भी स्थायी भाव को रस कैसे कह सकते हैं। जैसे कान्तावेष का अनुकरण करते हैं पर उसका कोई भिन्न नामकरण नहीं करते वैसे ही स्थायी भाव का अनुकरण संभव मान लेने पर भी उसे 'रस' नाम से अभिहित करना आवश्यक नहीं। अभिनव गुप्त ने शंकुक के मत की दार्शनिक दृष्टि से भी समीक्षा की है।

सांख्य मतानुसार संसार की सभी वस्तुएँ त्रिगुणात्मक-सुख-दुःख मोहात्मक-हैं। अतः रस भी त्रिगुणात्मक हुआ। इसमें विभावादि भाव स्थानीय हैं, अनुभाव, व्यभिचारी भाव छौंक सदृश हैं और स्थायी भाव वाह्य सामग्री जन्य है। इस सिद्धान्त में सबसे बड़ा दोष यह है कि जिन स्थायी भावों को भरत मुनि ने पहले ही से विद्यमान माना है और जो रसत्व को प्राप्त होते हैं उन्हीं स्थायी भावों को ये बाहरी सामग्री से उत्पन्न मानते हैं।

इन सबके अतिरिक्त शंकुक का सिद्धान्त प्रतीति वैषम्य दोष से भी ग्रस्त है। एक ही ज्ञान में तीन विरुद्ध प्रकार की प्रतीतियों की सत्ता दोषवह होती है।

सांख्य और रस

मुक्तिवादी भट्टनायक सांख्य मतानुयायी कहे जाते हैं पर रसवाद का सांख्य कुछ हद तक ही साथ दे सकता है।

भट्टनायक का भोग व्यापार 'सत्वोद्रेक प्रकाशानन्दमय संविद् विश्रान्ति रूप है अर्थात् सत्व के उद्रेक से ही, रस की मुक्ति में, आनन्दमयी संवित का उदय होता है। सत्व, रज और तम इन त्रिविध गुणों में केवल सत्व ही सुखात्मक है। अतः उसका अतिरेक होने पर सुख की प्राप्ति स्वाभाविक ही है। यहां तक तो अभिनव गुप्त भी सहमत हैं पर आगे मतभेद की शृङ्खला शुरू हो जाती है। रसानुभूति के लिए प्रथम पार्थक्य फिर संयोग अनिवार्य है।

सांख्य मतानुसार आरंभ से ही पुरुष प्रकृति के साथ संयुक्त रहता है। परन्तु यह अज्ञान दशा होती है। इसमें रसोन्मीलन नहीं हो सकता। पुरुष वैसे स्वभावतः निस्संग और युक्त है पर अविवेक उसे प्रकृति के साथ आरंभ से ही मुक्त कर देता है। विवेक ज्ञान उत्पन्न होने पर पुरुष प्रकृति से अपना सम्बन्धविच्छेद कर लेता है। उसके लेखे मानो प्रकृति का कोई व्यापार ही नहीं होता। अर्थात् सांख्य के अनुसार अपवर्ग का स्वरूप हुआ पुरुष और प्रकृति का वियोग, पुरुष का एकाकी भाव से अपने स्वरूप में स्थित होना। 'नास्मि' 'नाई' और 'नमे' के भाव में स्थित हो प्रकृति के व्यापार से विरत हो जाना।

सोचने की बात है कि ऐसी स्थिति में पहुँचा हुआ पुरुष रस की अनुभूति कैसे कर सकता है क्योंकि रसानुभूति के लिए पहले वियोग तदनन्तर संयोग होता है। वह भी अज्ञान-मूलक और फिर पार्थक्य। पार्थक्य होने पर संयोग सुख सपना हो जाता है।

'रस के लिए चाहिए प्रकृति पुरुष का ज्ञानपूर्वक ६३ का सम्बन्ध। परन्तु सांख्य युक्ति में विद्यमान रहता है पुरुष प्रकृति का ज्ञानपूर्वक ३६ का सम्बन्ध। अतः सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार रस की यथार्थ निष्पत्ति सिद्ध नहीं की जा सकती।[1]

रस और प्रत्यभिज्ञा

पं० बलदेव उपाध्याय ने भारतीय साहित्य शास्त्र में अलंकार कौस्तुभ के आधार पर अभिनव गुप्त के रसमत की बड़ी सुबोध और मार्मिक व्याख्या की है। 'कौस्तुभ' कार ने 'आस्वादांकुरकंद' नामक एक स्थायी भाव की कल्पना की है। यही 'कन्द' रसावस्था में आस्वाद का अंकुर उत्पन्न करता है। चित के रज और तम से निवृत्त होकर शुद्ध सत्व में प्रतिष्ठित होने पर उसकी जो विशिष्ट अवस्था होती है उसे ही 'आस्वादांकुर कन्द' कहते हैं।[2] यह अवस्था रसानन्द के उदय के पूर्व की अवस्था है। यह स्थायी भाव ही विभावों की सहायता से रस रूप में परिवर्तित हो जाता है—

'आस्वादांकुर कन्दौऽसौ भावः स्थायी रसायते'[3]

आनन्दधर्मा होने के कारण रस तो एक ही है पर भाव उपाधिरूप होते हैं। जैसे स्फटिक मणि जवाकुसुमादि के बीच अनेक वर्णों की भासित होती है और सूर्य का प्रतिबिम्ब जैसे उपाधि-भेद से विभिन्न रंगों का प्रतीत होता है वैसे ही उक्त स्थायीभाव एक होने पर भी रति, उत्साह, भय आदि भावों के कारण शृङ्गार वीर, भयानक आदि रस के रूप में भासता है। रसगत समस्त भेद उपाधिजन्य हैं, स्वगतजन्य कोई भी भेद नहीं है।[4]

रस वस्तुतः एक ही है, अन्य रस उस मूल रस के विकार मात्र हैं।[5]

---

१. दे० भारतीय साहित्य शास्त्र पृ० ६३१।

२. आस्वादांकुर कन्दोऽस्ति धर्मः कश्चन चेतसः।
रजस्तमोभ्यां हीनस्य शुद्ध सत्त्वतया सतः।।—अलंकार कौस्तुभ का० ६६।
दे० भारतीय साहित्यशास्त्र प्रथम अ० पृ० ६२९।

३. अलंकार कौस्तुभ कारिका ६२।

४. रसस्य ह्यानन्द धर्मात् एकध्य भाव एवहि।
उपाधि भेदान्नानात्वं रत्यादय उपाधयः।।—अलंकार कौस्तुभ कारिका ७१।

५. रत्यादयः स्थायिनः यथा नाना विध शराव सलिल तारतम्येऽपि तरणि बिम्ब एक एव। तथा उपाधिगत एव भेदनानन्द कृतो रसस्य।

'जिमि घट कोटि एक रवि छाहीं'

रस और वेदान्त-संसार में तीन प्रकार के आनन्द होते हैं—(१) विषयानन्द, (२) ब्रह्मानन्द और (३) रसानन्द।

विषयानन्द कामना मूलक है। ब्रह्मानन्द में कामना वा वासना का क्षय नितान्त आवश्यक है—काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं पर रसानन्द में कामना वा वासना का सर्वथा क्षय नहीं होता अपितु साधारणीकरण व्यापार से उसका विशोधन हो जाता है जिससे वह आद्यन्त मंगलकारी हो ब्रह्मानन्द सहोदर बन जाता है।

यही कारण है कि लोक में जिस सिंह गर्जन को सुन कर हम थर-थर काँपने लगते हैं उसी गर्जन को नाटक में सुनकर रसमग्न हो जाते हैं।

वेदान्त दर्शन के अनुसार ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी भंग होने पर ही ब्रह्मानन्द की अनुभूति संभव है। पर रसोन्मेष के लिए त्रिपुटी की सत्ता अक्षुण्ण रहनी आवश्यक है। रसोन्मीलन की स्थिति में प्रमेय रस, प्रमाता सामाजिक और प्रभा विद्यमान रहती ही है। उसमें अपर प्रमाता परप्रमाता के रूप में केवल बदल जाता है, पर उसके प्रमातृत्व का उपशम नहीं होता। मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार भी रसदशा में अन्यवेद्य पदार्थ का स्पर्श तक नहीं रहता।[1] दूसरे शब्दों में ब्रह्मानन्द प्रपंचातीत आनन्द है और रसानन्द प्रपंचगत आनन्द है। पहले का अधिकारी मुक्त पुरुष है पर दूसरे का आस्वाद बद्ध पुरुष भी ले सकता है। जैसाकि पहले निवेदन किया है कि लोकगत क्लेशजनक भाव भी काव्यगत होकर सुखकर हो जाते हैं—

बोध्यनिष्ठा यथा स्वंते सुख दुःखादि हेतवः।
बोद्धृ निष्ठास्तु सर्वेऽपि सुख मात्रैक हेतवः॥[2]

अर्थात् बोध्य (लौकिक काव्य या अलौकिक वेदादि) में रहने वाले रत्यादि सुख-दुःख आदि उत्पन्न करने वाले होते हैं किन्तु बोद्धृ (सामाजिक) में रहने पर वे केवल सुखजनक ही होते हैं। वेदान्तियों की दृष्टि में भी विभावों, अनुभावों और व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर सुख रूप से व्यक्त होने वाला स्थायी भाव ही रस कहलाता है।[3] भौतिक वाह्यपिंड का

आनन्द धर्मत्वात् चरमानन्द रूपत्वात् एकध्यम् एकविधत्वम् रसस्य।
वृत्ति पृ० १३०। दे० भारतीय साहित्य शास्त्र, प्रथम अध्याय पृ० ६४०।

१. तत्काल विगलित परिमित प्रमातृ भाववशोन्मिषित वेद्यान्तरस सम्पर्क शून्या परिमित भावेन प्रमाण वेद्यान्तर स्पर्श शून्यः भारतीय साहित्यशास्त्र पृ० ६३४।

२. दे० भक्ति रसायन ३।५।

३. विभावैरनु भावैश्च व्यभिचारिभिरप्युत।
स्थायी भावः सुखत्वेन व्यज्यमाना रसः स्मृतः॥ भक्ति रसायन ३।२।

नाश होने पर भी मनोमय सूक्ष्म पिंड रहता ही है। वह नष्ट नहीं होता। इसी लिए विद्वानों ने स्थायी भाव रूप में इसी का निरूपण किया है।[१]

वेदान्ती भी दूध का दही रूप में परिणत होने की भाँति भाव का रस में अभिव्यक्त होना मानते हैं। उनकी अभिव्यक्ति दीपक के प्रकाश में घटादि की अभिव्यक्ति जैसी नहीं है। घट-दीपक न्याय में दोनों की (घट और दीपक की) अलग-अलग सत्ता सूचित होती है पर दूध का दही होना कनक-कुंडल न्याय से एक ही वस्तु का उपाधि भेद से भिन्न नाम रूप धारण कर लेना है। इस दृष्टान्त से तात्पर्य निकलता है कि सुख आत्मस्वरूप है।

इसलिए उसका कोई आधार नहीं होता। किन्तु सुख को व्यक्त करने वाली वृत्ति का आधार सामाजिकों का मन है।[२] पंडितराज जगन्नाथ भी रस के वेदान्ती व्याख्याता हैं। वे सामाधि के निर्विकल्प और सविकल्प करके दो भेद मानते हैं। निर्विकल्प समाधि में ज्ञाता और ज्ञेय का अनुसन्धान नहीं रहता पर सविकल्प समाधि में रहता है।[३]

सामाजिक काव्य या नाटक के रसानन्द का आस्वादन सविकल्पक योगी की भाँति करता है। इस प्रकार ब्रह्मानन्द से काव्यानन्द का पार्थक्य स्पष्ट हो गया। अब रहा विषयानंद सो विषयानन्द अन्तःकरण ये युक्त चैतन्य रूप होता है पर काव्य रसानन्द शुद्ध चैतन्य रूप होता है। अन्तःकरण की वृत्तियों के साथ उसका योग नहीं होता। रसानुभूति की अवस्था में चित्तवृत्ति आनन्दमयी हो जाती है और यह आनन्द अनवच्छिन्न रहता है। अन्तःकरण की वृत्तियों से इसका अवच्छेद नहीं होता। अतः लौकिक आनन्द से रसानन्द की विशिष्टता स्फुटतर है।[४]

---

१. वाह्यपिंडस्य नाशेऽपि तिष्ठत्येव मनोमयः।
अतः स्थायी" ति विद्वद्भिरयमेव निरूपितः॥—भक्ति रसायन १।६।

२. सुखस्यात्म स्वरूपत्वात्तदाधारो न विद्यते।
तद् व्यंजिकायावृत्तेस्तु सामाजिक मनः प्रति॥—३।३ भक्ति रसायन

३. विभावादि चर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निज सहृदयतावशोन्मिषितेन तत् स्थायुपहित स्व स्वरूपानंदाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्ति रूपजायते, तन्मयी भवनमिति यावत्। रसगंगाधर। भारतीय साहित्यशास्त्र पृ० ६३६।
समाधौ सविकल्पक समाधौ निर्विकल्पके तदनंगीकारादिनिवोध्यम् नागेशकृत व्याख्या। दे० भा० सा० शा०।
इयं च परम ब्रह्मा स्वादात् समाधेर्विलक्षणा। विभावादि विषय संवलित चिदानंदालम्बनत्वात्। दे० भारतीय साहित्यशास्त्र पृ० ६३६।

४. आनंदोह्ययं न लौकिक सुखान्तर साधारणः, अन्तःकरण वृत्ति रूपत्वात्—रसगंगाधर पृ० २२। भा० सा० शा० पृ० ६३७।

चैतन्य अज्ञान के आवरण से आच्छादित रहता है। विभावादि व्यापार के द्वारा उक्त अज्ञानावरण के हटने पर और चैतन्य का स्थायीभाव के साथ संयोग होने पर रसानुभूति होती है। श्रुतियां तो रस को ही ब्रह्म कहती हैं—'रसोवैसः'

रत्याद्यवच्छिन्न भग्नावरणाचिद् एव रसः'

रस पर ब्रह्म के आनंद की अभिव्यक्ति है एतावता वह सदैव आनन्ददायक होता है। क्योंकि वेदान्त में जिस पर ब्रह्म को अक्षर, सनातन, अज, विभु, चैतन्य, ज्योति आदि नामों से पुकारते हैं उसका सहज स्वभाव आनन्द ही है। काव्य नाटकादि में यही आनन्द चैतन्य, रस वा चमत्कार रूप में अनुभूत होता है।[1]

वेदान्त में ब्रह्मानन्द की उपलब्धि के लिए वासना क्षय अनिवार्य है—'काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं'। पर रस का मूलाधार वासना ही है जिसे साहित्य की पारिभाषिक शब्दावली में स्थायीभाव कहते हैं। अतः वेदान्त, रस का मौलिक विरोधी सिद्ध हुआ। परभावशोधन वाली प्रक्रिया से सकामवासना को निष्काम बना लेते हैं, जिससे सांप भी मर जाता है और लाठी भी नहीं टूटती। इस भाव शुद्धि को बौद्ध 'परावृत्ति' के नाम से, साहित्यिक साधारणीकरण के अभिधान से और आधुनिक मनोवैज्ञानिक 'सब्लीमेशन ऑव इंस्ट्रिक्टस' की संज्ञा से पुकारते हैं।[2]

श्री मधुसूदन सरस्वती का रस विवेचन

श्री मधुसूदन सरस्वती जी ने वेदान्त दृष्टि से रसवाद की बड़ी समीचीन और मार्मिक मीमांसा की है।[3] अतः उसे अविकल रूप से उपस्थित कर देना उचित होगा।

---

१. अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्। विदान्तेषुवदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दः सहज स्तस्य व्यज्यते सकदाचन। व्यक्तिः सातस्य चैतन्य चमत्कार साह्वयां॥
अग्निपुराण, अ० ३३९ श्लोक १-२।

२. दे० भारतीय साहित्य शास्त्र पृ० ६३३।

३. स्थायि भाव गिराऽतोऽसौवस्त्वाकारोऽभिधीयते।
व्यक्तश्चरसनामेति परानन्द तया पुनः॥९॥
द्रवावस्था प्रविष्ट विषयाकार स्थानपायित्वे स्थायिशब्दोऽपि तत्र मुख्य एव पारिभाषिक इत्याह—स्थायीति। विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगेनाभिव्यक्त स्थायि भाव एव सम्याभिनेयसोर्भेद तिरोधानेन सम्यगत एवसन् परमानन्द साक्षात्कार रूपेण रसता माप्नोतीति रसविदां मर्यादा।
तदुक्तमाचार्य भरतेन—
विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति। अतो भक्तेरपि रसतां वक्तुं स्थायिभावो निरूप्यत इति भावः॥९॥

'द्रुत चित में स्थित वस्तु को स्थायीभाव कहते हैं। वही स्थायीभाव परमानन्द रूप से व्यक्त होकर रसत्व को प्राप्त होता है। चित द्रवो भावावस्था में प्रविष्ट विषयाकारता भी अविनाशी होती है। इसलिए वहां भी स्थायी शब्द मुख्य परक ही है, पारिभाषिक नहीं।

भगवान् परमानन्द स्वरूप स्वयमेवहि।
मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलम् ॥१०॥
स्थायिभावस्य रसत्वोपपत्तये परमानन्द रूपतामुपपादयुति भगवानिति।
बिम्बमेव ह्युपाधिनिष्ठत्वेन प्रतीयमानं प्रतिबिम्ब मित्युच्यते। परमानन्देश्च भगवान् मनसि प्रतिबिम्बित स्थायि भावतामासाद्य रसतामासादयतीति भक्ति रसस्य परमानन्द रूपत्वं निर्विवादम्। नाप्यालम्बन विभावस्थायिभावयोरैक्यम् बिम्बे प्रतिबिम्ब भावेन भेदस्य व्यवहार सिद्धत्वादीशजीवयोरिव ॥१०॥
कान्तादि विषयेप्यऽस्ति कारणं सुख चिद्धनम्।
कार्याकारतया मानेप्यावृत्तं मायया स्वतः ॥११॥
नन्वेवंभगवदाकारस्य परमानन्द रूपस्य स्थायि भावत्वे भक्ति रसस्य परमानन्द रूपत्वमस्तु। कान्तादि विषयाणां तु शृंगारादि रसानामतथात्वात् कथं परमानन्द रूपते इत्यत आह-कान्ता दीति।
आनन्दाद्धेयव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दम् प्रयन्त्यभि संविशन्ती" (तै० उ०)
इत्यादि श्रुति इत्याह परमानन्द रूपं ब्रह्म जगदुपादानमिति प्रतिपादितम्। जन्माद्यस्य यत इति न्यायेन तथैव निर्णीतम्। उपाधानाभिन्नं च सर्वकार्यं मृद भिन्न घटवत् सर्वत्र दृष्टम् सर्वं खल्विदं ब्रह्म"। (छा० ३।१५)
इदं सर्वं यदयमात्मा। ब्र० सू० १।१।२। सदैव सोम्येद मग्र अस्ति। (छा० ६।२) इत्यादिच्छान्दोग्यादि श्रुतिभिश्च तथैव प्रतिपादितम्। तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य इति न्यायेन च निर्णीतम्। एवं सत्यप्यखंडानंदाद्वयाकारेणतदभावे हेतू मायानिमित्तावावरण। विक्षेपा वित्याह-कार्येति।
अकार्यस्यापि कार्याकारेणभानं विक्षेपः। अखंडानंदाकारेणस्वतो मावरणम्। तत्तुक्तम्-ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयैतनप्रतीयेत चात्मनि।
तद्विधादात्मनो मायां यथा भासो यथातमः॥ श्री० भा० २।९।३३ कथन्तर्हितस्य भानमित्यत आह-सदिति। अज्ञात ज्ञापकत्वेनैव हि सर्वेषां मानानां मानता, अन्यथा स्मृतेरपिमानतापत्तेः अज्ञातं च स्व प्रकाशतया भासमान चैतन्यमेव न ज म्, तस्यमाना प्रसक्त्या तत्रावरण कृत्याभावात्। अतः कान्तादिगोचरमाना नाम ज्ञात ज्ञापकत्वेन प्रामाण्यायतत्तदवच्छिन्न चैतन्यमेव विषयो वाच्यः, अन्यथा तद्योगात्। तथा च सात्विक्या प्रमाणजनिता परोक्षवृत्या वरणतिरोभावे सतितत्तद्विष यावच्छिन्नत्वैन भासते वस्तुतः परमानन्द

विभाव, अनुभाव और संचारी के भावों संयोग से अभिव्यक्त स्थायी भाव सभासद और अभिनेय का अभेद हो जाने से सभासदनिष्ठ हुआ ही परमानन्द साक्षात्कार रूप से रसता को प्राप्त होता है, ऐसा रसवेत्ताओं ने माना है। इसलिए आचार्य भरत ने कहा है—'विभाव, अनुभाव, संचारिभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है' अतः भक्ति की भी रसता का प्रतिपादन करने के लिए स्थायीभाव का निरूपण किया जाता है, यह तात्पर्य है।

स्थायीभाव की रसत्वसिद्धि के लिए परमानन्द रूपता का उपपादन करते हैं—भगवान् परमानन्दः।

बिम्ब (मुखादि) ही उपाधि (दर्पण आदि) में रहकर प्रतीत हुआ प्रतिबिम्ब कहलाता है। परमानन्द स्वरूप भगवान (बिम्ब) मन (रूप उपाधि) में प्रतिबिम्ब स्थायी भावना को पाकर के रसता को प्राप्त होता है। इसलिए भक्ति रस की परमानन्द रूपता निर्विवाद सिद्ध है।

यदि कहें कि भगवान को तो हमने आलंबन विभाव माना है उसी को स्थायी भाव मानेंगे तो आलम्बन विभाव और स्थायी भाव दोनों एक हो जायेंगे। उत्तर में निवेदन है कि नहीं। बिम्ब और प्रतिबिम्ब भाव मानने से दोनों में अन्तर व्यवहार से सिद्ध है। जैसे कि वेदान्ती और जीव में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव मानते हैं। तात्पर्य यह कि आलंबन विभाव बिम्ब और स्थायी भाव उसका प्रतिबिम्ब है।

कान्तादि लौकिक विषयों में भी रस की प्रतीति का कारण सुख स्वरूप चैतन्य घन ही है। किन्तु तदाकारता में ही अभेद होने पर भी स्वतः सिद्ध माया के आवरण से वह ढँका हुआ है।

इस प्रकार परमानन्द स्वरूप भगवदाकार के स्थायी भाव होने से भक्ति रस की परमानन्द स्वरूपता भले ही हो किन्तु कान्तादि विषयक शृङ्गरादि लौकिक रसों में तो स्थायी-भाव भगवदाकार नहीं होता, तब उनमें परमानन्द स्वरूपता कैसे मानी जाती है ?

उत्तर—'आनन्द से ही ये सब भूत (चराचर) उत्पन्न होते हैं।' आनन्द से ऊत्पन्न

रूपं विषयोपादान चैतन्यम्। अनवच्छिन्न स्वरूपा भावाच्च न सद्योमुक्ति स्व प्रकाशत्व भंगोवा ॥१२॥

ततः किमत आह-अतइति, विषयावच्छिन्न चैतन्यमेव द्रवावस्थ मनोवृत्यारूढ़तया भावत्वं प्राप्य रसतां प्राप्नोतीति न लौकिक रसस्यादि परमानन्द रूपत्वानुपपत्तिः अत एवानवच्छिन्न चिदानन्दघनस्य भगवतः स्फुरणाद्भक्ति रसेऽत्यन्ताधिक्यमानन्दस्य। लौकिक रसतु विषयावच्छिन्नस्यैव चिदानन्दां शस्य स्फुरणात्तत्रानन्दस्यन्यूनतैव तस्माद् भक्तिरस एव लौकिक रसानुपेक्ष्य सेव्य इत्यर्थः ॥१३॥

(दे० भक्तिरसायन, प्रथमउल्लास, जनार्दनशास्त्रि—संपादित)

होकर ही जीवित रहते हैं और अन्त में ही लीन हो जाते हैं। "इस तैत्तिरीय श्रुति से परमानन्द स्वरूप ब्रह्म को ही जगत का उपादान कारण प्रतिपादित किया गया है। इस संसार का जन्म आदि जिससे होता है' इस ब्रह्म सूत्र के न्याय से भी यही निर्णय किया गया है। संपूर्ण कार्य अपने उपादान कारण से अभिन्न ही देखे जाते हैं। जैसे घड़ा मिट्टी से भिन्न नहीं है। 'यह सब जगत् ब्रह्म ही है।' 'यह सब वही है जो वह आत्मा है।'

'हे सौम्य! यह सत् रूप ही पहले था।' इत्यादि श्रुतियों से भी यही प्रतिपादन किया गया है। 'उसकी अनन्तता आरंभण शब्दादि से कही गयी है।' इस ब्रह्म सूत्र से भी यही सिद्ध किया गया है। ऐसा होने पर अखंड आनन्द और अद्वैत रूप से वह प्रतीत होता तो इसमें कारण माया के निमित्त भूत आवरण और विक्षेप हैं। यही बताने के लिए कहा है—कार्या कार्य तथा अकार्य। जो कार्य नहीं उसी का कार्य रूप से भान होना विक्षेप कहलाता है। और अखण्ड आनन्द रूप से स्वतः प्रतीत होना आवरण कहलाता है। अर्थात् जड़ में चेतन की सदृशता का भान होना विक्षेप है और चेतन का जड़ रूप से भान होना आवरण है। इसीलिये कहा है—

'वास्तव में न होने पर भी जो अनिर्वचनीय वस्तु मेरे अतिरिक्त मुझमें में ही प्रतीत होती है अथवा जो विद्यमान होने पर भी मुझमें प्रतीत नहीं होती उसे ही मेरी माया समझना चाहिये जैसे चन्द्रमा का घेरा और राहु।'

यहाँ चन्द्रमा और राहु का दृष्टांत कुछ स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। दृष्टि-दोषादि के कारण किसी को दो चन्द्रमा दिखाई पड़ते हैं तो किसी को वह पीला दीखता है—

चितव जो लोचन अंगुलि लाए।
प्रगट जुगल ससि तेहि के भाए॥
नयन दोष जाकहँ जब होई।
पीत बरन ससि कहुं कह सोई॥

उनमें एक तो वास्तविक चन्द्रमा होता है, पर दूसरा न होने पर भी भासता है। इसी प्रकार राहु की सत्ता तो है पर नक्षत्र मंडल में वह दृष्टिगत नहीं होता। इसी को माया कहते हैं। सत् (अबाधित) और अज्ञात वह ब्रह्म ही कान्तादि विषयक प्रमाण से भी प्रमेय होता है। आवरण रूप माया के तिरौभाव होने पर क्षणमात्र में उदित होने वाली सात्विक वृत्ति से अखंड चैतन्य का ग्रहण होता है।

तब उस परमानन्द स्वरूप ब्रह्म का भान कैसे होगा—

'मायाछन्न न देखियत जैसे निर्गुन ब्रह्म'

अज्ञात का ज्ञापक होते ही सब प्रमाणों का प्रामाण्य होता है। अन्यथा स्मृति भी प्रमाण कहलाने लगेगी। स्वयं प्रकाश होने से भासमान चैतन्य ही अज्ञात हो सकता है। जड़

नहीं । क्योंकि जड़ में किसी प्रकार का आवरण है ही नहीं, इसलिए उसके भान होने का प्रश्न ही नहीं उठता । अतः (जड़ के अज्ञात न हो सकने के कारण) कान्तादि विषयक प्रमाणों के अज्ञात-ज्ञापकतया प्रामाण्य के लिए उन-उन प्रमाणों से अवच्छिन्न चैतन्य ही विषय कहा जायगा नहीं तो उनमें प्रामाण्य नहीं होगा । इस प्रकार (तत्तदवच्छिन्न चैतन्य की ही कान्तादि विषयक प्रमाण विषयता कहने पर) सात्विकी प्रमाणजन्य अपरोक्षवृत्ति से आवरण हट जाने पर तत्तद विषयावच्छिन्न रूप से वास्तव में परमानन्द रूप विषयोपादान चैतन्य का भान है । अर्थात् जो अज्ञात का नायक होता है वह प्रमाण है । कान्तादि जड़ वस्तु स्वादन नहीं हो सकता अतः सद्वस्तु चैतन्य ही अज्ञात है और अज्ञात होने से वही प्रकाश्य भी है । यदि कहें कि कान्ता प्रमाण से भान होने पर चैतन्य में स्वप्रकाशत्व नहीं रह जायगा और प्रमाण की तत्काल मुक्ति हो जायगी तो इसका उत्तर है कि अनवच्छिन्न स्वरूप का भान न होने से सद्योमुक्ति नहीं होगी और स्वप्रकाशत्व (दूसरे प्रकाशक की अपेक्षा किए बिना प्रकाशमान) भी भंग नहीं होगा ।

कान्ताद्यवच्छिन्न चैतन्य ही कान्तादि भान से मेय हो सकता है । इसलिए द्रवीभूत चित्त में ही उसका आविर्भाव होता है । किन्तु जड़ता का संमिश्रण हो जाने से उसमें रसत्व पूर्ण न होकर कुछ न्यून होता है ।

इससे क्या हुआ ? इस पर कहते हैं—

विषयावच्छिन्न चैतन्य ही द्रवीभूत हुई मनोवृत्ति में आरूढ़ होने से भाव होकर रसत्व को प्राप्त होता है । इसलिए लौकिक रस के भी परमानन्द रूप होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है । अन्तर केवल इतना ही है कि अनवच्छिन्न चिदानन्द घन भगवान् की ही प्रतीति होने से भक्तिरस में आनन्द अत्यधिक होता है किन्तु लौकिक रस में विषयावच्छिन्न चिदानन्द का ही स्फुरण होता है, इसलिए उसमें आनन्द कम रहता है । अतः आनन्द का आधिक्य होने से लौकिक रसों को छोड़कर भक्ति रस का ही सेवन करना चाहिए । इस प्रकार वेदान्त सिद्धान्तानुसार स्थायी भाव की रसता का प्रतिपादन किया ।

यहाँ मधुसूदन सरस्वती का मत विस्तृत रूप से उद्धृत करने का प्रयोजन यह है कि एक तो ये गोस्वामी जी के समकालीन और अभिन्न थे । दूसरे तुलसीदास जी की भाँति ये भी पारमार्थिक दृष्टि से वेदान्त के अद्वैत मत में विश्वास रखते थे । तीसरे जीवन्मुक्त यति होने पर भी भक्तियोग के प्रति आस्थावान् थे । अपने प्रसिद्ध 'भक्तिरसायन' नामक रीति शास्त्रीय ग्रन्थ में इन्होंने रस तत्व का वेदान्त दृष्टि से निरूपण ही नहीं किया है अपितु भक्ति रस को ही मूल रस घोषित किया है । स्वामी जी ने अपनी व्याख्या की मूल भित्ति भागवत को माना है जो भक्तों का सर्वस्व है । उनकी विवेचन शैली मुख्यतः सारस्वत है । अतएव गोस्वामी जी का 'मानस' इनके रस-सिद्धान्त से अनुप्राणित हो यह स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य भी है । ऊपर मधुसूदन जी के मतौल्लेख क्रम में, मैंने जगह-जगह गोस्वामी जी की समानार्थी उक्तियाँ उद्धृत की हैं, आशा है उनके प्रकाश में गोस्वामी जी का रसमत स्पष्ट गोचर हो गया होगा।

वसे मानस रस शास्त्र का कोई स्वतंत्र ग्रन्थ तो है नहीं कि उससे गोस्वामी जी का रसमत स्पष्ट रूप से जाना जा सके। इधर-उधर बिखरी कुछ उक्तियों से उनके सिद्धान्तों के बारे में कुछ ऊहापोह ही किया जा सकता है। रामचरित मानस अविचारित रमणीय ग्रन्थ है, विचारित सुस्थ नहीं, यह बात स्मरण रखने की है।

वेदान्त की दृष्टि में स्थायी भाव

लौकिक रति उत्साह आदि से काव्यगत रति उत्साह सर्वथा भिन्न होता है, ऐसी साहित्यशास्त्रियों की मान्यता ही नहीं है वरन् सहृदयों की अनुभूति भी है।

मधुसूदन सरस्वती इसको मांसमयी और मनोमयी स्त्री के दृष्टांत से समझाते हैं।[1]

मांसमयी स्त्री भिन्न है और मनोमयी भिन्न। मांसमयी से अभेद होने पर भी मनोमयी भिन्न ही होती है। विद्यारण्य स्वामी भी कहते हैं 'मनोमयी के साथ आकार भेद के बिना एक ही भौतिक पिंड में भेद का व्यवहार होता है।

एक ही स्त्री (मांसमयी) पत्नी, पुत्रबधू, ननद, याता (जेठानी या देवरानी) माता आदि अनेक रूप में व्यवहृत होती है। इसी प्रकार एक पुरुष जामाता, श्वशुर, पुत्र, पिता आदि अनेक रूप से व्यवहृत होता है।

भौतिक बाह्यपिंड का नाश होने पर भी मनोमय सूक्ष्म पिंड रहता ही है, वह नष्ट नहीं होता। इसीलिए विद्वानों ने स्थायी भाव रूप में इसी का निरूपण किया है।

भक्ति रस की स्वतंत्रता

विषयाकार होना चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं है अपितु चित्त का धर्म भगवदाकार होना है। जैसे घड़ा खाली रहने पर भी आकाश से व्याप्त रहता है पर पानी भरे जाने

---

१. अतो मांसमयी योषित्काचिदन्या मनोमयी।
मांसमय्या अभेदेऽपि भिद्यतेऽत्र मनोमयी ॥२६॥
भार्या स्नुषा ननान्दा च याता मातेत्यनेकधा।
जामाताश्वशुरः पुत्रः पितेत्यादि पुमानपि ॥२७॥
बाह्य पिंडस्य नाशेऽपि तिष्ठत्येवमनोमयः।
अतः स्थायीति विद्वद्भि रयमेव निरूपितः ॥२८॥ भक्ति रसायन प्रथम उल्लास अर्थात् एक ही मांसमयी स्त्री के संस्कार-सम्बन्ध से अनेक मनोमय रूप होते हैं और स्त्री के मांस-पिंड का नाश होने पर भी उसके मनोमय रूप का नाश नहीं होता। इस प्रकार दोनों में एकत्व और अनेकत्व भेद प्रत्यक्ष हैं॥ पहले में देशकाल का व्यवधान और नाश धर्म अनुस्यूत है पर दूसरा अक्षुण्ण एवं अव्यहित है।

पर वह (घड़ा) उक्त आकाश तत्व का कोई विरोध नहीं करता वैसे ही सहज भगवदाकार चित्त विषयों के प्रवेश को रोकता नहीं ।[1]

इसीलिए कहा है कि विषयों की और चित्त को कठोर करता हुआ भगवद् भाव में उसे द्रवित करे ।

काठिन्यं विषये कुर्याद् द्रवत्वं भगवत्पदे।
उपायैः शास्त्र निर्दिष्टैरनुक्षण मनो बुधः ॥१॥ ३३ भक्ति० रसा०

गोस्वामी जी भक्ति के बारे में उद्घोष करते हैं—

भक्ति स्वतंत्र सकल गुन खानी।
सो स्वतंत्र अवलम्ब न आना।

भक्ति और वैराग्य

भक्ति की दृढ़ता के लिये वैराग्य का होना आवश्यक है—

एहिकर फल पुनि विषय विरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥

शास्त्रकारों ने चार प्रकार के वैराग्य बताए हैं—(१) यतमान वैराग्य, (२) व्यतिरेक वैराग्य, (३) एकेन्द्रिय वैराग्य, (४) वशीकार वैराग्य ।

वशीकार के भी दो भेद हैं—(१) अपर, (२) पर

पर वैराग्य का लक्षण है—पर वैराग्यस्य लिंगम् मोक्ष पर्यन्त सकल फल निरपेक्षत्वम् (भक्ति र० पृ० ८०)

कहना न होगा कि भरत जी का वैराग्य 'परकोटि' का वैराग्य था—

अर्थ न धर्म न काम रति गति न चहौं निर्वान।
जन्म जन्म रति राम पद यह वरदान न आन॥

अरथ अनूप सुभाव सुभासा

गोस्वामी जी ने अर्थ को पराग स्थानीय, भाव को मरकन्द रूप और भाषा को सुवास तुल्य बताया है—

अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरन्द सुवासा।

भाव ही तो 'विभावानुभाव संचारि भाव से पुष्ट होकर रस रूप में परिणत होता है पर गोस्वामी जी 'नव रसों' को अलग गिनाते हैं—

---

१. भक्तिरसायन पृ० ७०।

नव रस जप तप जोग विरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा।।

यहाँ भाव और रस को न केवल अलग-अलग अपितु भाव को रस से उत्कृष्ट-मकरन्द-कोटि का बताने में आखिर रहस्य क्या है ?

मेरी समझ में गोस्वामी जी ने यहाँ साहित्य और भक्ति के आचार्यों के मतों में समन्वय स्थापित किया है। साहित्य वाले काव्य में नवरसों की स्थिति मानते हैं। भक्ति उनके यहाँ स्वतंत्र रस नहीं प्रत्युत देव विषयक रतिमात्र है। इसके विपरीत भक्तिवादी लौकिक रसों को रस मानते ही नहीं उनकी दृष्टि में एक मात्र भक्ति रस की ही सत्ता है।[1]

ऐसी व्यवस्था में गोस्वामी जी ने मध्यम मार्ग अपनाया। उन्होंने शास्त्र स्थिति संपादन के लिए साहित्य के नव रस को मान लिया और भक्ति को माना यद्यपि दैव विषयक रति ही पर लौकिक रस से उसे सर्वथा ऊँचा ठहराया—

जासु ग्यानु रवि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल विकासा।।
तेहि कि मोह ममता निअराई। यह सियराम सनेह बड़ाई।।
भरत प्रीति नति विनय बड़ाई। सुनत सुखद बरनत कठिनाई।।
जासु विलोकि भगति लवलेसू। प्रेम मगन मुनि गन मिथिलेसू।।
जहां जनक गुर गति मति मोरी। प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी।।

---

१. भक्तजन लौकिक रसों में वासनाभास मानते हैं, वासना नहीं। सच्ची वासना तो भक्ति में ही संभव है। कामादि का उद्रेक होने पर चित्त थोड़ा द्रवित अवश्य होता है, थोड़ी शिथिलता अवश्य आ जाती है पर उद्रेक शान्त होने पर वह पुनः कठोर हो जाता है। विषयाकारता को प्राप्त हुआ चित्त स्थायी रूप से द्रवित नहीं रह सकता, पर भगवदाकारता को प्राप्त हुआ चित्त सदैव द्रुत रहता है। पूर्ण चित्त द्रुति होने पर वासना होती है, शिथिलीभाव होने पर वासना भास होता है। जैसे घाम के ताप से लाख थोड़ी पिघलती है पर उसमें कोई रंग नहीं मिलाया जा सकता अथवा मिलाये जाने पर वह रंग पक्का नहीं होता छूट जाता है पर तीव्र अग्नि की आंच में उसी लाख को पिघला कर उसमें विभिन्न रंग भर देते हैं जो स्थायी हो जाता है— चढ़े न दूजो रंग'
इसी प्रकार पूर्ण रूप से द्रवित हुए चित्त में जो भगवत्स्वरूप वस्तु प्रविष्ट होती है वह फिर द्रवी भाव न रहने पर भी वैसा ही रहती है, दूसरे विषयों के ग्रहण करने पर भी वह नहीं निकलती। क्योंकि भगवत्स्वरूप से चित्त में ऐसा प्रकाश (ज्ञान) रहता है कि चित्त उसे छोड़ता नहीं। इसी लिए उसे वासना कहते हैं। शैथिल्यावस्था में प्रविष्ट हुआ कठिन होने तक नहीं रहता, यदि रहा भी तो दूसरे विषयों को ग्रहण करते समय चित्त उसे छोड़ देता है। इसलिये उसे वासनाभास कहते हैं।

प्राकृत कवि भक्ति अथवा भक्त की महिमा कह पाने में असमर्थ हैं—

आपु छोटि महिमा बड़ि जानी। कवि कुल कानि मानि सकुचानी।
कहि न सकति गुन रुचि अधिकाई। मति गति बाल बचन की नाई॥

इसीलिए जिसके एक बार द्रवित हुए चित्त में भगवदाकारता का प्रवेश हो गया वह सदा उसी की प्रतीति होने से कृतकृत्य हो जाता है।[1]

मधुसूदन जी आगे कहते हैं कि देवादि विषयक रति को जो रसकोविद भाव मात्र कहते हैं उसे अन्य देवताओं के विषय में समझना चाहिए, परमानन्द रूप परमात्मा कृष्ण के सम्बन्ध में नहीं। सच तो यह है कि कान्तादि विषया रीति में पूर्ण सुख का लेश भी नहीं होता, पूर्ण रस वाली भगवद्विषया रति कान्तादिविषयक रति वाले क्षुद्र रसों से वैसे ही बलवत्तर है जैसे सूर्य की प्रभा जुगुनुओं से अत्यन्त तीव्र होती है। यह मूर्खता की पराकाष्ठा ही है कि क्रोध, शोक, भय आदि को, जो साक्षात्सुख के विरोधी हैं, तो थोड़े से अनुभव से रस मान लिया है और उनसे सहस्रगुना आनन्द प्रदान करने वाले अनुभवसिद्ध भक्ति रस को 'रस' नहीं माना गया।[2]

ध्वनि अवरेव कवित गुन जाती

(ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण, रीति, वृत्ति, जाति आदि)

ध्वनि—गोस्वामी जी ने यहां जो ध्वनि का अप्रस्तुत मीन को बनाया है—मीन

---

१. भगवद्भक्ति रसायन पृ० ३९।

२. रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथोर्जितः।
भावः प्रोक्तो रसो नेति यदुक्तं रस कोविदैः॥ २।७४
देवान्तकेषु जीवत्वात् परानन्द प्रकाशनात्।
तद्योज्य परमानन्द रूपे न परमात्मनि। २।७५
कान्तादि विषया वाये रसाधास्तत्रनेदृशम्।
रसत्वं पुष्यते पूर्ण सुखास्पर्शित्व कारणात्। २।७६
परिपूर्णरसा क्षुद्र रसेभ्यो भगवद्रतिः।
खद्योतेभ्य इवादित्य प्रभवे बलवत्तरा। २।७७
क्रोध शोक भयादीनां साक्षात्सुख विरोधिनाम्।
रसत्वमभ्युपगतं तथानुभव मात्रतः। २।७८
इहानुभवसिद्धेऽपि सहस्र गुणि तो रसः।
जडेनेव त्वया कस्माद् कस्मादपलप्यते २।७९—भक्ति रसायन

मनोहर ते बहु भांती—वह अर्थ गूढ़ जान पड़ता है लगता है उन्होंने ध्वनि के अर्थ में यहाँ संलक्ष्य क्रम मात्र को लिया है, असंलक्ष्य क्रम को नहीं ।[1]

वक्रोक्ति—गति क्रूर कविता सरित की···।

नदी की भांति कविता की भी गति टेढ़ी होती है । कविता का यह टेढ़ापन व्यापक अर्थ में लेना चाहिए । इसके अन्तर्गत व्यंग्य भी आवेगा, लाक्षणिक वक्रता भी और अलंकार विशेष भी । सहृदय सामाजिकों के निकट यह वक्रोक्ति उतनी ही स्पृहणीय होती है जितनी प्रेमी के निकट उसकी प्रेयसी की तिरछी चितवन और बांकी अदा मादक और इष्ट होती है ।

वह चितवन औरे कछू जेहि बस होत सुजान
जानेगा वही कुटिलता जिसने भौं में बल देगा।

भोजराज ने वक्रोक्ति का काव्य का एक स्वतंत्र विभाग माना है—

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्

—सरस्वती कण्ठाभरण ५।८

गुण, रीति आदि—(कवत गुन जाती) को गोस्वामी जी ने मीन स्थानीय माना है और अनेक प्रासंगिक कथाओं को 'सुक पिक बहु बरन विहंगा' से उपमित किया है । मीन और विहंग के गुण धर्म पर विचार करने पर दोनों में बड़ा गहरा पार्थक्य दिखाई पड़ेगा । सरोवर के सूख जाने पर विहंग तो दूसरे सरोवर को चले जाते हैं—'सर सूखे पंछी उड़हिं' पर मीन जल के सूखने पर अपने प्राण भी उत्सर्ग कर देती है—

बिछुरनि मीन की और मिलनि पतंग को'
मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना'

अतः काव्यगत रस के साथ रीति और गुण का नित्य सम्बन्ध लक्षित होता है । रीति गुणों पर आश्रित रहती है और दोनों मिलकर रसाभिव्यक्ति में सहायक होते हैं ।

जातियां या वृत्तियां

वृत्तियों के द्विविध रूप हैं—

(१) कौशिकी आदि नाटक की अर्थवृत्तियां जो रस के अनुगुण अर्थ रूप हैं ।

(२) परुषा आदि अनुप्रास वृत्तियां (जातियां) जो रस के अनुगुण शब्द रूप हैं ।

आनन्दवर्धन वृत्तियों को रीति से पृथक् नहीं स्वीकार करते ।

---

१. **व्यवधानात्क्रमो लक्ष्यो वस्त्वलंकारयो र्ध्वनौ ।**
लक्ष्य व्यंग्यक्रमं तस्माद् ध्वनिमेतत् प्रचक्षते ।। ३।१६ भक्ति रसायन वस्तु और अलंकार का ध्वनि में व्यवधान स्पष्ट होने से क्रम दीख पड़ता है, अतः इसे संलक्ष्य क्रम ध्वनि कहते हैं ।

वर्ण संघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्ते प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्त वृत्तयोऽपि याः कैश्चिद्रुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि गताः श्रवण गोपरम्॥ ध्वन्यालोक ४५।६।

अतः यहाँ गुण, जाति, रीति, वृत्ति सबको समानार्थी समझना चाहिए।

आखर अरथ अलंकृति नाना

अलंकार से शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों अभिप्रेत जान पड़ते हैं। अब देखना यह है कि मानस में इन अलंकारों की स्थिति क्या है।

गोस्वामी जी कहते हैं—

राम सीय जस सलिल सुधासम।
उपमा बीचि विलास मनोरम॥

उपमा जो अलंकार मात्र का उपलक्षण है। मानस के रामसीय जल रूपी सुधा समान जल का मनोरम वीचि—विलास है। ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि बीचियां जल का नित्य धर्म नहीं है, अपितु आगन्तुक धर्म हैं। पवनादि बाह्य हेतुओं से जल में लहरें उठती हैं। समुद्री तूफान वा बरसाती नदी के 'भय भ्रम भंवर अवर्त अपारा' स वीचि विलास मानस कार को इष्ट नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि कवि की रसोन्मीलन में सहायक रूप में ही अलंकार स्वीकार्य हैं। अलंकार के सम्बन्ध में कवि के दृष्टिकोण का अनुमान निम्नीय अवतरणों से किया जा सकता है—

(१) अर्थ अमित अति आखर थोरे।
(२) ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी।
गहि न जाय अस अद्भुत बानी॥
(३) विधुबदनी सब भांति संवारी।
सोह न बसन बिना बरनारी॥
(४) बोले बचन बानि सरबसु से।
हित परिनाम सुनत ससि रसु से॥

'अनमिल आखर अरथ न जापू' जैसी अलंकृत रचनाएं 'शाबरमंत्र' की तरह चमत्कृत भले ही कर दें पर उनसे हृदयावर्जन नहीं हो सकता।

तुलसी को प्रतीयमान अर्थ अभिप्रेत है। जैसे मणि खान में शोभा नहीं देती प्रत्युत राजा के किरीट में और तरुणी के शरीर पर शोभायमान होती है वैसे ही सहज सुन्दर भावपूर्ण भनिति में अलंकारों का सन्निवेश सोने में सुगन्ध उत्पन्न कर देता है। मेरे मत में गोस्वामी जी का संक्षेप में यही पक्ष है।

चमत्कार

'चमत्कार' शब्द का उल्लेख सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में किया जहाँ वह 'आस्वाद' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अभिनव गुप्त ने भी 'लोचन' में इसी अर्थ में उक्त

शब्द का व्यवहार किया है। क्षेमेन्द्र ने कवि कंठाभरण में इस प्रकार के चमत्कारों का संकेत किया है। साहित्यदर्पणकार के पुरखा नारायण ने चमत्कार को रस का मूल तत्व माना था—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते'

कुन्तक ने 'वक्रोक्ति जीवित' में चमत्कार को काव्य का 'जीवित' घोषित किया। पर एक स्वतंत्र चमत्कारवादी सम्प्रदाय प्रवर्तित करने का श्रेय प्राप्त किया 'चमत्कार चन्द्रिका' के कर्त्ता विश्वेश्वर ने। इन्होंने चमत्कार के सात भेद किए हैं—

(१) गुण (२) रीति (३) रस (४) वृत्ति (५) वय (६) पाक (७) अलंकार।

ये भेद चमत्कार के हेतु हैं—

रम्योक्त्यर्थ तनूज्ज्वला रसमयप्राणा गुणोल्लासिनी।
चेतो रंजक रीति वृत्ति कविता पाकं वयो बिभ्रती।
नाना लंकरणोज्ज्वलादवरुती (?) सर्वत्र निर्दोषतां
शय्यामतिकामिनीव कविता कस्यापि पुण्यात्मनः!
--चमत्कार चन्द्रिका

काव्यालोक के कर्त्ता हरिप्रसाद दूसरे आलंकारिक हैं, जिनकी मान्यता है—'चमत्कार ही विशिष्ट शब्द वाले काव्य की आत्मा है।'[१]

पंडितराज जगन्नाथ भी चमत्कार का प्रयोग करते हैं पर उनका चमत्कार 'स्वानुभव सिद्ध' है। भावानुमोदित वा रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला काव्य है।

आचार्य शुक्ल ने अपनी 'रसमीमांसा' में 'चमत्कारवाद' पर बहुत मार्मिक रीति से विचार किया है। एक चमत्कार तो वस्तुगत होता–अद्भुत रस के आलंबन रूप में होता है और दूसरा चमत्कार उक्तिगत जिसके अन्तर्गत वर्ण विन्यास की विशेषता। जैसे अनुप्रास में, शब्दों की क्रीड़ा जैसे श्लेष, यमक आदि में। वाक्य की वक्रता या वंचनभंगी। जैसे काव्यार्थापत्ति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति इत्यादि में। तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुत तत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या संबन्ध की अनहोनी या दूरारूढ़ कल्पना। जैसे उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति में। इत्यादि बातें आती हैं।

चमत्कार का आश्रय भावुक कवि भी लेते हैं पर किसी भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिए। किसी को 'मूर्ख' न कहकर बैल कहने का यही तात्पर्य है कि उसकी मूर्खता की जितनी गहरी भावना मन में है वह मूर्ख शब्द से नहीं व्यक्त होती। इसी आधार पर

---

१. विशिष्ट शब्द रूपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः।
उत्पत्ति भूमिः प्रतिभा मनागत्रोपपादितम्—काव्यालोक
(ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त पृ० ४५४ से उद्धृत।)

कुछ लोगों ने चमत्कार या उक्ति-वैचित्र्य ही को काव्य का नित्य लक्षण ठहराया। चाहे उसमें भाव या मर्म-विकार की व्यंजना कुछ भी न हो।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि कविता सुनना और तमाशा देखना एक ही बात नहीं है। केवल कुतूहल तो बालवृत्ति है। ऐसीउक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना। जैसे प्रस्तुत वस्तु का सौन्दर्य आदि में लीन न होकर एक बारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास या पद उपयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे वह काव्य नहीं 'सूक्ति' है। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचनावैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।

शुद्ध काव्य का पक्ष भी समझ लेना चाहिए। जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह काव्य है। वैचित्र्य के अभाव में, सीधी सादी स्वाभाविक उक्तियों में भी रसात्मकता रहती है जैसे पद्माकर की निम्नीय पंक्ति में देखी जा सकती है—

नैन नचाय कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी।

इसी प्रकार ग्राम वधूटियों द्वारा राम का परिचय पूछे जाने पर सीता की निम्नीय सरल चेष्टा में भी कितनी सरसता है—

बहुरि बदन विधु अंचल ढांकी। पिय तन चितै भौंह करि बांकी।
खंजन मंजु तिरेछे नैननि। निजपति कहेउ तिनहि सिय सैननि॥

अथवा

एक कहहिं हम बहुत न जानहिं। आपुहि परम धन्य करि मानहिं॥
ते पुनि पुन्य पुंज हमारे लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे॥

रसात्मकता और चमत्कार का योग

जहाँ उक्ति में अनूठापन अधिक मात्रा में होने पर भी उसकी तह में रहने वाला भाव आच्छन्न नहीं होता वहाँ भी काव्य ही माना जायगा। यथा—

इन्हहिं देखि विधि मनु अनुरागा। पट तर जोग बनावै लागा॥
कीन्ह बहुत श्रम ऐकन आए। तेहि हरषा बन आनि दुराए॥

उमड़ते हुए भाव की प्रेरणा से अक्सर कथन के ढंग में कुछ वक्रता आ जाती है। ऐसी वक्रता काव्य की प्रक्रिया के भीतर रहती है। उसका अनूठापन भाव विधान के बाहर की वस्तु नहीं। उदाहरणार्थ

बैठि नमित मुख सोचति सीता। रूप रासि पति प्रम पुनीता॥
चलन चहत वन जीवन नाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू॥

की तनु प्रान कि केवल प्राना। विधि करतबु कछु जाइ न जाना॥

वैसे गोस्वामी जी 'सरल कवित कीरति सरन' के पक्षपाती हैं, जिसे सुनकर शत्रु भी स्वाभाविक वैर को विसार कर आदरपूर्वक बखान करने लगता है। उनकी सरलता, रसात्मकता एवं औचित्य को लिए हुए हैं—

भरतु कमल कर जोरि धीर धुरंधर धीर धरि।
बचन अमियं जनु बोरि देत उचित उत्तर सबहिं॥

चतुर्थ अध्याय

मानस का काव्यशरीर

काव्य शरीर शब्द-अर्थ युगल रूप है। गोस्वामी जी की भी ऐसी ही मान्यता है—'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'। मम्मटाचार्य प्रभृति विद्वान् भी इसी मत के हैं पर पंडितराज का पक्ष है—

'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य होता है। रस गंगाधर के टीकाकार[1] नागेश भट्ट ने इनका बड़ा ही युक्तियुक्त उत्तर देकर 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' की सत्यता हृदयंगम करा दी है।

शब्द से अर्थ का कई प्रकार का सम्बन्ध होता है जिसका विचार हमारे यहाँ शब्द-शक्तियों के अन्तर्गत किया गया है। इस अध्याय में हम यथाक्रम शब्दशक्तियों पर विस्तृत विचार करेंगे।

शब्द एवं भाषा

गोस्वामी जी की भाषा सम्बन्धी नीति बिलकुल व्यावहारिक थी। जिस भाषा को कुछ मुट्ठी भर लोग बोल और समझ सकें उससे क्या लाभ जबकि शब्द प्रयोग प्रायः अन्य के लिए होता है।[2] गोस्वामीजी इसी ओर लक्ष्य करके कहते हैं कि—

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए सांच।
काम तो आवै कामरी का लै करै कुमांच॥

उपयोगितावाद में उनका विश्वास था।

संस्कृत से उन्हें कोई चिढ़ नहीं थी। उसमें वे सशक्त रचना भी कर सकते थे क्या

---

१. दे० काव्यप्रकाश हिन्दी व्याख्या—आचार्य विश्वेश्वर पृ० २४।

२. शब्द प्रयोगः प्रायेण पदार्थमुपयुज्यते। नहि तेन विना शक्यो व्यवहारयितुं परः॥
शब्द का प्रयोग प्रायः अन्य के लिए होता है। उस अन्य के बिना व्यवहार ही शक्य नहीं।'
—भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा—महिम भट्ट पृ० २८३।

किया भी है—मानस के मंगलाचरणों में। प्राकृत में भी वे काव्य रचना करने में समर्थ थे।[१] फिर भी उन्होंने भाषा में जो रचना की उसका कारण धर्मसहित सबकरहित था।[२] वैदिक मर्यादा को अक्षुण्ण रखना उन्हें अभीष्ट था। संस्कृत स्त्रियों, शूद्रों आदि के लिए वर्जित थी। वेद पढ़ने का भी उन्हें अधिकार नहीं था। गोस्वामी जी ने जनता की बोलचाल की भाषा में 'निरनयसकल पुरानवेदकर' रचकर सबके लिए सुलभ कर दिया। वे कहते हैं—

स्याम सुरभि पय विसद अति गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहिं सुनहिं सुजान॥

अर्थात् संस्कृत कपिला गौ है। जैसे संस्कृत को सब के पढ़ने का अधिकार नहीं और है भी वह दुर्बोध। वैसे ही कपिला गौ का दूध एक तो भारी है, दूसरे सभी उसके पान के अधिकारी नहीं हैं।

श्यामा गौ का दूध एक तो सुपाच्य होता है, दूसरे उसको सभी पान कर सकते हैं। यही हाल भाषा का है। सभी लोग उसको समझ सकते हैं और बिना अधिकारिभेद के उसका प्रयोग कर सकते हैं। प्राकृत के प्रशंसकों का कहना है कि संस्कृत से प्राकृत कहीं मधुर होती है। संस्कृत और प्राकृत में उतना ही अन्तर है जितना कि पुरुष और स्त्री में होता है। विद्यापति भी 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' कहकर देशभाषा को काव्य रचना के लिए उपयुक्त बताते हैं।

गोस्वामी जी ने अध्यात्म रामायण से कथावस्तु ली है।

'रचिमहेस निज मानस राखा। पाइ सु समउ सिवा सन भाषा॥

इसीलिए इस ग्रन्थ का नाम रामचरित मानस हुआ। पर गोस्वामी जी ने संस्कृत के उस मूल मानस (अध्यात्म रामायण) से भाषा की जो कविता सरिता उमगा कर-सरजू नाम सुमंगलमूला-बहाई है एवं गंगा और सोन से जो उसका संगम कराया है उससे कई महत्व के संकेत मिलते हैं।[३]

---

१. विजयाटीका में "प्राकृतप्रकाश" से उद्धरण देकर इस तथ्य को विद्वान् भाष्यकार ने सिद्ध कर दिया है।

२. धर्म सहित सब कर हित होई। कीरति भगति भूति भलि सोई॥

३. प्रभु आयसु जेहि कहं जस अहई। सो तेहि भांति रहें सुख लहई॥

४. नाट्यशास्त्र में संस्कृत को स्त्री और शूद्रों के लिए वर्जित बतलाया है।

३. रामचरित को लेकर भाषा में काव्य रचना करना बड़े साहस का काम था। उसका विरोध होने का सबसे अधिक डर संस्कृत के पंडितों की ओर से था। गोस्वामी जी ने

पहला तो यह कि संस्कृत भाषा, जिसमें मूल रामचरित वर्णित है इतनी दुर्बोध है कि सर्वसाधारण की वहाँ तक गति नहीं हो सकती। जो संस्कृत जानते हैं वे भी संस्कार भ्रष्ट और श्रद्धाहीन होने के कारण उसके मर्म तक नहीं पहुँच पाते।[1] दूसरा संकेत यह मिलता है कि जैसे सरयू में गोता लगाने के लिए मानस सर सा कष्टकर आयास नहीं करना पड़ता, वैसे ही बोलचाल की भाषा में भगवान् के चरित्र का रसास्वाद सबके लिए समास रूप से अनायास सुलभ है। वे अभागे हैं जो इस जल में भी स्नान करने से वंचित रहते हैं। यहाँ तो जड़ता जाड़ का भी भय नहीं अपितु 'कीरति सरित छहूँ रित रूरी। समय सुहावनि पावनि भूरी' की सुविधा है।

तीसरा संकेत है भाषा की सीमा सम्बन्धी। अर्थात् हिन्दी कहाँ तक बोली और समझी जाती है। गंगा, सरयू और सोन नदियों के बीच के लोग इस भाषा को भली प्रकार समझ सकते हैं। हिन्दी भाषी प्रदेश इन्हीं नदियों के मध्य अवस्थित हैं। जहाँ सोन गंगा में मिलती है उसके आगे कवि नहीं जाता। यही कह के छुट्टी लेता है—राम सरूप सिंधु समुहाई'

कवि ने ऐसा क्यों किया, इसके लिए आप काव्य मीमांसा देखें।[2]

अपने मानस प्रचार में इन पंडितों के सहयोग, सहकार और समर्थन की बड़ी आवश्यकता अनुभव की—

जे प्रबन्ध नहीं बुध आदरहीं। सो स्रम बादि बाल कवि करहीं।

एतावता उनकी अनुकूलता अर्जित करने के लिए वे अपना पक्ष बड़े ढंग से समझाते हैं।

(क) जो बालक कह तोतरि बाता....

(ख) दारु विचार कि करइ कोउ बंदिय मलय प्रसंग

(ग) भवअंग भूति मसान की सुमिरति सुहावनि पावनी

(घ) सिअनि सुहावनि टाट बटोरे

(ड) हंसिबे जोग हंसे नहिं खोरी

पर खलों की परवाह वे नहीं करते—

(च) तिन कहं सुखद हास रस एहू

(छ) खल परिहास होइ हित मोरा।
काक कहहिं कल कंठ कठोरा॥

१. जो करि कष्ट जाइ पुनि कोई। जातहिं नींद जुड़ाई होई॥
जड़ता जाड़ विषम उर लागा। गएहुँ न मज्जन पाव अभागा॥
करि न जाइ सर मज्जन पाना। फिरि आवइ समेत अभिमाना॥
जौं बहोरि कोउ पूछन आवा। सर निंदा करि ताहि बुझावा॥

२. पठन्ति संस्कृतं सुष्ठु कुंठा प्राकृत वाचिते।
वार णसीतः पूर्वेण ये केचिन्मगधादयः॥

'मानस' के भाषापक्ष पर जरा विस्तृत और व्यापक विचार अपेक्षित है । भाषा विज्ञानियों के मत से वैदिक भाषाओं की परंपरा तीन कालों में विभाजित हो सकती है—(१) आदि काल (२) मध्यकाल (३) उत्तरकाल । आदिकाल में वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत शिष्ट समाज में प्रयुक्त होती थी, मध्यकाल में प्राकृत उत्तरकाल में अपभ्रंश एवं देशी भाषाएं उपयोग में आने लगी थीं ।

मानस की रचना जिस भाषा में हुई वह पूर्वी हिन्दी है ।[१] पूर्वी हिन्दी का विकास अर्द्धमागधी प्राकृत से हुआ अर्द्ध मागधी में शौरसेनी और मागधी दोनों की कुछ-कुछ विशेषताएँ पाई जाती हैं । पूर्वी हिन्दी में ब्रजी और बिहारी की भी विशेषताओं का समावेश है । पूर्वी हिन्दी की तीन शाखाएँ हैं—(१) अवधी (२) वघेली (३) छत्तीसगढ़ी ।

पश्चिमी और पूर्वी दोनों प्राकृतों का प्रभाव ग्रहण करने के कारण पूर्वी हिन्दी में ब्रजी की प्रवृत्तियों की भी छाप मिलती है । ब्रजी से पूर्वी हिन्दी की जो प्रमुख भेदकता है वह यह कि पूर्वी हिन्दी में कर्त्ता के चिह्न 'ने' का प्रयोग होता ही नहीं, ब्रजी में यह प्रयोग ऐच्छिक है और खड़ी बोली में बराबर होता है । अवधी के भी दो भेद हैं—(१) पूर्वी और (२) पश्चिमी । पूर्वी अवधी गोंडा, फैजाबाद आदि पूर्वी जिलों की बोलचाल की भाषा है और इसे ही मूल अवधी कहते हैं । हमारा आलोच्य 'मानस' पश्चिमी अवधी में लिखा गया है । वैसवाड़े में यही अवधी चलती है । पश्चिमी अवधी पर ब्रजी का, पूर्वी अवधी से अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव लक्षित होता है । यह ध्यान देने की बात है कि जायसी की पद्मावत अवधी का ठेठ रूप अधिक लिए हुए है अर्थात् पूर्वी अवधी में लिखी गई है । और गोस्वामी जी के रामलला नहछू, जानकी मंगल और पार्वती मंगल में भी इसी ठेठ अवधी का प्रभाव है ।

वीरगाथा के कवि अपने संकुचित क्षेत्र में काव्य-भाषा के पुराने रूप लेकर एक विशेष शैली की परंपरा निभाते आ रहे थे । चलती भाषा का संस्कार और समुन्नति उनके द्वारा

ब्रह्मन्विज्ञाय यामित्वां स्वाधिकार जिहासया ।
गौडस्त्यजतु वा गाथामन्यावाऽस्तु सरस्वती ।। काव्यमीमांसा पृ० ८२ ।

वाराणसी से पूर्व मगध आदि देशों के कवि संस्कृत काव्यों को तो सुन्दर ढंग से पढ़ते हैं, परन्तु प्राकृत कविता पाठ में वे कुंठित ही रहते हैं ।

सरस्वती ने अपने अधिकार को छोड़ने के लिए ब्रह्मा से निवेदन किया कि महाराज, या तो गौड़ देशवासी प्राकृत का पढ़ना छोड़ दें, या मेरे स्थान पर दूसरी सरस्वती को नियुक्त किया जाय । तात्पर्य यह कि गौड़ देशवासी प्राकृत भाषा की कविता को पढ़ना नहीं जानते या उनका पाठ विस्वर और कर्ण कटु होता है ।

१. भाषा विचार का अधिकांश मैंने आचार्य शुक्ल और आ० वि० प्र० मिश्र के क्रमात् हिन्दी साहित्य का इतिहास और वाङ्मय विमर्श से प्रायः अविकल लिया है । एतदर्थ उक्त महाशयों का कृतज्ञ हूं ।

नहीं हुई। भक्तिकाल में आकर भाषा के चलते रूप को समाश्रय मिलने लगा। पर निर्गुण-धारा के भक्तों से भाषा का उद्धार और संस्कार नहीं हुआ। यह हुआ सगुण भक्तों द्वारा। शौरसेनी अपभ्रंश या नागर अपभ्रंश का जो सामान्य रूप साहित्य के लिए स्वीकृत था उससे कबीर का लगाव नहीं था। तात्पर्य यह कि

साहित्य की भाषा में जो वीरगाथा काल के कवियों के हाथ में बहुत कुछ अपने रूप में ही रही, प्रचलित भाषा के संयोग से उसे नया जीवन सगुणोपासक कवियों द्वारा प्राप्त हुआ। सूरदास ने परंपरा से चली आती हुई काव्य-भाषा का तिरस्कार न करके उसे एक चलता रूप दिया। भाषा का एक शिष्ट, सामान्य रूप उन्होंने रखा जिसका व्यवहार आगे चलकर कविता में बराबर होता आया। यह तो हुई ब्रज भाषा की बात। इसके साथ ही पूरबी बोली या अवधी भी साहित्य निर्माण की ओर अग्रसर हो चुकी थी। ईश्वरदास ने सत्यवती-कथा दोहे चौपाइयों एवं अवधी में लिखकर और सूफी कवियों ने उसे अपनी प्रेम-कथाओं में भली-भाँति अजमाकर उसकी उपयोगिता सिद्ध कर दी थी। इस प्रकार गोस्वामी जी ने अपने समय में काव्य-भाषा के दो रूप प्रचलित पाए—

एक व्रज दूसरी अवधी।

भाषा का आभोग एवं व्याप्ति

भाषा-पक्ष पर सांगोपांग विचार हो, इसके पहले उसकी परिभाषा एवं उसके मुख्य अवयवों पर विचार कर लेना उचित होगा।

भाषा की परिभाषा

गोस्वामी जी ने जिस भाषा में मानस की रचना की है, उसे उन्होंने भाषा[1] नाम से ही अभिहित किया है। यह भाषा ६ भाषाओं के मेल से बनी है। वे ६ भाषायें हैं—संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनं च मागधम्। पारसीकमपभ्रंशं भाषायाः लक्षणानि षट्॥[2]

भिखारीदास जी ने कुछ संशोधनों के साथ इसका प्रगतिशील-हिन्दी करण यों किया है—

भाषा वृज भाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोइ।
मिलै संस्कृत पारस्यौ पै अति प्रगटजु होय॥
वृज मागधी मिलै अमर नाग जमन भाषानि।
सहज पारसी हूं मिलै षट विधि कवित बखानि॥

---

१. भाषा निबद्ध तुलसी रघुनाथ गाथा
भाषा भनिति मोरि मति भोरी
भाषाबद्ध करब मैं सोई

२. काशिराज पुस्तकाल्यस्थ अमुद्रित 'विनयपत्रिका' टीका से।

जिन ६ भाषाओं के मेल से हिन्दी बनी है उनके नाम हैं—

(१) व्रज (२) मागधी (३) अमर (संस्कृत) (४) नाग (अपभ्रंश) (५) जमन (खड़ी बोली) (६) फारसी।

भिखारीदास जी की परिभाषा में 'मिलै संस्कृत पारस्यौ पै अति प्रगट जु होई' यह अंश ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं कि भाषा में संस्कृत और फारसी का मेल हो सकता है पर शर्त यह है कि उनके शब्द अत्यन्त प्रकट हों अर्थात् बोधगम्य और प्रचलित हों। 'सहज-पारसी हूँ मिलैं' से भी यही ध्वनित होता है कि फारसी के सरल शब्द लिए जा सकते हैं। दास जी की परिभाषा में जो दूसरी ध्यान देने योग्य बात है वह यह कि खड़ी बोली को उन्होंने 'जमन' भाषा कहा है। ऊपर जो संस्कृत में भाषा की परिभाषा उद्धृत है उसमें 'पारसीक' (फारसी) में ही 'जमन' (उर्दू) का भी अन्तर्भाव समझना चाहिए। किसी-किसी आचार्य ने 'नवदेद्यावनी भाषा' कहकर काव्य भाषा में फारसी और जमन भाषा का निषेध किया है। पर कतिपय आचार्य व्यवस्था देते हैं 'षट्भाषा भूषितं काव्यं उत्तमं कवयो विदुः'।

वस्तुतः हिन्दी साहित्य के उत्तरमध्यकाल में लोग खड़ी बोली को यवनों की भाषा समझते थे। उदाहरण के लिए काशिराज पुस्तकालयस्थ श्री गङ्गाप्रसाद जी की अमुद्रित 'विनय पत्रिका' की टीका से कुछ अंश उद्धृत किया जाता है। 'नष्टमति दुष्टअति कष्ट रति खेदगत दास तुलसी शंभु शरण आया' में शरण आया पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं—

'ई पद में' याभिनी भाषा 'होत है'। आगे वे विनयपत्रिका मानस, सूरसागर आदि काव्य ग्रन्थों से चुन चुन कर खड़ी बोली के प्रयोग 'यामिनी भाषा' के उदाहरण रूप में दिखाते हैं—

(१) किहि करनी जन जान सनमान किया रे — वि० प०

(२) माधव मोह पास क्यों टूटे — वि० प०

(३) अब जननि तुमरे भवन निज पति लागि तप दारुन किया — 'मानस'

(४) धीर धरहु फल पावहुगे
हम सन कहत और की औरन इन बातन मनभावहुगे
कबहुं राधिका मान करैंगी अंतर विरहज नावहुगे।
सूर स्याम अब चतुर कहावत चतुराई कह पावहुगे। — सूरसागर

(५) वाल्मीकि मुनि स्वप्न में दीन्हों दरसन चारु।
केशव यह तिन सौं कही क्यों पाऊं सुर सारू। — रा० च०

(६) पावक से नैना लसैं जावक लाग्यौ भाल।
मुकुर होहुगे पलक में मुकुर विलोकौ लाल॥

संस्कृतमिश्रित पारसीक। फारसी।

द्रष्टुं पत्र विचित्रता तरु लता मैं था गया बाग में।
काचित्तत्र कुरंग लोल वदना गुल तोड़ती थी खड़ी॥
उसने भ्रू धनुषा कटाक्षविशिषैर्घायल किया है मुझे॥

कहना नहीं होगा कि गोस्वामी जी की 'भाषा' षट्भाषा भूषित होने के साथ ही 'पावनगंगतरङ्गमाल सी' भी है। उसकी प्रकृतिगत शुचिता में इस मिश्रण से रंचमात्र भी विकार नहीं आया है। ईश-अनीश का अन्तर समझाते हुए गोस्वामी जी ने जो दृष्टांत दिया है उससे उनका भाषागत दृष्टिकोण भी समझाने में सुविधा होगी।

सुरसरि जलकृत बारुनि जाना। कबहुं न संत करहिं तेहि पाना॥
सुर सरि मिलें सो पावन जैसें। ईस अनीसहि अन्तरु तैसें॥

संतजन गङ्गाजल से भी बनी वारुणी ग्रहण नहीं करते पर वही वारुणी गङ्गा की धारा में मिला दी जाय तो क्या वे गङ्गाजी का भी परित्याग कर देंगे? नहीं।

सुभ अरु असुभ सलिल सब बहई।
सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई॥

ठीक वैसे ही विदेशी शब्द भी हिन्दी प्रकृति में घुलमिलकर और हिन्दी के व्याकरण का अनुशासन निष्ठापूर्वक स्वीकार करके उसके अपने हो जाते हैं—परिवारभुक्त से। उनकी छूत घुल जाती है। आज 'रोटी' शुद्धि का मंत्र पढ़कर हमारे चौके में घुस गई है। वह अपनी संख्या बढ़ाकर भी 'अरवाट' नहीं हो सकती रोटियां ही होगी। हम ऐसे शब्दों को जिन्होंने अपने धर्म को छोड़ कर स्वेच्छया हमारी भाषा के उदार धर्म को शिरोधार्य कर लिया है, कैसे छोड़ सकते हैं। उनके बारे में तो तुलसी की नीति है—'रखिहों ताहि प्रान की नाई।

शब्द-चयन

जिन षट्भाषाओं के मेल से हिन्दी के निर्मित होने की बात ऊपर कहीं गई है उन भाषाओं से शब्द लेने में गोस्वामी जी ने संकोच नहीं किया है। उन्होंने 'गनी', गरीब, नेवाज, साहिब जैसे विदेशी शब्द ग्रहण किए हैं।

ब्रजी के······पालिबी

अपभ्रंश के चाहि, बाज, पारना, भूवाल, पहुनी

'ठेठ अवधी के—माहुर, सरों, फहराना, फुर, भलताकना, राउर, रउरेहि, लहना, कूट करना।

---

१. 'ड० १. मरम पाछ जनु माहुर देई २ सरौं करहिं पायक फहराई। ३. तौ फुर होइ जो कहौं सब भाषा भनित प्रभाव ४. जेहि राउर अति अनभल ताका ५. भलेउ कहत

संस्कृत के—'सोहमस्मि इतिवृत्ति अखंडा', इदमित्थम्

मागधी प्राकृत से निकली बंगला से 'बाउ'। बाउ कृपा मूरति अनुकूला। जैसे शब्द लिए।

खड़ी बोली का उदाहरण ऊपर गङ्गाप्रसाद जी वाले उद्धरण में दारुन तप किया'—दिया जा चुका है।

व्याकरण सम्बन्धी विचार[१]

अवधी का ब्रजी और खड़ी से सबसे स्पष्ट यह है कि कर्त्ता कारक के चिन्ह 'ने' का प्रयोग अवधी में कभी नहीं होता। अवधी के भी दो भेद हैं—(१) पूरबी और (२) पश्चिमी।

गोस्वामी जी का 'मानस' पश्चिमी अवधी का रूप अधिक लिए हुए है। पूरबी भाषा के इन दोनों शाखाओं में सर्वनाम के रूपों में अधिक अन्तर दिखाई पड़ते हैं। पश्चिमी भाषा में जहाँ एक बचन के रूप 'सो', 'जो' 'को' आदि होते हैं, वहाँ पूर्वी में 'से' 'ते' 'जे' 'के' आदि पश्चिमी अवधी पश्चिमी रूपों को भी ग्रहण करती है। कारक चिन्ह लगने पर इसमें भी ब्रजी की भांति 'ताकर' 'जाकर' 'काकर' रूप होते हैं। पर 'केर' चिन्ह लगने पर पूर्वी अवधी की भांति 'तेहिकर' 'जेहिकर', 'केहिकर' रूप होते हैं। यहाँ 'हि' विभक्ति लगने पर भी 'ते' 'जे' 'के' ज्यों के त्यों हैं। कविता में 'तिहि' 'जिहि', 'किहि' रूप कवियों की कृपा है। पश्चिमी अवधी में ब्रजी या खड़ी की 'भांति' 'न' से अंत होने वाले साधारण क्रिया के रूप चलते हैं, जैसे 'उठन', 'बैठन' आदि, पर पूर्वी में 'ब' से अंत होने वाले रूप 'उठव', 'बैठब' इत्यादि हैं। कारक चिन्ह या दूसरी क्रिया जुड़ने पर पश्चिमी अवधी में नान्त रूप बना रहता है, जैसे 'उठन कां' 'बैठन माँ', 'चलन लाग', 'उड़न चहौं' 'इत्यादि। पर पूर्वी में वर्तमान काल का तिङ्गन्त रूप होता है, जैसे उठै का, बैठे मां, चलै लाग, 'उड़न चहौं' इत्यादि। पश्चिमी अवधी में अन्य पुरुष एक बचन की भविष्यत् क्रिया 'है' से अंत होती है, जैसे 'उठिहि', 'बैठिहि', 'चलिहि' इत्यादि, इन्हीं के घिसे रूप 'उठी' 'बैठी', 'चली', हैं 'ह' के हटने से बची हुई 'इ' से दीर्घ संधि हो गई है।

भूतकालिक क्रिया का आकारांत रूप अवधी में की बोलचाल में दो स्थानों पर मिलता है एक तो उत्तम पुरुष बहुबचन (सकर्मक) में, जैसे हम खावा, हम दिहा इत्यादि और

दुख रउरेहि लागा ६. भरि जनम जे पाए न ते परितोष उमा रमा लहीं, ७. कूट करहिं नारहिं सुनाई।

पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी के अनुसार 'वाउ' का अर्थ वायु नहीं अपितु "वाह क्या खूब" है। वे कहते हैं कि बंगला में आज भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

१. वांमयविमर्श एवं जायसी ग्रन्थावली की भूमिका के आधार पर।

दूसरे अन्यपुरुष एक वचन (अकर्मक) पुलिङ्ग में, जैसे 'ऊगवा', 'ऊ आवा' इत्यादि। कविता में पुरुष भेद मुक्त रूप भी मिलते हैं, जैसे 'मैं जो कहा रघुबीर कृपाला' (उत्तम पुरुष), 'जो तुम कहा सो मृषा न होई' (मध्यम पुरुष), 'कहा बालि सुनु भीरु पिय (अन्य पुरुष) शुद्ध अवधी में क्रिया, कर्त्ता के अनुसार ही चलती है। यहाँ तक लिंग और वचन भी उसी के अनुसार होते हैं। तुलसीदास और जायसी दोनों ने भूतकालिक क्रिया के कर्त्ता के लिए अकर्मक में तो पश्चिमी अवधी के 'जो', 'सो', 'को' रखे हैं, पर सकर्मक क्रिया में एक वचन 'जेहि', 'तेहि', 'केहि' और और बहुबचन 'जिन' तिन' 'किन' रखे हैं। एक एक उदाहरण लीजिए।

तुलसीदास—(१) सो पुनि गई जहां रघुनाथा
(२) तेहि तब कहा करहु जलपाना
जायसी— (१) जो जाकर सो ताकर भयऊ,
(२) केइ यह बसत बसंत उजारा

कर्मणि प्रयोग के रूप में ही इनका ग्रहण समझना चाहिए।

'तेहि' आदि के ये रूप वस्तुतः पूर्वी अवधी के न होकर अपभ्रंश के हैं और तृतीया की विभक्ति के साथ प्रयुक्त हैं। पछाहीं 'सो' आदि के बदले इनका ग्रहण अवधी के मेल में अधिक दिखाई पड़ने के ही कारण किया गया जान पड़ता है। तुलसीदास ने जितने पश्चिमी प्रयोग 'मानस' में रखे हैं जायसी ने 'पद्मावत' में उतने नहीं। जायसी ने अपने को कर्मणि प्रयोग से प्रायः बचाया है।

खड़ी बोली की भूतकालिक क्रिया में जहाँ 'य' श्रुति होती है वहाँ अवधी में 'वे' श्रुति। इसी से खड़ी के 'पाया', 'आया', 'खाया' का इसमें क्रमशः 'पावा', 'आवा' 'खावा' होता है, कहीं-कहीं ('जावा', 'होना' में) व श्रुति भी नहीं होती, अतः 'गा' 'मा' रूप भी हो जाते हैं। अवधी के भूत-कालिक लध्वंत रूपों में पुरुष लिंग, वचन से विकार नहीं होते—'कीन्ह', 'दीन्ह' 'बैठे' इत्यादि। कविता में कभी-कभी लध्वंत रूप प्रत्यय नोचकर वर्तमान में भी रख दिया जाता है, जैसे 'कह दसकंध कौन तैं बंदर'। अवधी में ओकारांत रूप नहीं होते, इसलिए 'दीन्हेउ', 'गयउ' इत्यादि रूप व्रजी के ही हैं जिनका व्रजी के अनुकूल खिचा रूप 'दीन्ह्यो', 'गयो' इत्यादि होता है। जहाँ सकर्मक भूतकाल के पश्चिमी रूप लिए भी हुए हैं वहाँ ओकारांत के स्थान पर आकारांत रूप ही रखे गए हैं, जैसे—

'फिरि चितवा पाछे प्रभु देखा'

अवधी के सम्बन्ध के चिन्ह ध्यान देने योग्य हैं। ये तीन हैं—'कै', 'कर' और 'केर'। तुलसीदास ने 'कै' या 'कह' का प्रयोग स्त्रीलिंग में कर के इनमें लिंगभेद भी किया है। यथा

(१) राम तें अधिक राम कर दासा
(२) जेहि पर कृपा राम कै होई

यहाँ पुल्लिग सम्बन्ध कारक चिन्ह 'का' और स्त्रीलिंग सम्बन्ध कारक चिन्ह 'कै' है। इससे यह स्पष्ट ही है कि अवधी में स्त्रीलिंग सम्बन्ध कारक चिन्ह 'की' कभी नहीं होता, 'कै' ही होता है। कहीं-कहीं उच्चारण को संक्षिप्त करने की स्वाभाविक प्रकृति के कारण 'कर' के स्थान पर 'क' कर देते हैं—

पितु आयसु सब धरम क टीका

सम्बन्ध कारक के 'कै' चिन्ह के रूप में 'कृत' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने कई जगह किया है। पूर्वी अवधी में उपादान कारक और करणकारक के चिन्ह के रूप में 'भै' या 'भए' शब्द का प्रयोग होता है—'भरत आइ आगे भए लीन्हे'।

'कर' का प्रयोग वस्तुतः सर्वनामों में होता है—'जेकर' 'तेकर' या 'जेहिकर' तेहिकर', इत्यादि। पश्चिमी अवधी में 'कैर' चलता है और उसमें स्पष्ट लिंग भेद है, यह ऊपर निवेदन किया जा चुका है। वैसवाड़ी कार्य-श्रुति युक्त रूप 'क्यार' इसी से बना है। इसके लघ्वंत रूप ही अवधी के हैं। व्रजी का ओकारान्त रूप 'कैरौ' बोलचाल में नहीं है, कविता में कहीं-कहीं दिखाई पड़ता है। काव्य ग्रन्थों में 'हि' या 'हिं' से युक्त रूप प्राकृत अपभ्रंश की परंपरा के कारण मिलते हैं। 'हि' 'हिं' या 'ह' अपभ्रंश में षष्ठी की विभक्ति है जो सभी कारकों में आती है। यह 'ह' संज्ञा शब्दों से तो हट गया पर सर्वनामों में अभी तक चिपका है—अवधी, व्रजी, खड़ी तीनों में, जैसे 'तेहिसन', 'इन्हें', 'उन्हें' इत्यादि। यही बात क्रियाओं के 'हि' या 'हु' प्रत्यय की भी समझनी चाहिए। 'करिहहिं', 'करहु' इत्यादि में पुराने रूपों की रक्षामात्र है, इनके बोलचाल के रूप 'कपिहै', 'कहौ' इत्यादि ही होते थे। इन्हें 'करिहइ' या 'करउ' लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अवधी में 'ऐ' और 'औ' का उच्चारण 'अइ' 'अउ' ही होता है। पश्चिमी हिन्दी की भाँति 'अय' या 'अव' सा नहीं पश्चिमी हिन्दी (खड़ी और व्रजी) में केवल 'य और 'व के पहले इन संयुक्त स्वरों का मूल उच्चारण अब भी सुरक्षित है, पर पुस्तक पढ़कर भाषा का उच्चारण करने वाले ऐसे स्थलों पर भी 'ये' 'या' वे' श्रुतियुक्ति ही उच्चारण करते हैं जो बड़ा ही कर्णकटु होता है, जैसे गैया या कन्हैया का उच्चारण 'गइया' या 'कन्हइया' का सा करना अथवा कौवा या हौवा का उच्चारण कउवा या हउवा न करके कववा या हववा का सा करना। खिचा उच्चारण करने से ही इनका 'वे हटकर 'अ' हो गया है। तुलसीदास ने इस उच्चारण भेद को तोड़कर 'बयन' 'नयन' रूप लिखे हैं।

एहि बिधि पूंछहिं प्रेम बस पुलक गात जल नयन।
कृपा सिंधु फेरहिं तिन्हहिं कहि विनीत मृदु बयन।।

वहाँ 'य' 'ऐ' के य-श्रुति उच्चारण को व्यक्त करने के लिए है। शब्द रूप अवधी में प्रायः लघ्वंत ही होते हैं और शब्द के मध्य में भी फैले रूप ही पाए जाते हैं, पश्चिमी की

भाँति खिचे नही। पश्चिमी का 'व्याह' अवधी में 'वियाह' हो जाता है (करिय बियाह सुता अनुरूपा) इसी प्रकार पश्चिमी में 'ये और' वे की प्रवृत्ति है और पूर्वी में 'इ' और 'उ' की। खिचाव और 'य' और 'व' की रुचि के कारण पश्चिमी में तो ह्यां, ह्वां (यहाँ, वहाँ) रूप होते हैं, और ढिलाव तथा 'इ' और 'उ' के अपनाव के कारण पूर्वी (अवधी) में इहाँ, उहाँ रूप चलते हैं। बिहारी ने तो एक ही पंक्ति में दोनों प्रकार के रूप रख दिए हैं—

ह्यां तें ह्‌वां ते इहां नेकौ धरति न धीर।

पश्चिमी के अनुसार 'ह्यां' नहीं तो 'इहाँ' को यहाँ तो लिखना ही चाहिए। यही स्थिति क्रिया पदों की है। व्रजी में 'य' और अवधी में 'इ' की चलती है, जैसे व्रजी में आय, जा, आय है, जाय है। अथवा ऐहै, जैहै उच्चारित रूप 'अइहै', 'जइहै'। ब्रजी के काव्य में भी 'इ' वाले रूप मिलते हैं, उनका कारण पुरानी कविता में तो प्राकृत रूपों का अनुगमन या रक्षणमात्र है और पिछले काटें की कविता में अवधी का संपर्क।[1]

'खड़ी बोली' और ब्रजभाषा दोनों पछाहीं बोलियों की प्रवृत्ति दीर्घान्त पदों की ओर है, पर अवधी की लध्वन्त प्रवृत्ति है। खड़ी बोली और ब्रज भाषा में जो विशेषण और सम्बन्ध कारक के सर्वनाम आकारांत और ओकारान्त मिलते हैं वे अवधी में अकारांत पाए जाते हैं, यथा—

खड़ी बोली	व्रजी	अवधी
ऐसा	ऐसो	अइस या अस
छोटा	छोटो	छोट
थोड़ा	थोरो	थोर
गहिरा	गहिरो	गहिर
पतला	पतरो, पातरो	पातर
पिछला	पाछिलो	पाछिल
चकला	चकरो	चाकर
सांवला	सांवरो	सांवर
गोरा	गोरो	गोर
प्यारा	प्यारो	पियार
मेरा	मेरो	मोर
तेरा	तेरो	तोर
तुम्हारा	तुम्हारो	तुम्हार

१. वा० वि० पृ० ४०४।

साधारण क्रिया के रूप अवधी में लध्वंत अकारांत होते ही हैं, जैसे आउब, जाब, करब, खाब—पुनि आउब एहि बिरियाँ काली खड़ी बोली के समान अवधी में भी भूतकालिक कृदंत होते हैं। बहुत से अकर्मक कृदंत विकल्प से लघ्वन्त भी होते हैं, जैसे 'ठाढ़' बैठ, आप।

सकर्मक करना, देना और लेना इन तीन क्रियाओं के भी विकल्प से क्रमशः कीन्ह, दीन्ह और लीन्ह रूप होते हैं। इसी प्रकार पद्य में कभी-कभी वर्तमान काल के रूप के स्थान पर संक्षेप के लिए धातु का रूप रख दिया जाता है। यथा—

'मुनिहि हरिअरइ सूझ'

संभाव्य भविष्यत् का रूप साधारणतः तो वर्तमान ही के समान पुरुष भेद लिए हुए होता है। पर ठेठ पूरबी अवधी में प्रायः प्रथम पुरुष में भी मध्यम बहुवचन का रूप ही रहता है जैसे 'जाउ सो संपति सदन सुख'।

लिंग

महाभाष्यकार के अनुसार लिंग के सम्बन्ध में लोक ही प्रमाण है—लोकाश्रयाच्च लिंगम्।[१] कहना न होगा कि गोस्वामी जी में लिंग सम्बन्धी अव्यवस्था कतई नहीं है। इस मामले में उन्होंने हिन्दी की प्रकृति का पूरा-पूरा ध्यान रखा है। हाँ, एकाध शब्द ऐसे अवश्य हैं, जिनका लिंग गड़बड़ दीखता है। देवता को उन्होंने हिन्दी के अनुसार पुल्लिंग रखा है। इसी नियम का पालन हम अग्नि, वायु आदि में भी पाते हैं पर प्रश्न को उन्होंने स्त्रीलिंग में रखा है।

(१) उमा प्रश्न तब सहज सुहाई
(२) कीन्ह प्रश्न जेहि भांति भवानी

अवधी में एक बात और ध्यान देने की है। वह यह कि चौपाई में चरण के अन्त का पद यदि लध्वंत हो तो भी दीर्घान्त कर दिया जाता है। अतःचरण के अन्त में आए हुए किसी पद के लिंग का निर्णय करते समय यह विचार लेना चाहिए कि वह छंद की दृष्टि से लध्वंत तो नहीं किया गया है जैसे

(१) मरम बचन जब सीता बोला
(२) उत्तर दिसि सरजू बह पावनि

बात यह है कि कभी-कभी वर्तमान में संक्षेप के लिए धातु का रूप रख दिया जाता है। अतः बोला वास्तव में 'बोल' है जो छंद की द्रष्टि से दीर्घान्त कर दिया गया है। ऐसे बहुत से प्रयोग देखे जा सकते हैं—

---

१. प्राकृत व्याकरण ' के अनुसार भी 'लिंगमतन्त्रम्' है अर्थात् लिंग के सम्बन्ध में स्वतंत्रता होती है।

(१) कह सीता सुनु जती गोसाईं
(२) कह सीता धरि धीरज गाढ़ा

इन संक्षिप्त रूपों का व्यवहार दोनों लिंग में समान रूप से हो सकता है। इसी प्रकार संभाव्य भविष्यत् का रूप भी कभी-कभी दीर्घान्त होकर चरण के अन्त में आ जाता है।

अर्थभेद

कितने ऐसे शब्द हैं जो पूरबी और पच्छिमी दोनों बोलियों में प्रयुक्त तो होते हैं पर उनमें अर्थ भेद होता है। 'जोहना' और 'चाहना' ये दो शब्द ले लें। हम वाराणसी वाले जोहना को 'प्रतीक्षा' करने के अर्थ में बोलते हैं पर गोस्वामी जी ने सामान्य काव्य भाषा के आदर्श पर इसका व्यवहार देखने के अर्थ में किया है। 'चाहना' को भी बनारस वाले इच्छा करने या प्यार करने के अर्थ में बोलते हैं पर गोस्वामी जी ने इसका प्रयोग 'देखने' ओर ढूँढने के अर्थ में किया है, यथा—अस मानस चख चाही (देखने के अर्थ में) मानस सीय चकित चित रामहि चाहा (ढूँढ़ने के अर्थ में)

इसी प्रकार एक 'माखना' क्रिया है। क्रुद्ध होना इसका सर्वमान्य अर्थ है पर काशी प्रान्त में 'दुखी होने' के अर्थ में इसका व्यवहार होता है।

तन, दरबार और चोर नारि भी ऐसे ही शब्द हैं। 'मानस' का सामान्य पाठक पाठक 'तन' का अर्थ शरीर लेता है, और या 'तरफ' नहीं। यह शरीर अर्थ भी खटकता नहीं। यथा—

'बिहंसे करुना ऐन चितै जानकी लखन तन'

'दरबार' शब्द फारसी का है, जिसका अर्थ आमतौर से 'राजसभा' होता है पर गोस्वामी जी ने इसे 'राज द्वार' के अर्थ में प्रयुक्त किया है—

'गयउ सभा दरबार तब'

मैं समझता हूँ उक्त अभिनव अर्थ में 'दरबार' शब्द के प्रयोक्ता पहले पहल गोस्वामी जी ही हैं।

चोर महल तो सभी जानते थे। गोस्वामी जी ने चोर नारियों की व्यथा को भी समझा—'चोर नारि जिमि प्रगट न रोई'। जान पड़ता है यह गोस्वामी जी का अपना गढ़ा हुआ शब्द है। सम्प्रति पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हो रहा है। शब्द निर्माता इन महाकवि से इस दिशा में प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं। 'चोर महल' उस महल को कहते हैं जहाँ राजा अपनी उप-पत्नियों से मिलते थे। गोस्वामी जी ने इसी आदर्श पर 'चोर नारि' शब्द गढ़ा जिसका अर्थ है 'व्यभिचारिणी स्त्री'। अनाड़ी इसका अर्थ 'चोर की स्त्री' लेते हैं।

इसी प्रकार वज्राघात शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ है वज्र का आघात या वज्र—सा आघात पर कवि का तात्पर्य 'भीषण' से है।

जैसे दंगल शब्द अब संज्ञा से विशेषण हो गया है। पहले कुश्तियों का दंगल होता था अब दंगल—बड़ा=मकान भी होने लगे हैं। जीवित भाषा में शब्दों के साथ नए-नए अर्थ लग ही जाते हैं और जीवन्त कवि की वाणी उससे अनुप्राणित हो, यह स्वाभाविक है।

भाषा सौष्ठव

गोस्वामी जी का काव्य भाषा की उभय शाखाओं ब्रजी एवं अवधी दोनों पर असाधारण अधिकार था। अवधी के पूरबी और पछाहीं दोनों का मेल हम उनके 'मानस' में पाते हैं। भाषा की सफाई और वाक्य रचना की निर्दोषता की दृष्टि से भी हिन्दी के कवियों में अपना सर्वोच्च स्थान रखते हैं। इनकी जैसी गठी हुई सुव्यवस्थित भाषा किसी भी कवि की नहीं है। अनुप्रास के आग्रह और पादपूर्ति के लिए कितने कवियों ने शब्दों का अंगभंग किया है और अशक्त एवं अनुपयुक्त शब्दों को लाकर जमा दिया है पर गोस्वामी जी कहीं भी इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए 'कपिधर्मा' नहीं बनते। उनकी भाषा और अनुप्रास में तो 'प्रीति परस्पर प्रभु अनुगामी' सी दीख पड़ती है। अनुप्रास या तुक के लिए भाव की बलि उन्होंने कहीं नहीं चढ़ाई है फिर भी क्या मजाल कि कहीं वाक्य रचना में शैथिल्य आया हो। भाषा की गठन देखते ही बनती है। लंबे वाक्यों में भी उनकी सम्बन्ध व्यवस्था कहीं शिथिल नहीं होने पाती—

देखिहउं जाइ चरन जल जाता। अरुन मृदुल सेवक सुख दाता।।
जे पद परसि तरी रिषि नारी। दंडक कानन पावन कारी।।
जे पद जनक सुता उर लाए। कपट कुरंग संग धर धाए।।
हर उर सर सरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहउं तेई।।
जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ।
ते पद आजु विलोकिहउं इन्ह नयनन्हि अब जाइ।।

अनुप्रास का उदाहरण उनकी पूरी कृति है। कहीं से उदाहरण ले लें—

लागे विटप मनोहर नाना। बरनबरन बर बेलि बिताना।।

लिंग भेद में तो एक एक मात्रा का ध्यान रखा है—

रामसत्य संकल्प प्रभु सभाकाल-बस तोरि।
मैं रघबीर सरन अब जाउं देहु नहिं खोरि।।

[1]विभक्ति या कारक चिन्ह का अध्याहार तुलसी की रचनाओं में भी कहीं-कहीं करना

---

१. दे० जायसी ग्रन्थावली की भूमिका पृ० १९४—आ० रामचन्द्र शुक्ल।

ड़ा है, पर उन्होंने लोप या तो ऐसा किया है जैसा बोल चाल में भी प्रायः होता है जैसे सप्तमी विभक्ति के चिन्ह का अथवा लुप्त चिह्न का पता प्रसंग में बहुत जल्द लग जाता है। पर जायसी ने मन माना लोप किया है विभक्तियों का ही नहीं, सर्वनामों और अव्ययों का भी।

कहने का तात्पर्य यह है कि विभक्तियों का लोप, सम्बन्ध वाचक सर्वनामों का लोप, अव्ययों का लोप जायसी में बहुत मिलता है, पर तुलसी में खोजने पर भी नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के दोष साहित्य में 'न्यूनपदत्व' के भीतर आते हैं।

गोस्वामी जी ने शब्दों की तोड़ मरोड़ भी बहुत कम की है। एकाध स्थलों पर शब्दों का जो अंग भंग देखने में आता है उसे अपवाद समझना चाहिए।

उमा करत रघपति नर लीला। खेलत गरुड़ जिमि अहिगन मीला॥

मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ

मुहावरे रूढ़ लक्षणा के अन्तर्गत आते हैं। भारतीय काव्य साहित्य में व्यंजना की महिमा है, लक्षणा पर लोटपोट होने की प्रवृत्ति संभवतः विदेशी है। मुहावरों से भाषा में मूर्तिमत्ता एवं सजीवता तो आती है, भावाभिव्यक्ति में सशक्तता एवं लाघव भी आ जाता है। कुछ उदाहरण—

(१) सुनि अघ नरकहु नाक सकोरी
(२) सुमिरहि राम देहि गनि गारी
(३) उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति
(४) गालु करब केहि कर बलु पाई
(५) झुकी रानि अब रहु अरगानी
(६) पुनि अस कबहुं कहसि घर फोरी
(७) समउ फिरे रिपु होहिं पिरीते
(८) करौं तोहि चखपूतरि आली
(९) जारै जोग सुभाउ हमारा। अन भल देखि न जाइ तुम्हारा॥
(१०) झुकी रानि अब रहु अरगानी
(११) नइहर जनम भरब बरु जाई।
जियत न करब सवति सेवकाई॥

लोकोक्तियाँ भी मिलती हैं—

(१) मन-मोदकनि कि भूख बताई।
(२) बवा सो लनिअ लुहिअ जो दीन्हा
(३) टेढ़ जानि संका सब काहू। वक्र चन्द्रमा ग्रसै न राहू॥
(४) अर्ध तजहि बुध सरबस जाता।

मन्थरा की निम्नीय उक्ति अब लोकोक्ति बन गई है—

'मानस' में जो मुहाविरे या लोकोक्तियाँ आई हैं वे यों हीं भाषा के स्वाभाविक प्रवाह में आई है, काव्य रचना की कोई आवश्यक अंग समझ कर नहीं बाँधी गई हैं। मुहाविरे को अधिक प्राधान्य देने से रूढ़ पद समूहों में भाषा बँधी सी रहती है। उसकी शक्तियों का नवीन विकास नहीं होने पाता। कवि अपने विचारों को ढालने के लिए नैए नए सांचे न तैयार करके बने बनाए सांचों में ढलने वाले विचारों को ही बाहर करता है।[1]

सम्प्रति प्रसंगानुकूल झंकृति पर बड़ी दाद दी जाती है। मानस में यह झंकृति भी मौजूद है—

१. कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
२. कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं॥
३. जंबुक-निकर कटक्कट कट्टहिं। 'खाहिं हुआहिं अघाहिं डुपट्टहिं॥

समास-पदयोः पदानां वैकत्र समासोऽयं समासः-दो या दो से अधिक शब्द मिलकर जहाँ एक पद हो जाते हैं वहाँ समास होता है।

हिन्दी की प्रवृत्ति समास बहुलता की और नहीं है। ठेठ हिन्दी में समास दों शब्दों से अधिक नहीं होते। गोस्वामी जी संस्कृत के आदर्श पर स्तोत्रों में तो लंबे-लंबे समास लाए हैं जैसे—

मोहाम्मोधर पूग पाटन विधौ स्वः संभवं शंकरं

वर्णनात्मक प्रसंगों में भी लाए हैं—

जन-मन-मंजु-मुकुर-मल हरनी। किए तिलक गुन गन बस करनी॥
श्री गुरु-पद-नख-मनि-गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥

पर सामान्यतः वे समास बहुला भाषा के फेर में नहीं पड़े हैं।

शब्द शक्तियाँ

शब्दार्थ ही काव्यशरीर है और अलंकार आभूषण एवं रस आत्मा[2] कहा गया है। ऊपर जो भाषा पक्ष पर विचार हुआ है वह इन्हीं शब्दशक्तियों का, खासकर अभिधा का अंग

---

१. दे० जायसी ग्रन्थावली की भूमिका १९३ आ० शक्ल।

२. अर्थ शब्द वपुः काव्यं रसैः प्राणैर्विसर्पति।
अंजना तेन सौहार्दं रसेषु कवि मानिनाम्॥ ३।२१ नाट्यदर्पण
अर्थात् शब्द और अर्थ रूप शरीर वाला काव्य, रस रूप प्राणों से ही चलता है इसलिए अपने को कवि समझने वाले (सुकवियों) का रसों के प्रति अनायास प्रेम होता है।

है। तीन प्रकार की शब्द शक्तियाँ हैं (१) अभिधा (२) लक्षणा (३) व्यंजना। कोई कोई तात्पर्य वृत्ति भी मानते हैं।

प्रमाणों में जो स्थान प्रत्यक्ष का है, शब्द शक्तियों में वही स्थान अभिधा का है।

(अ) **अभिधा**—साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराने वाली मुख्य क्रिया (व्यापार) को अभिधा कहते हैं। इस संकेत ग्रह के अनेक साधन बताए गए हैं—

[1]शक्ति ग्रहं व्याकरणोपमानं कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषान्निवृत्तेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥१॥

यह शक्तिग्रह या संकेत[2] ग्रह व्यक्ति के उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा रूप धर्मों में मानते हैं।

चारों के उदाहरण इस वाक्य में देखें—

शुक्ल वर्ण की चलती हुई डित्थ नाम की गाय।

इसमें 'गौ' जाति 'शुक्ल' गुण 'चलती हुई' क्रिया और 'डित्थ' यदृच्छा हुई।

वाचक शब्द के निम्नीय तीन भेद होते हैं—

(१) यौगिक	(२) योग रूढ़	(३) रूढ़
सुधांशु	वारिज	घड़ा

नैयायिकों, मीमांसकों एवं वैयाकरणों में शब्द शक्तियों पर बड़ा शास्त्रार्थ चला है। प्रायः शक्ति, संकेत एवं सम्बन्ध को लोग समानार्थक मान लेते हैं पर नागेश भट्ट के अनुसार **शक्ति** वाच्य वाचक भाव को, **सम्बन्ध** शब्दार्थ के तादात्म्य को, **संकेत** वृद्ध प्रयोग को कहते हैं।

वाक्य को समझ लेने पर अभिधा को समझने में सुविधा होगी।

'वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासक्ति युक्तः पदोच्चयः'

आकांक्षा, योग्यता, और आसक्ति से युक्त पदसमूह वाक्य कहलाता है। इनका भी क्रमशः परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए।

---

१. व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, निवृति और सिद्ध पद के सान्निध्य से शक्ति या संकेत का ग्रहण माना जाता है।

२. संकेत' पारिभाषिक शब्द है। आचार्य शुक्ल के अनुसार प्रथम और प्रमुख अर्थ को संकेत कहते हैं। इस शक्ति की बौद्धिक प्रक्रिया का नाम 'शक्तिग्रह' या संकेतग्रह है। शक्तिग्रह या संकेतग्रह कई प्रकार से होता है—निरीक्षण अभ्यास, प्रसंग, उपदेश आदि इसके साधन हैं।—रसमीमांसा पृ० ३०४।

आकांक्षा—अर्थ ज्ञान की पूर्ति की जिज्ञासा को कहते हैं।

योग्यता—बुद्धि संमत सम्बन्ध को कहते हैं।

आसक्ति—कहते हैं अव्यधान को।

वाक्य में एक शब्द दूसरे शब्द की अपेक्षा रखता है, जैसे गौ, अश्व, आदमी परस्पर निराकांक्ष हैं, एक दूसरे से उदासीन हैं। अतः इन शब्दों का समूह वाक्य नहीं कहा जा सकता।

यदि हम कहें 'आग से सींचता है' तो यह भी वाक्य न होगा क्यों कि सींचा जल से जाता है, आग से नहीं। आग की योग्यता जलाने की है, सींचने की नहीं। एतावता योग्यता[1] के अभाव में इसे भी वाक्य नहीं कह सकते। कुत्ते को पीया मारा पानी यह पद समूह भी वाक्य नहीं हो सकता क्योंकि इसमें आसक्ति नहीं है। आसक्ति के लिए आवश्यक है अर्थ के विचार से परस्पर संवद्ध दो पदों के बीच समय और पदार्थ का अव्यवधान। उदाहृत पद समूह में 'कुत्ते को' और 'मारा' पदों के बीच 'पीया' पद व्यवधान उपस्थित करता है। इसी प्रकार एक शब्द सवेरे और दूसरा शाम को कहा जाए तो इससे भी वाक्य नहीं वन सकता। इस विवेचन से आसक्ति के दो भेद प्रतीत होते हैं और वस्तुतः उनके दो भेद हैं भी--

(१) कालव्यवधान आसक्ति (२) अन्वयानुपयुक्त पदान्तर व्यवधान।

वाक्य—योग्यता, आकांक्षा और आसक्ति से युक्त पद समूह वाक्य कहलाता है।

(१) **महावाक्य**[2]—'अपने (२) अर्थबोध में समात, (आकांक्षादिविशिष्ट) वे सभी पद सन्दर्भ रूप वाक्य जब परस्पर अंगांगीभाव सम्बन्ध से सम्बद्ध हो जाया करते हैं तब एक वाक्य अथवा 'महावाक्य रूप में दिखाई देते हैं।'

वाल्मीकीय रामायण, रघुवंश आदि महावाक्य हैं। शब्दशक्तियों पर हुए मीमांसकों एवं वैयाकरणों के शास्त्रार्थ वड़े ही गंभीर एवं ज्ञानवर्द्धक भी हैं।[3]

---

१. पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में वाध का न होना ही योग्यता है—
योग्यता पदार्थानां परस्पर सम्बन्धे बाधाभावः—सा० दर्पण पृ० ३१।

२. स्वार्थबोध समाप्तानामंगागित्व व्यपेक्षया।
वाक्यानामेक वाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते॥--सा० द० पृ० ३७।
--अनु० डा० सत्यव्रत सिंह।

३. वैयाकरणों और मीमांसा के मतानुसार अभिधा एक स्वतंत्र पदार्थ है, उसका अन्य किसी पदार्थ में समावेश नहीं हो सकता। पर नैयायिक इसका प्रतिवाद यह कह कर करते हैं कि ईश्वरेच्छा से तो संसार का प्रत्येक पदार्थ व्याप्त है कोई ऐसी वस्तु नहीं जो उसकी इच्छा का विषय न हो। यतः इच्छा एक पदार्थ है यतः घटपट दोनों के विषय में समान इच्छा होगी। फलस्वरूप घटादि पदार्थ पटादि पदों के वाच्य हो जायंगे। इस दोष के

(अ) लक्षणा का लक्षण करते हुए आचार्य शुक्ल अपने रसमीमांसा में लिखते हैं कि मुख्यार्थ का बाघ[1] होने पर (देखिए योग्यता) रूढ़ि के कारण या किसी प्रयोजन के लिए मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का ज्ञान जिस शक्ति के द्वारा होता है वह लक्षणा है। अन्य अर्थ का बोध दो कारणों से होता है (१) अन्वयानुपपत्ति (अन्वय का अभाव) और (२) मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध। यह दूसरा अर्थ मुख्यार्थ से सर्वथा असंबद्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ उपादान लक्षणा को ही लें जिसमें लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ को लिए रहता है। लक्षणा के मुख्य तीन हेतु हैं—

(१) मुख्यार्थ का बाघ
(२) मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से सम्बन्ध
(३) रूढ़ि या प्रयोजन। लक्ष्यार्थ का ग्रहण रूढ़ि अथवा प्रयोजन के अनुरोध से होता है।

रूढ़ि का उदाहरण—नाहित कोसलनाथ के साथ कुसल गइ नाथ।
मिथिला अवध विसेषतें जगु सब भयउ अनाथ॥[2]

समाधान स्वरूप उनके अनुसार होना यह चाहिए कि विशेष विशेष व्यक्तियों को उपाधि रूप मानकर ही घटादि पदों की अभिधा होती है।" पर दूसरे विद्वान् इस समाधान को संतोषजनक कहीं मानते। वे कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा को अभिधा मानने पर उसके ज्ञान और यत्न को भी अभिधा मानना होगा क्योंकि जो पदार्थ ईश्वर की इच्छा के विषय हैं वे उनके ज्ञान और यत्न के भी विषय हैं। दूसरे अभिधा तो ईश्वर की इच्छा है और ज्ञान और यत्न नहीं, इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है। अतः यह पक्ष ठीक नहीं है और अन्ततः झख मारकर अभिधा को एक स्वतंत्र पदार्थ मानना पड़ता है।

१. यों तो 'बाघ' का तात्पर्य योग्यता का अभाव। उक्ति की पदावली में तर्क सिद्ध संबन्ध का अभाव है, किंतु विशेष परिस्थिति में इस पद के कथन की अनुपपत्ति का अभाव भी समझना चाहिए। चाहे वह तर्क से ठीक ही क्यों न हो। यह बात निम्नीय उदाहरण से बहुत स्पष्ट है—
'आपने बड़ा उपकार किया' इत्यादि। इसमें वाक्यगत लक्षणा कही जाती है। मेरे मत से यहां वाक्य गत लक्षणा नहीं व्यंजना है। यह उदाहरण लक्षणा का उदाहरण हो सकता है, यदि इस वाक्य के पहले 'आपने मेरा घर ले लिया' इत्यादि कहा जाय।—रसमीमांसा ३०६। 'बाघ' प्रत्यक्ष विरोध ही में नहीं अपितु वहां भी होता है जहां वक्ता का अभिप्राय मुख्यार्थ से नहीं निकलता।—दे० रसमंजरी।

२. रूढ़ि में भी प्रयोजन रहता है पर वह प्रत्यक्ष नहीं रहता, व्यवहार की बहुलता से दब जाता है—
तेन प्रयोजनस्यापि द्वैविध्यम्। किंचिद्धि सान्तरार्थं परिग्रहे प्रयोजनमनादि वृद्धव्यवहार प्रसिद्धचनुसरणात्मकत्वात् रूढ्यनुवृत्ति स्वभावम्। अपरं तु रूढ्यनुसरणात्मकं यत्प्रयोजन-

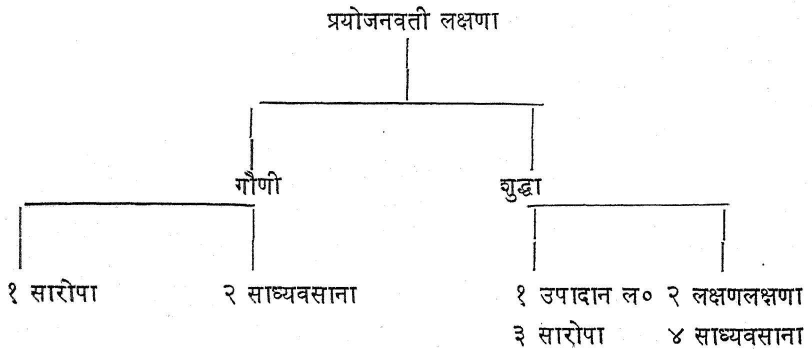
चित्रकूट में जनक के दूतों की यह उक्ति है। वे कहते हैं कि कौसल नाथ (दशरथ) के साथ कुशल चली गई। उनके वियोग से यों तो सारा संसार अनाथ होगया, उसमें भी मिथिला और अवध तो विशेष रूप से अनाथ हो गए हैं। संसार, मिथिला और अवध स्थान हैं। जड़ भूमि या भूमि खंड क्या अनाथ होंगे यहाँ तात्पर्य है उन स्थानों में रहने वाले से अर्थात् संसार में रहने वाले, मिथिला और अयोध्यावासी अनाथ होगए, दूतों के कहने का यह आशय है। यह प्रयोग 'समस्तता' को व्यक्त करने के उद्देश्य से किया गया है।

प्रयोजन का उदाहरण—

बीच बास करि जमुनहिं आए

यहाँ 'जमुनहिं' का मुख्यार्थ तो 'यमुना नदी की धारा' होता है पर यहाँ मुख्यार्थ का बाध है। अतः 'यमुना का तट' अर्थ करना पड़ता है। 'तट' अर्थ का ग्रहण हमें सामीप्य सम्बन्ध से होता है।

लक्षणा के भेद-जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया कहीं कहीं मुख्यार्थ लक्ष्यार्थ के साथ लगा रहता है उसके अनुसार लक्षणा के दो भेद होते हैं-(१) अजहत्स्वार्था या अजहल्लक्षणा या उपादान लक्षणा (२) जहत्स्वार्था या जहल्लक्षणा या लक्षणलक्षणा। ये दोनों लक्षणाएँ प्रयोजनवती लक्षणा के अन्तर्गत आती हैं, अतः प्रयोजनवती लक्षणा के मुख्य भेदों का उल्लेख समीचीन होगा।



गौणी के दो और शुद्धा के चार भेद होते हैं।

(१) गौणी सारोपा

पुरुषसिंह दोउ वीर हरषिचले मुनिभय हरन।

यहाँ रामलक्ष्मण को सिंह कहने में मुख्यार्थ का बाध है पर बलातिशय के कारण

मुक्तं तद्व्यतिरिक्तेव एत्वनारगतस्य संविज्ञानपदस्य रूपविशेषस्य प्रतिपादनं नाम। अभिधावृत्ति मातृका—बा० वि० पृ० ४१६।

उनमें सिंह का आरोप किया है। पुरुष और सिंह दोनों का शब्द द्वारा कथन होने से सारोपा-गौणी लक्षणा हुई।

(२) साध्यावसाना गौणी लक्षणा

फिरि पछितैहसि अंत अभागी। मारसि गाइ नाहरू लागी॥

दशरथ जी कैकेयी से कहते हैं कि तू ताँत के लिए गोवध कर रही है पर इस कथन में मुख्यार्थ का बाध है। लक्ष्यार्थ है एक तुच्छ वस्तु के लिए निरपराध और पूज्य पति का निर्दय घात कर रही हो। यह कार्य अत्यन्त दारुण और पापपूर्ण है, यह सूचित करना प्रयोजन है। गो रूप दशरथ और कसाई रूप कैकेयी। तथा नहारू रूप भरत के राजा होने का काल्पनिक आभिमानिक सुख। इन उपमानों का ही उल्लेख है—उपमेयों का शब्द द्वारा कथन नहीं है, अतः अध्यवसाय है। उपमेयों और उपमानों में तात्कर्म्य सम्बन्ध है।

यहाँ गौणी और शुद्धा का थोड़ा सूक्ष्म अन्तर समझ लेना चाहिए गौणी में लक्षणा का आधार सादृश्य होता है। जैसे मुख को कमल के समान कहने में प्रफुल्लता आल्हादकता का सूचन प्रयोजन होता है। साम्यमूलक अलंकारों के मूल में यही लक्षणा होती है। इसी प्रकार किसी की वीरता पर प्रसन्न होकर यह कहना कि 'तुम सिंह हो', और किसी पर बिगड़ कर यह कहना कि 'तुम बैल हो' इसी लक्षणा के अन्तर्गत है पर प्रान प्रान के जीवन जी के कहने में सादृश्य सम्बन्ध नहीं अपितु कार्यकारण सम्बन्ध है। अतः ऐसे सम्बन्धों में शुद्धा लक्षणा होती है। अभिधेय के साथ लक्ष्य का अनेक प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है—

(१) अंगांगीभाव, (२) कार्यकारण, (३) तात्कर्म्य, (४) सामीप्य, (५) सादृश्य, (६) समवाय आदि।[1]

यह बात ध्यान में रखने की है कि सादृश्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों से शुद्धा ही होगी और कहना न होगा कि ऐसे सम्बन्धों से अनन्त भेद हो सकते हैं।

उपादान लक्षणा

मोहि मग चलत न होइहि हारी।
छिनु छिनु चरन सरोज निहारी॥

सीता जी राम से कहती हैं कि आपके चरण कमल को क्षण क्षण देखते रहने से मुझे रास्ता चलने का श्रम नहीं अखरेगा। यहाँ चरण कमल में मुख्यार्थ का बाघ है। क्योंकि

---

१. अभिधेयेन सम्बन्धात्सादृश्यात्सम वायत:।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पंचधा मता॥
—भर्तृमित्र। वा० वि० पृ० ४१५।

सीताजी का यह भाव नहीं है कि राम का शेष शरीर कहीं भी रह सकता है, उनके साथ केवल उनके चरण कमल रहने चाहिए। यहाँ चरण राम का अङ्ग है और उसके साथ उनका अवयवावयवी सम्बन्ध है। सीता राम के साथ रहना चाहती हैं। 'चरणवाले' के स्थान पर 'चरण कहने में उसका बड़प्पन बतलाना प्रयोजन है।

(२) बैर अंध प्रेमहिं न प्रबोधू

यहाँ बैर को अंधा कहा गया है। पर इससे अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। अतः संयोग सम्बन्ध या धार्यधारक सम्बन्ध से हमें मुख्यार्थ छोड़कर बैर की जगह 'बैर भाव धारण करने वाला' यह लक्ष्यार्थ लेना होगा। पर 'बैर भाव धारण करने वाला अंधा होता है,' इतने से भी वाक्य का अभिप्राय नहीं खुलता। अतः यहाँ 'अंधा' कहने का प्रयोजन भी स्पष्ट करना होगा। यहाँ 'अंधा' का लक्ष्यार्थ हुआ जिसे भले-बुरे का ज्ञान न हो, जिसका विवेक नष्ट हो गया हो। अतः यह सारोपा शुद्धा उपादान लक्षणा का उदाहरण हुआ।

(३) तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भांति सनेही।

यहाँ 'मातु' और 'पिता' में मुख्यार्थ का बाध है, क्योंकि न तो सीता लक्ष्मण की माता हैं और न राम पिता। पर यहाँ मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ तात्कर्म्य सम्बन्ध है जिससे अर्थ निकलता है 'माता पिता तुल्य पूज्य'। यहाँ यह प्रयोजन व्यंग्य है कि 'राम जानकी की सेवा करना तुम्हारा परम धर्म है और उन्हें भी माता पिता से अधिक तुम्हारी सुख-सुविधा का ध्यान है—

पलक विलोचन गोलक जैसे।

अतः उनके साथ तुम भी वन जाकर सब प्रकार से उनकी सेवा करो।

इसी प्रकार निम्नीय दोहा भी उपादान लक्षणा का उत्तम उदाहरण है :

सीता हरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।
जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥

लक्षण लक्षणा

कह कपि धर्मसीलता तोरी। हमहुँ सुनी कृत परतिय चोरी॥

पराई स्त्री का चुराना धर्मशील का लक्षण तो नहीं। अतः ऐसे व्यक्ति को धर्मशील कहने में मुख्यार्थ का बाध है और प्रयोजन है अधर्मशीलता का आधिक्य सूचन। लक्षणा के लिए तीसरी शर्त है मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ सम्बन्ध। सो विपरीत सम्बन्ध विद्यमान है। धर्मशीलता अधर्मशीलता का उपलक्षण है। विपरीत सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ का बोध होने के कारण इसे विपरीत लक्षणा भी कहते हैं।

(इ) व्यंजना अभिधा और लक्षणा के अपने अपने अर्थों का बोध करा कर विरत हो जाने पर व्यंग्यार्थ का बोध कराने वाली शक्ति व्यंजना कहलाती है।[1]

व्यंजना शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए बताया गया है कि 'वि' उपसर्ग है और 'अंजन' कहते हैं काजल को। अंजन का शाब्दिक अर्थ है वह पदार्थ जो अप्रत्यक्ष वस्तु को प्रत्यक्ष कर दे। व्यंजना एक विशेष प्रकार का अंजन है। काजल तो दृष्टिदोष को दूर करता है पर यह व्यंजना उस अर्थ को प्रत्यक्ष कर देती है जो अभिधा और लक्षणा रूप नेत्रों से दिखाई नहीं पड़ता। एक उदाहरण देकर स्पष्ट कर देना समीचीन होगा। 'गंगायाम् घोषः'...गंगा पर गाँव, यह प्रसिद्ध उदाहरण है। यहाँ मुख्यार्थ का बाध है क्योंकि गंगा में गाँव का होना असंभव है अतः मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ सम्बन्ध-क्रम से हम 'तट' रूप लक्ष्यार्थ पर पहुँचते हैं, अर्थात् गाँव गंगा के तट पर बसा है। अभिधा और लक्षणा यहाँ तक अर्थ देकर विरत हो गई। अब प्रयोजन से भेंट बिना व्यंजना की शरण गए नहीं हो सकती। इसका व्यंग्यार्थ हुआ उक्त गाँव शीतल और पवित्र भी है।

व्यंजना काव्यतिरेक

(१) अभिधा और लक्षणा का व्यापार शब्दों तक ही सीमित होता है पर व्यंजना व्यापार शब्द और अर्थ दोनों में व्याप्त रहता है।

(२) शब्द बुद्धि कर्मणां विरम्य व्यापारः अर्थात् शब्द, बुद्धि और क्रिया अपना-अपना व्यापार करके विरत हो जाने पर दुबारा कार्य नहीं कर सकतीं। अभिधा वाच्यार्थ का, लक्षणा लक्ष्यार्थ का बोध कराकर रुक जाती है तब व्यंजना का काव्याभार आरंभ होता है।

(३) समान अर्थ के बोधक शब्दों का अभिधेयार्थ सर्वत्र एक ही रहता है पर व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

(४) प्रकरण, वक्ता, बोधव्य, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, कार्य संख्या, विषय आदि में वाच्यार्थ और उनके व्यंग्यार्थ में परस्पर भिन्नता रहती है। उदाहरण के लिए 'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ तो एक ही हुआ पर व्यंग्य के क्षेत्र में विभिन्न प्रकरण के अनुसार इसके विभिन्न व्यंग्यार्थ होंगे। यदि सेनापति अपनी सेना से यह वाक्य कहेगा तो इसका व्यंग्यार्थ होगा—चढ़ाई कर दो। दूती का वचन नायिका प्रति होने पर संकेत स्थल पर चलने का सूचक होगा। वासकसज्जा के प्रति कहे जाने पर 'पति आना चाहता है' का द्योतक होगा, पथिक का अपने सहयात्रियों से कथन में संकेत होगा कि अब कहीं डेरा डालना चाहिए आदि।

सारांश यह है कि प्रकरण, वक्ता तथा बोधव्य की भिन्नता के कारण एक ही वाक्य भिन्न-भिन्न व्यंग्यार्थ होते हैं।

---

१. रस मंजरी—(कन्हैयालाल पोद्दार) पृ० ७९।

(५) कहीं वाच्यार्थ विधि रूप होता है पर व्यंग्यार्थ निषेध रूप और कहीं वाच्यार्थ निषेध रूप होता है पर व्यंग्यार्थ विधि रूप। जैसे किसी कुलटा का भगतजी से यह कहना कि आप निडर होकर इस सरिता तट पर घूमिए विधि रूप वाच्यार्थ का निषेध रूप व्यंग्यार्थ हुआ और तू सचमुच वापी में स्नान करके आई है, उसके पास नहीं गई थी, यह निषेध रूप वाच्यार्थ 'तू वापी में स्नान करने न जाकर प्रिय के साथ रमण करके आई है, इस विधि रूप व्यंग्यार्थ का व्यंजक है। अतः अन्य शक्तियों से व्यंजना का स्वरूप भेद है।

(६) वाच्यार्थ का बोध प्रथम होता है तदनन्तर व्यंग्यार्थ का बोध होता है। अतः अन्य शक्तियों से व्यंजना का काल भेद होता है।

(७) आश्रय भेद के कारण भी व्यंजना अपना विरल स्थान रखती है क्योंकि वाच्यार्थ की स्थिति तो शब्दमात्र में रहती है पर व्यंग्यार्थ शब्द, शब्द के एक अंश, शब्द के अर्थ और वर्णों की स्थापना विशेष में भी रहती है।

(८) शब्दार्थ का ज्ञान तो व्याकरणादि के द्वारा हो सकता है पर व्यंग्यार्थ का ज्ञान काव्य-मर्मज्ञों को ही हो सकता है।

शब्दार्थ शासन ज्ञान मात्रेणैव न विद्यते,
वेधते सहि काव्यार्थतत्वज्ञैरेव कैवलं।—ध्वन्या० उ० १-७।

अतः अन्य शक्ति से व्यंजना का निमित्त भेद भी सिद्ध हुआ।

(९) व्यंजना का अन्य शक्तियों ये कार्य-भेद भी सिद्ध है क्योंकि वाच्यार्थ से केवल वस्तु का ज्ञान होता है पर व्यंग्यार्थ से चमत्कार उत्पन्न होता है।

(१०) वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में विषय-भेद भी होता है। यथा, 'हे सखी, अपनी प्यारी के अधर को दंतक्षत देख कर भला किसे क्रोध नहीं होगा। मेरे मना करने पर भी कमल पुष्प सूँघकर तुमने यह बला मोल ली—आखिर भौंरे ने काट लिया न।' इस उक्ति में विषय भेद से तीन व्यंग्योक्तियाँ हैं—

१—नायिका का अधर उपपति द्वारा नहीं अपितु भ्रमर द्वारा विक्षत हुआ है, इस व्यंग्य का विषय नायिका का पति है, यह पहला व्यंग्य हुआ।

२—मैं अपने चातुर्य से इसका अपराध छिपा रही हूँ, इस दूसरे व्यंग्य का विषय पड़ोसिन है अर्थात् पड़ोसिन के प्रति यह बात व्यंग्य से सूचित की जा रही है।

३—मैंने इस अपराध का संगोपन कर दिया है इस व्यंग्य का विषय नायिका की सपत्नी है।

अब लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की तीन मुख्य भेदकता भी समझ लें। जैसे किसी पद अथवा वाक्य से अनेक व्यंग्यार्थ निकल सकते हैं वैसे ही अनेक लक्ष्यार्थ भी। पर लक्ष्यार्थ एक हो अथवा अनेक उसका वाच्यार्थ के साथ नियत सम्बन्ध होता है।

किसी अनेकार्थी शब्द का अभिधा से एक ही वाच्यार्थ हो सकता है। ठीक वैसे ही

जैसे लक्षणा वाच्यार्थ के नियत सम्बन्धी अर्थ को लक्ष्य कराती है। जैसे 'गंगा पर गाँव' में गंगा का नियत सम्बन्धी 'तट' है। पर व्यंग्य (१) नियत सम्बन्ध में (२) अनियत सम्बन्ध में और (३) सम्बन्ध-सम्बन्ध में होता है।

व्यंजना के सहकारी

व्यंग्यार्थ समझने के लिए निर्मल प्रतिभा, चतुर लोगों का साथ और प्रकरणादि का ज्ञान आवश्यक है। शब्द व्यापार विचार और रसगंगाधर भूमिका ६४।

व्यंग्यार्थ के बोध के लिए वक्ता, श्रोता और वाच्यार्थ की विशिष्टता का ज्ञान एवं प्रतिभा सहकारी सहकारी है अथवा यों कहिए कि वैसे ज्ञान की उत्पत्ति में परंपरया कारण है।

संबन्धत्रय

(१) नियत सम्बन्ध

'मैं यहाँ सोती हूँ, सास वहाँ सोती है। हे पथिक, तुझे रतौंधी होती है, इसलिए दिन में ही यह सब देखले। कहीं रात में मेरे ऊपर न आ गिरना', यह कामुक पथिक के प्रति स्वयं दूतिका नायिका का कथन है। यहाँ वक्ता नायिका और बोधव्य पथिक के वैशिष्ट्य से व्यंग्य द्वारा नायिका की शैय्या सूचित की गई है। यहाँ 'इच्छानुसार रमण' रूप एक ही व्यंग्य है—वाक्य के साथ व्यंग्यार्थ का नियत सम्बन्ध है।

(२) **अनियत सम्बन्ध**—पूर्वोदाहृत 'अधरक्षत' में विषय भेद से अनेक व्यंग्य हैं। इन व्यंग्यों का एक ही ज्ञाप्य या बोध्य नहीं है, एतावता अनियत सम्बन्ध है।

(३) **सम्बन्ध-सम्बन्धिता**—'देखो, कमल के पत्ते पर बैठी हुई बकी कितनी सुन्दर लग रही है 'जैसे नीलमणि के बर्तन में शंख की सीप रखी हो'। इस वाच्यार्थ से देखिए कितने व्यंग्यार्थ निकलते हैं।

बकी जड़ सीप से उपमित है। मतलब हिलडुल नहीं रही है अर्थात् निर्भय बैठी है, यह प्रथम व्यंग्यार्थ हुआ। इस व्यंग्य से दूसरा व्यंग्य निकला वह स्थान निर्जन है एकान्त है। दूसरे व्यंग्य से तीसरा व्यंग्य यह सूचित हुआ कि वह स्थान रमण के योग्य है। 'अबाध विलास' यह चौथा व्यंग्य है और पाँचवाँ व्यंग्य है 'रतीच्छा द्योतन'। यहां एक व्यंग्य की प्रतीति के अनन्तर दूसरे व्यंग्य की प्रतीति होती है, इसी को सम्बन्ध-सम्बन्धिता कहते हैं।

ध्वनि का अनुमान से पार्थक्य

अनुमान की सत्ता वही संभव है जहाँ हेतु निश्चित हो निर्दोष हो। जहाँ धुएँ का अस्तित्व असंदिग्ध हो वही अग्नि का अनुमान किया जा सकता। दूसरे शब्दों में अनुमान के लिए व्याप्ति सम्बन्ध सन्देह रहित होना अत्यावश्यक है।

व्यंजना के भेद

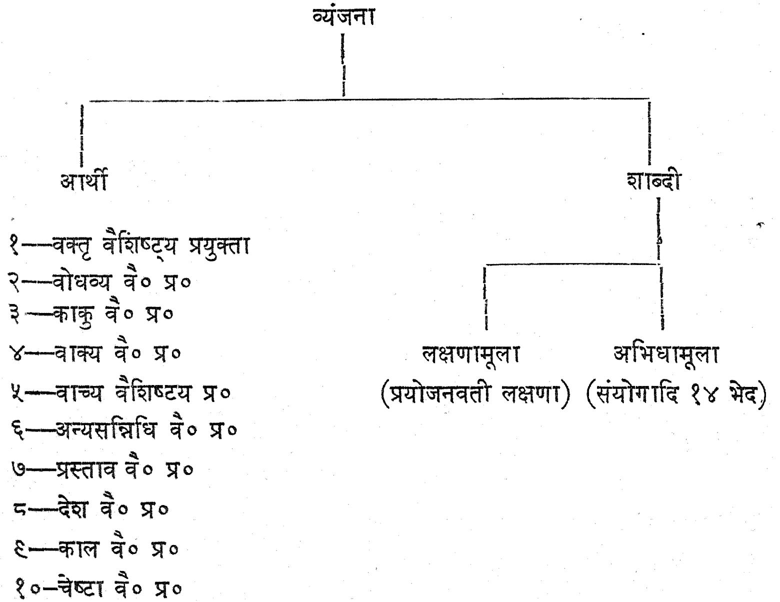
व्यक्त विषय, वाच्यग्रहण, प्रतीयमान अर्थ और व्यंग्योपलब्धि के विचार से व्यंजना कई प्रकार की होती है।

व्यक्त विषय की दृष्टि से (१) वस्तु व्यंजना और (२) भाव-व्यंजना ये दो भेद हैं। अलंकार व्यंजना को वस्तुव्यंजना में ही अन्तर्भुक्त मानते हैं।

वाच्य ग्रहण अथवा शब्द और अर्थ के विचार दो भेद होते हैं (१) अभिधा मूला और (२) लक्षणा मूला। प्रतीयमान अर्थ के विचार से (१) अर्थान्तर संक्रमित और (२) अत्यन्त तिरस्कृत ये दो भेद हैं।

संलक्ष्यक्रम और असंलक्ष्यक्रम ये दो भेद व्यंग्योपलब्धि की दृष्टि से हैं।[1]

शब्द और अर्थ की दृष्टि से शाब्दी और आर्थी भेद वाली व्यंजना पर यहाँ विचार करना अभीष्ट है। निम्नीय चक्र से समझने में सुविधा होगी।



शाब्दी व्यंजना

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के १४ भेद हैं[2] (१) संयोग (२) विप्रयोग (३) साहचर्य

---

१. वाङ्मय विमर्श पृ० ९४।

२. संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य संन्निधिः॥

(४) विरोध (५) अर्थ (६) प्रकरण (७) लिंग (८) अन्य सन्निधि (९) सामर्थ्य (१०) औचित्य (११) देश (१२) काल (१३) व्यक्ति (१४) स्वर।

उदाहरण

संयोग—ससि संपन्न सोहमहि कैसी।
उपकारी की संपति जैसी॥

यहाँ 'ससि' शब्द का अर्थ चन्द्रमा भी हो सकता है और शस्य भी। पर महि शब्द के संयोग से शस्य ही वाच्य अर्थ होगा, चन्द्रमा नहीं।

विरोध—मत्तनागतम कुंभ बिदारी। सहि केसरी गगन वनचारी।

'नाग' शब्द का अर्थ सर्प भी है और हाथी भी। यहाँ यह शब्द केशरी के साथ आया है। केशरी और हाथी का वैर प्रसिद्ध है। अतः नाग का वाच्य अर्थ यहाँ हाथी होगा, सर्प नहीं।

साहचर्य[1]—'भर्वाहिंसमर्यो आनि भवानी'

अर्थात् भव को भवानी समर्पित की गई। भव का अर्थ संसार होता है और शिव भी—भवं भवानी सहितं नमामी' से शिव और पार्वती का साहचर्य प्रसिद्ध है अतः, यहाँ भव शिव के वाच्य अर्थ में ही नियंत्रित हो गया है।

प्रकरण—हरिहित सहित राम जब सोहे। रमा समेत रमापति मोहे॥

यहाँ 'हरि' का अर्थ प्रकरणवश घोड़ा होगा, विष्णु नहीं।

इसी प्रकार 'कह लंकेस मंत्र लगि काना' का 'लंकेस' शब्द भी है जो विभीषण का सूचक है, रावण का नहीं। क्योंकि यहाँ प्रकरण सुबेल शृङ्ग स्थित सपरिकर भगवान् राम की झांकी का है।

देश—आए व्याहि राम घर जबतें : बसइ अनन्द अवध सब तब तें॥

राम न केवल दाशरथि राम को अपितु परशुराम और बलराम को भी कहते हैं। पर अयोध्या से सम्बन्ध दाशरथि राम से ही है, अतः अवध देश के कारण अर्थ का नियंत्रण इन्हीं राम में हो गया है।

सुनु रावण ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचित माया॥

इस अवतरण में भी रावण शब्द अनेकार्थी है। दशानन रावण, अहिरावण, महा-रावण आदि 'रावण' शब्द के अर्थ हैं पर लंका देश में रावण का वर्णन होने के कारण यहाँ दशकन्धर रावण से ही तात्पर्य है।

सामर्थ्यमौचिती देशः कालोव्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति हेतवः॥—भर्तृहरि।

१. साहचर्य और संयोग से परस्पर यह अन्तर है कि संयोग में सहितवाचक शब्द लगा होता है और साहचर्य में द्वन्द्व समास होता है।

अन्य सन्निधि[1]—सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोंच बनै पोसै॥

यहाँ सेवक शब्द की सन्निधि से पति शब्द की शक्ति का स्वामी अर्थ में नियंत्रण हो गया है। अनेक आचार्य अन्य सन्निधि में दोनों पदों का अनेकार्थक होना आवश्यक बताते हैं पर कुछ आचार्य इसको नहीं स्वीकार करते।

लिंग—'कोपेउ जर्बाह वारिचर केतू'

'वारिचर केतू' का अर्थ समुद्र के अतिरिक्त कामदेव भी होता है। पर कोप काम का चिह्न हो सकता है, जड़ समुद्र का नहीं। अतः यहाँ लिंग के आग्रह से कामदेव ही अर्थ ठीक होगा।

औचित्य—विनु हरि भजन न भवतरिय यह सिद्धान्त अपेल में 'हरि' का अर्थ भव से तारने के औचित्य से राम ही होगा।

काल—नौमी तिथि मधुमास पुनीता। सुकुल पच्छ अभिजित हरिप्रीता।

प्रस्तुत अवतरण में मधु शब्द मास के साथ आने के कारण चैत्र महीने के अर्थ में नियंत्रित हो गया है। वैसे मधु शब्द के मघु, वसंत आदि भी अर्थ होते हैं।

आर्थी व्यंजना

वक्तृवैशिष्ट्य—राम, चन्द्रमा के वर्णन के माध्यम से अपने सैनिकों को सीता का स्मरण करा रहे और साथ ही वीररस की व्यंजना द्वारा शत्रु पर चढ़ाई के लिए भी उन्हें उद्यत कर रहे हैं—

पूरब दिसा बिलोकि प्रभु देखा उदित मयंक।
कहत सर्बाहि देखहु ससिहि मृगपति सरिस असंक॥
पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बल रासी॥
मात्तनाग तम कुंभ बिदारी। ससिकेसरी गगन बर चारी॥
बिथुरे नभ मुकताहल तारा। निसि सुन्दरी केर सिंगारा॥

यहाँ वक्ता राम है, वक्तृवैशिष्ट्य प्रयुक्ता है।

बोधव्य वैशिष्ट्य—कपट मुनि कालनेमि को सम्बुद्ध कर हनुमान जी कह रहे हैं—

पहिले मुनि गुरु दछिना लेहू। पाछे हर्माहि मंत्र तुम देहू॥

बौद्धा के वैशिष्ट्य से 'गुरु दछिना' का व्यंग्यार्थ खुलता है। यहां वक्तृ वैशिष्ट्य भी है।

---

१. अन्य सन्निधि में दोनों पक्षों का नानार्थक होना सिद्धांत नहीं है जैसा कि 'विरोधता' में प्राचीनों के समर्थन से स्पष्ट है।—हिन्दी रसगंगाधर पृष्ठ २९५।

निम्नलिखित अवतरण भी बोधव्यवैशिष्ट्य के अच्छे उदाहरण हैं—

धर्मशीलता तब जग व्यापी। पावा दरस हमहुं बड़ भागी॥

(अंगद वचन रावण प्राप्ति)

हंस बंसु दशरथ जनकु रामलखन से भाइ।
जननी तूं जननी भई। विधि सन कछु न बसाय॥

(भरत वचन कैकयी प्रति)

वाच्य वैशिष्ट्य और काल वैशिष्ट्य—

घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रियाहीन डरपत मन मोरा॥

वर्षा कालिक कामोद्दीपक विशेषणों वाले वाक्यार्थ की विशेषता द्वारा विरही राम सीता का स्मरण कर रहे हैं, यही उक्त अवतरण से ध्वनित है।

प्रस्ताव वैशिष्ट्य—

तात प्रताप प्रभाव तुम्हारा। को कहि सकइ को जाननि हारा॥
अनुचित उचित काजु कछु होऊ। समुझि करिय भल कह सब कोऊ॥
सहसा करि पाछे पछिताहीं। कहहिं वेद बुध से बुध नाहीं॥

से यह ध्वनि निकलती है कि भरत के प्रति लक्ष्मण की शंका निर्मल है।

चेष्टा वैशिष्ट्य (वाच्य संभवा)

(१) **सादर भलेंहि मिली एक माता। भगिनी मिलीं बहुत मुसकाता।**
(२) **मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी**
(३) **मन ही मन महेस मुसुकाही**
(४) **कैकइ सुता सुनत कटुबानी। कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी।**
तन पसेउ कदली जिमि कांपी। कुबरीं दसनजीभ तब चांपी

चिन्हित अवतरण चेष्टावैशिष्ट्य वाच्यसंभवा के अच्छे खासे उदाहरण हैं।

अन्यसन्निधि—

करहिं कूट नारदहिं सुनाई। नीकि दीन्हि हरि सुन्दरताई॥
रीझहिं राजकुंअरि छबि देखी। इनहिं बरिहि हरि जानि विसेषी॥

यहाँ नारद मोह का प्रकरण है। रुद्र का एक गण अपने दूसरे साथी को सम्बुद्ध कर और साथ ही नारद को सुनाकर उक्त बात कह रहा है। तीसरे व्यक्ति नारद की समीपता के कारण यह व्यंग्य सूचित हो रहा है कि 'इन वानर मुख वाले मुनि को राजकन्या कदापि नहीं वरण कर सकती चाहे दूसरे को भले ही वर ले।

अथवा

बिस्नु कहा अस बिहंसि तब, बोलि सकल दिसिराज।
बिलग बिलग होइ चलहु सब, निज निज सहित समाज॥

यह दोहा अन्यसन्निधि का उत्तम उदाहरण होगा।

भगवान विष्णु कौतुकी हैं। बरात में यत्रतत्र बिखरे शिवगणों को एकत्र करके जो कौतुक उन्होंने रचा उसका प्रतिफल हम बरात के पुर-प्रवेश करते ही देखते हैं। कुछ देर तक तो यहाँ तक गतिरोध उत्पन्न हो जाता है कि--

तुम्ह सहित गिरतें गिरौं पावक जरौं जलनिधि महुं परौं।
घर जाउ अपजसु होउ जग जीवत बिवाहु न हौं करौं॥

विष्णु के उक्त प्रस्ताव पर देवता मुसकुराते हैं और शिवजी भी। वे यही समझ कर मुसकुराते हैं कि भगवान् को कुछ विनोद करने की सूझी है। शिव समाज की विद्रूपता पर रास्ते भर तो कहीं किसी का ध्यान नहीं गया था पर सबके समाज के विलग विलग होते ही--

हिय हरखे सुर सेन निहारी। हरिहिं देखि अति भए सुखारी॥
सिव समाज जब देखन लागे। बिडरि चले वाहन सब भागे॥

यहाँ व्यंग्य को सूचना शिव जी की सन्निधि से ही मिलती है।

काकु वैशिष्ट्य-

काह न पावकु जारि सब का न समुद्र समाइ।
का न करै अबला प्रबल केहि जग कालु न खाइ॥

अर्थात् अग्नि सब कुछ जला सकती है, समुद्र में सब कुछ समा सकता है, काल सबको नष्ट कर सकता है और अबला प्रबल होने पर अर्थात् शक्ति प्राप्त करने पर घर को चौपट कर देती है।

वक्तृवैशिष्ट्यादि में से प्रत्येक के वाच्य संभवा,[२] लक्ष्य संभवा और व्यंग्य संभवा कर के तीन तीन भेद होते हैं।

लक्ष्य संभवा (लक्षणामूला व्यंजना)

कह कपि मुनि गुर दछिना लेहू। पाछे हमहिं मन्त्र तुम्ह देहू॥

यह मायावी साधु कालनेमि के प्रति हनुमान जी की उक्ति है। प्रसंग की प्रतीति हो जाने पर गुरुदक्षिणा में मुख्यार्थ का बाध दिखाई पड़ता है। क्योंकि वह हनुमान जी को विलमाने के लिए कपटी साधु बना था—

'काज नसाइहि होत प्रभाता'

पर मगरी से पूरा रहस्य ज्ञात होने पर हनुमान कहते हैं कि पहले मुझसे गुरु दक्षिणा सकार लो तब मंत्र देना। यहां लक्षणा से 'गुरुदक्षिणा' का तात्पर्य मृत्यु के लिए तैयार होना है।

इसका व्यंग्यार्थ है कि कपटाचार जैसे बुरे कर्मों का अन्तिम परिणाम कभी अच्छा नहीं होता।

इस प्रसंग में 'सर मज्जन करि आतुर आवहु। दिच्छा देउं ग्यान जेहिं पावहुँ' में वाच्यार्थ तो यह है कि सरोवर में स्नान करके शीघ्र आओ ताकि तुम्हें दीक्षा देकर ज्ञानान्वित करूं पर व्यंग्यार्थ यह है कि वह इन सब विधियों में उलझा कर देर करना चाहता है। इस पूरे प्रसंग में यह व्यंग्य भी है कि साधक के मार्ग में अनेक मायिक प्रत्यूह मोहक रूप धारण करके उसे पथभ्रष्ट करने के लिए उपस्थित है पर सुमति सम्पन्न एवं विराग जन उससे प्रभावित नहीं होते।[1]

कालनेमिकलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू॥

व्यंग्य संभवा व्यंजना—

नैहर जनमु भरब बरु जाई। जिअत न करबि सबति सेवकाई॥

इस अवतरण में पहला व्यंग्य तो यह है कि नैहर में जिन्दगी काटना बड़ा कष्टकर एवं अपमानजनक व्यापार है। दूसरा व्यंग्य है उससे भी दारुण सौत की अधीनता में जीवन यापन करना है। तीसरा व्यंग्य है सौत से बढ़कर कोई शत्रु हो नहीं सकता। चौथा व्यंग्य 'परउं कूप तुअ बचन पर सकउं पूत पति त्यागी में निहित है अर्थात् सौत के षड्यन्त्र को विफल करने के लिए इतनी हानि उठाने को भी तैयार हूँ, पाँचवाँ व्यंग्य है—

होत प्रातु मुनि वेष धरि जौं न रामु बन जाहिं।
भोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माँहि॥

भरत राजा भले ही न हो पर राम को अपने जीते जी राजा बनने नहीं दूंगी। 'खान पाना ढा लड़ाना' इसी को कहते हैं।

---

१. कोटि विघ्न तें सन्त कर मन जिमि नीति न त्याग।

पंचम अध्याय

प्रमुख वादों का ऐतिहासिक क्रम-विकास

हमारे यहाँ आलंकारकों में अनेक सम्प्रदाय थे। प्रायः सभी आचार्यों के विवेचन का लक्ष्य काव्य की आत्मा की खोज रहा है। अलंकार सर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने इन सम्प्रदायों के अविर्भाव के बड़े ही संगत कारण बतलाए हैं। उनके अनुसार शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशेषता तीन तत्वों—धर्म, व्यापार और व्यंग्य से संभव है।

धर्म के दो भेद होते हैं—(१) नित्य और (२) अनित्य। नित्य धर्मगुण है और अनित्य है अलंकार। इस प्रकार धर्ममूलक वैशिष्ट्य के आधार पर दो सम्प्रदाय खड़े हुए—(१) अलंकार सम्प्रदाय, (२) गुण या रीति सम्प्रदाय।

व्यापारमूलक वैशिष्ट्य के भी दो भेद हुए—वक्रोक्ति तथा योजकत्व। वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक हुए और योजकत्व व्यापार की कल्पना की भट्टनायक ने। परन्तु इसे अलग न मानकर विद्वान् भरत के रस मत में ही गतार्थ मानते हैं। कारण भरतमुनि के प्रसिद्ध सूत्र 'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः' की व्याख्या में इस अभिनव व्यापार की कल्पना की गई है।

व्यंग्यमुख से शब्दार्थ में विशिष्टता स्वीकार की है आनन्दवर्धन ने। इन्होंने 'ध्वन्यालोक' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखकर 'ध्वनिमत' की प्रतिष्ठा की। प्रस्तुत ग्रन्थ में इन्होंने ध्वनि विरोधी जिन तीन मतों की चर्चा की है वे निम्नीय हैं—(१) अभाववादी (२) भक्तिवादी (३) अनिर्वचनीयतावादी। अभाववादियों में भामह, उद्भट आदि प्रमुख हैं जो गुण अलंकारादि को काव्य का प्रधान तत्व स्वीकार करते एवं ध्वनि की सत्ता में कतई विश्वास नहीं करते। इन्हीं लोगों में एक वर्ग ऐसा है जो अलंकार के भीतर ही ध्वनि का भी अस्तित्व स्वीकार करता है। इसे अन्तर्भाववादी कह सकते हैं।

भक्तिवादी ध्वनि को लक्षणा के भीतर लेते हैं।

तीसरे हैं अनिर्वचनीयतावादी जो ध्वनि को एक अनिर्वचनीय पदार्थ मानते हैं। उनके अनुसार ध्वनि का निरूपण शब्दों में कदापि संभव नहीं है वह केवल बुद्धिगम्य है।[1]

---

(१) तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिती द्विधा।
अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यलंकृतिः॥

समुद्रबन्ध ने न तो भरत के रससिद्धान्त की चर्चा की है और न क्षेमेन्द्र के औचित्य की ही। पर आधुनिक विद्वान् इन प्रमुख सम्प्रदायों का भी परिगणन कर कुल छः सम्प्रदाय मानते हैं—

सम्प्रदाय	आचार्य
(१) रस सम्प्रदाय (काव्यस्यात्मा स एवार्थः)	भरतमुनि
(२) अलंकार सम्प्रदाय (अलंकार एवं काव्ये प्रधान-मिति प्राचां मतम्)	भामह, उद्भट तथा रुद्रट
(३) रीति सम्प्रदाय (रीतिरात्मा काव्यस्य)	दंडी तथा वामन
(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय (वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्)	कुन्तक
(५) ध्वनि सम्प्रदाय (काव्यस्यात्मा ध्वनिः)	आनन्दवर्धन
(६) औचित्य सम्प्रदाय (औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्)	क्षेमेन्द्र

इन सिद्धान्तों का ऐतिहासिक क्रमविकास हम यथाक्रम प्रस्तुत कर रहे हैं।

(१) रस सम्प्रदाय

राजशेखर के अनुसार रससिद्धान्त के आदि प्रवर्तक नन्दिकेश्वर हैं। पर न तो इस नाम के किसी व्यक्ति का कोई ग्रन्थ ही रस विषय पर उपलब्ध होता है न कोई मत ही प्राप्त होता है। अतः पुष्ट प्रमाण के अभाव में नन्दिकेश्वर को मूल प्रवर्तक नहीं माना जा सकता। जो रस सिद्धान्त आज उपलब्ध हैं उसके संस्थापक भरतमुनि ही ठहरते हैं। आपका नाट्यशास्त्र इस विषय पर एक प्रौढ़ ग्रन्थ है जिसके प्रसिद्ध सूत्र 'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः' के व्याख्याक्रम में चार मुख्य आचार्य सामने आते हैं—

(१) भट्टलोल्लट, (२) शंकुक, (३) भट्टनायक और (४) अभिनव गुप्ताचार्य।

इन आचार्यों ने उक्त सूत्र पर क्रमशः चार मतों की स्थापना की है—

(१) उत्पत्तिवाद, (२) अनुमितिवाद, (३) भुक्तिवाद और (४) व्यंजनावाद।

रसस्य कार्यता भोगो व्यापारन्तरबाधनम्।
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः॥ विमर्शिनी पृ० ९।

इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्टयं धर्ममुखेन व्यापार मुखेन व्यंग्य मुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम् द्वितीयेयेऽपि मणितिवैचियेण भोग कृत्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पंचसु पक्षेष्वाद्यः उद्भट दिमिरंग कृतः, द्वितीयो वामनेन तृतीयो वक्रोक्ति जीवित कारेण, चतुर्थोभट्ट नायकेन, पंचम आनन्दवर्धनेन॥

—(दे० भारतीय साहित्य शास्त्र प्रथम खंड पृ० २३७।

संक्षेप में इन वादों का परिचय दे देना उचित होगा।

(१) **भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद**—भट्टलोल्लट के अनुसार विभाव के द्वारा रस उत्पन्न किया जाता है। अतः रस-विभाव में उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध है। निष्पत्ति का तात्पर्य उत्पत्ति से है। अनुभाव रस प्रतीति में कारण होते हैं। अतः अनुभाव और रस में भिन्न सम्बन्ध होता है। संचारी भाव अपनी उपस्थिति से रस की पुष्टि करते हैं, अतः रस के साथ उसका पोष्य-पोषक सम्बन्ध है। इस प्रकार हम संयोग को, इनकी व्याख्या में, त्रिविध रूप में देखते हैं। इसके मत में सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उससे दर्शक और अभिनय के सम्बन्ध का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। यदि रस राम में ही है तो दर्शक उससे कैसे प्रभावित होते हैं? और यदि नट में उसकी स्थिति मानें तो भी दर्शकों को उससे क्या लेना देना?

(२) **शंकुक का अनुमितिवाद**—शंकुक के अनुसार रस अनुकरण रूप होता है। वे कहते हैं कि जैसे चित्रस्थ तुरग वास्तविक गुण से भिन्न होता हुआ भी उसकी (वास्तविक की) प्रतिकृति होने से उससे अभिन्न माना जाता है वैसे ही अनुकार्य राम की भूमिका अदा करने वाला नट भी उनसे भिन्नाभिन्न सम्बन्ध रखता है। अतः राम में उत्पन्न होने वाले रस के अनुमान के बल पर नट में आरोप होता है और दर्शक भी उस रस को अनुमान के सहारे ग्रहण कर आनन्दित होते हैं। ये सूत्र के 'संयोगात्' का अनुमान एवं निष्पत्ति का अनुमिति अर्थ लेते हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट करते हैं कि यह अनुमति नैयायिक अनुमान से भिन्न है। यह रसानुमान है।

भट्ट तौत ने इस अनुमितिवाद का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि एक तो 'अनुमान की शास्त्रीय पद्धति के भीतर रस-निष्पत्ति का कथमपि निर्वाह नहीं हो सकता, दूसरे अनुमान कभी आनन्ददायक नहीं हो सकता।'

(३) **भट्टनायक का भुक्तिवाद**—इनके अनुसार न तो रस उत्पन्न होता है, न प्रतीत होता है और न व्यक्त ही होता है अपितु कतिपय विशिष्ट व्यापार प्रक्रिया द्वारा वह दर्शक वा सामाजिक द्वारा भोगा जाता है।

व्यापार के तीन रूप होते हैं—(१) अभिधा, (२) भावकत्व, (३) भोजकत्व। अभिधा द्वारा शब्दार्थ की प्रतीति होती है, भावकत्व द्वारा साधारणीकरण होता है अर्थात् इस व्यापार द्वारा ऐतिहासिक और अतीतगत नायक अपने वैयक्तिक निर्देश को छोड़ कर सामान्य हो जाता है।

भोजकत्व व्यापार के द्वारा दर्शक रस को भोग करता है और अपने हृद्यगत राजस तामस भावों से ऊपर उठकर सात्विक भाव की अनुभूति करता है। हृदय के सत्वस्थ होने पर ही रसभुक्ति की दशा उत्पन्न होती है। भट्टनायक के अनुसार 'संयोग' का अर्थ 'भोज्य-भोजक' या 'भाव-भावक' सम्बन्ध है एवं निष्पत्ति का अर्थ है भुक्ति।

इनके शब्द के त्रिविध व्यापार वाली कल्पना पर परवर्ती आचार्यों ने चोट की है।

वैसे दर्शक की दृष्टि से सर्वप्रथम इस सूत्र की व्याख्या इन्होंने ही की और साधारणीकरण को जन्म देकर रस की व्याख्या मनोविज्ञान सम्मत करने की चेष्टा की है ।

अभिनव गुप्त का व्यक्तिवाद

अभिनव गुप्त संयोग का अर्थ व्यंग्य-व्यंजक भाव तथा रस निष्पत्ति का अर्थ रस की अभिव्यक्ति वा व्यंजना लेते हैं । सामाजिक के हृदय में स्थायी भाव वासना रूप से स्थित रहते हैं । विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के द्वारा यही स्थायीभाव व्यंजित अथवा अभिव्यक्त होता है । ये भाव साधारण रूप से ही गृहीत होते हैं । रस आनन्द रूप है, अलौकिक है, इसीलिए काव्य में शोक भी श्लोक बन जाता है ।

अलंकार सम्प्रदाय

अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं भामह और पोषक हैं भामह के टीकाकार उद्भट । दंडी, रुद्रट और प्रतिहारेन्दुराज भी इसी मत के अनुयायी हैं ।

भरत अनुप्रास, उपमा, रूपक और दीपक इन्हीं चार अलंकारों का उल्लेख करते हैं । अतः मूलभूत अलंकार ये ही चार हैं । कुवलयानन्द तक ये ही चार अलंकार विकसित होकर १२५ होगए । समय के साथ अलंकारों के स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया । जैसे भामह ने वक्रोक्ति कों अलंकारों का जीवनाधायक तत्व घोषित किया है पर वामन ने अर्थालंकार और रुद्रट ने शब्दालंकार स्वीकार किया है । इन आचार्यों ने मौलिक तत्वों के आधार पर अलंकारों का विभाजन भी किया है । रुद्रट और विद्याधर का प्रयत्न इस दिशा में द्रष्टव्य है ।

आलंकारिक रस सिद्धान्त से भी परिचित थे और काव्य में उनकी सत्ता इन्हें अंगीकृत थी ।[१] रसवत्, प्रेयः, ऊर्जस्वी और समाहित अलंकारों के भीतर इन्होंने समस्त रसों और भावों को समाविष्ट कर लिया है । रस की स्पष्ट प्रतीति इनके मत से भी दोषावह है ।[२] दंडी ने रसवत् अलंकारों के अन्तर्गत आठों रसों एवं आठ स्थायी भावों को लिया है और माधुर्य गुण के भीतर भी रस का निवेश मानते हैं ।[३] इसी प्रकार इन आलंकारिकों के ध्वनि तत्व से भी परिचित होने के संकेत मिलते हैं ।[४]

---

१. युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्—भामह, काव्यालंकार १।१२१

२. रसवद् दर्शित स्पष्ट शृंगारादि रसं यथा।
देवी समागमद् धर्म भस्करण्यति रोहिता।। काव्यालंकार ३।६

३. इहत्वष्टरसायता रसवत्ता स्मृता गिराम्—काव्यादर्श २।२९२
प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृंगारतां गता—काव्यादर्श २।२८१
मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः—काव्यादर्श १।५१

४. इह तावत् भामहोद्भट प्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारक

रुद्रट ने प्रतीयमान अर्थों के वैशिष्ट्य से युक्त भणिति के लिए भाव नामक एक नवीन अलंकार की उद्‌भावना कर डाली। इस प्रकार प्रतीयमान अर्थ को स्वतंत्र न मानकर अलंकार के भीतर उसे सन्निविष्ट करने वाले आलंकारिकों को अन्तर्भाववादी कहा जा सकता है।

रीति सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक वामन हैं जिनके अनुसार रीति ही काव्य की आत्मा है—'रीतिरात्मा काव्यस्य'। वह रीति है 'पदों की विशिष्ट रचना' और पदों में वैशिष्ट्य आता है गुणों के कारण। अतः रीतिगुणों के आश्रित कही गई है—

विशिष्टा पद रचना रीति, विशेषो गुणात्मा

सर्वप्रथम गुणों का वर्णन भरतमुनि ने किया था।[1]

फिर दंडी ने दस गुणों की सत्ता स्वीकार करते हुए भी, उनकी व्याख्या भिन्न प्रकार से की। इनके अनुसार दसों गुण वैदर्भ मार्ग के प्राणभूत हैं और गौड़ी रीति में कतिपय गुणों का विपर्यय होता है—

इति वैदर्भ मार्गस्य प्राणाः दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥

वामन ने उक्त दस गुणों को स्वीकार करते हुए भी उनकी व्याख्या बिलकुल नवीन और मौलिक की है। ये शब्दगत और अर्थगत करके गुणों के दो भेद मानते हैं। पर इनका मत पर काल में मान्य न हुआ। इनके मत को माना केवल भोजराज ने। हाँ, वामन के पूववर्ती भामह का त्रिविध गुण वाला सिद्धान्त अलबत सर्वमान्य हुआ।

मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ आदि ने भी गुणों की संख्या तीन ही मानी है। रीति

तया अलंकार पक्ष निक्षिप्तं मन्यन्ते। रुय्यक, अलंकार सर्वस्व यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योर्थस्तत्समान विशेषणः।

सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा॥

—भामह काव्या० २।७९

पर्यायोक्तंयदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।

वाच्य वाचक वृत्तिभ्यां न शून्येनावगमात्मना॥

—भामह काव्या० ३।३

१. श्लेषः प्रसादः समता समाधिः, माधुर्यमोजः पद सौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्ति रुदारताचं, कान्तिश्च काव्यार्थं गुणा दशेते।

—नाट्यशास्त्र १६-९२

का पुराना नाम मार्ग या पन्थ है। भामह ने आलोचकों की रीति सम्बन्धी निन्दा-स्तुति की गर्हणा करते हुए कहा है कि वक्रोक्ति, पुष्टार्थता, अग्राम्यता आदि गुण जहाँ विद्यमान हों, वहाँ शोभन काव्य मानना चाहिए। चाहे वह मार्ग वैदर्भ हो चाहे गौड़।

वामन तीन रीतियों की सत्ता स्वीकार करते हैं—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली। वैदर्भी में दसों गुण स्थित रहते हैं। गौड़ी में केवल ओज और कांति गुण रहते हैं और पांचाली में माधुर्य और सौकुमार्य का सन्निवेश रहता है। रुद्रट ने लाटीया को भी सम्मिलित करके रीतियों की संख्या चार कर दी और भोज ने आवन्ती, मागधी और लाटी को मिलाकर संख्या ६ तक पहुँचा दी।

वामन ने रीति और गुण को काव्य का एक रस धर्म घोषित किया। इनकी वक्रोक्ति में अविवक्षितवाच्य ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षित होता है। यद्यपि अलंकार वादियों ने रीति के सिद्धान्त का अनुवर्तन नहीं किया पर काव्य के लिए उन्होंने उक्त सिद्धान्त की उपादेयता मानी है। ध्वनिवादियों ने भी ध्वनि के साथ रीति का समन्वय करने की चेष्टा की है। कुन्तक ने रीति को नई दिशा दी। उन्हें रीतियों का नामकरण भौगोलिक आधार पर उक्ति न जंचा। एतावता उन्होंने कवि स्वाभाव से सम्बद्ध मानकर रीति के भिन्न नाम निर्देश किए—

(१) सुकुमार मार्ग (वैदर्भी रीति), (२) विचित्र मार्ग (गौड़ी रीति), (३) मध्यम मार्ग (पांचाली रीति)

इन रीतियों के लिए कुन्तक ने चार गुणों की भी कल्पना की।

(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय

साहित्यशास्त्र में सर्वप्रथम संभवतः भामह ने ही वक्रोक्ति की कल्पना की है। वे वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति से अभिन्न मानते हैं। अभिनव गुप्त ने अपने 'ध्वन्यालोक लोचन' में वक्रोक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

शब्दस्यहि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम्

(लोचन पृ० २०८)

अर्थात् शब्दार्थ का लोकोत्तर रूप से अवस्थान ही उनकी (शब्द और अर्थ की) वक्रता है। जैसे 'वह मर गया' को वक्रोक्ति में वह कीर्ति शेष हो गया कहेंगे।

दंडी ने कथन को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति इन दो भेदों में बांटा है। जबकि भामह प्रत्येक अलंकार के मूल में वक्रोक्ति की स्थिति मानते हैं। श्लेष के संयोग से वक्रोक्ति में और चमत्कार आ जाता है, दंडी की ऐसी मान्यता है।[1] वामन की व्याख्या भामह से बिल-

---

१. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नम् द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥२॥ ३६३ काव्यादर्श

कुल भिन्न हुई। भामह के अनुसार जहाँ वक्रोक्ति अलंकारों की सामान्य मूलभूत थी वही वामन ने उसे अर्थालंकारों के खाते में डाल दिया है और साथ ही उसे सादृश्य पर आधृत लक्षणा कहा है।[1]

रुद्रट ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार के अन्तर्गत निविष्ट किया है। उदाहरणस्वरूप निम्नीय अवतरण लीजिए—

अहो केने दृशी बुद्धिः दारुणातव निर्मिता।
त्रिविधा श्रुयतेबुद्धिर्नतु दारुमयो क्वचित्॥

कोई वक्ता कह रहा है कि किसने तुम्हारी बुद्धि को दारुण (क्रूर) बनाया है। श्रोता 'दारुणा' पद को दारु (काष्ठ) शब्द की तृतीया विभक्ति में मानकर उत्तर देता है कि बुद्धि त्रिगुणमयी तो सुनी गई है परन्तु दारुमयी (काष्ठमयी) बुद्धि तो कभी नहीं सुनी गई।

पर कुन्तक की वक्रोक्ति इससे सर्वथा भिन्न है—वैदग्धी भंगी भणितिः अर्थात् किसी वस्तु का अलौकिक ढंग से कथन ही वक्रोक्ति है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भामह की वक्रोक्ति कुन्तक तक आते-आते क्या से क्या हो गई। जहाँ भामह उसे अलंकार का मूल मानते हैं, वहीं वामन उसे सादृश्यमूला लक्षणा के रूप में अर्थालंकार स्वीकार करते हैं, रुद्रट शब्दालंकार के भीतर ग्रहण करते हैं और कुन्तक काव्य का मूलतत्व बताते हैं। ये वक्रोक्ति को काव्य का जीवातु मानते हैं। इनकी वक्रोक्ति इतनी व्यापक और उदार है कि उसके पेटे में ध्वनि आदि समूचा काव्यांग समा जाता है। पर पिछले खेवे के आचार्यों ने रुद्रट का अनुसरण करके वक्रोक्ति को शब्दालंकार ही माना, कुन्तक की ओर किसी ने देखा तक नहीं। हाँ, ध्वनिवादियों ने अलबत कुन्तल से प्रेरणा ली।

ध्वनि सम्प्रदाय

ध्वनिवादियों ने आरंभ से लेकर तत्कालीन सभी काव्य तत्वों का ध्वनि के साथ सामंजस्य स्थापित करने का महत्तम कार्य सम्पन्न किया है। इस महनीय सिद्धान्त को व्यवस्थित करने एवं उसकी प्रौढ़तम मीमांसा करने का गौरव प्राप्त है आनन्दवर्धन को। अभिनव गुप्त ने 'ध्वन्यालोक लोचन' लिखकर आनंद के ध्वन्यालोक पर एक पांडित्यपूर्ण एवं मार्मिक भाष्य उपस्थित किया। अनेक दिग्गज आचार्यों ने इस सिद्धान्त को छिन्न-भिन्न कर देने में कोई कोर कसर नहीं रखी। (जैसे प्रतिहारेन्दु राज, कुन्तक, भट्टनायक, महिम भट्ट आदि ध्वनि सिद्धान्त के प्रबल विरोधियों में थे) पर जैसे पहाड़ को फूँक कर नहीं उड़ाया जा सकता वैसे ही विरोधी भी कुछ बिगाड़ नहीं सके। इन आचार्यों के आक्षेपों का युक्तियुक्त उत्तर देकर मम्मट ने मानो इस सिद्धान्त को काव्य जगत् में आचन्द्रार्क अचल कर दिया।

---

१. सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिः। बहूनि वक्रोक्ति रसाविति।
असादृश्य निबन्धनात्तु लक्षणान् वक्रोक्तिः—वामन, काव्यालंकार ४।३।८ सूत्रवृत्ति

ध्वनि की कल्पना वैयाकरणों के स्फोटवाद से की गई और भरत के रसवाद को विस्तृत करके उसका प्रासाद खड़ा किया गया। ध्वनि रूपी प्रासाद वस्तु व्यंजना, अलंकार व्यंजना और रसव्यंजना रूपी स्तम्भों पर आधृत है।

अर्थ मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं--(१) वाच्य, (२) प्रतीयमान। वाच्य के अन्तर्गत अलंकार आते हैं और प्रतीयमान के भीतर ध्वनि। यह ध्वनि अथवा प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से ही निकलता है पर होता है उससे कहीं अधिक रमणीय और चमत्कारपूर्ण। जैसे किसी युवती में उसके अवयवों--हाथ, पाँव, नाक, मुँह--से भिन्न ही लावण्य की सत्ता होती है वैसे ही काव्य में अलंकारादि अंगों से पृथक् व्यंग्यार्थ अपने अस्तित्व की घोषणा करते दीख पड़ता है[1]--

'थी एक लकीर हृदय में जो अलग रही लाखों में'

ध्वनिवादियों की दृष्टि में काव्य के तीन भेद मान्य हैं--

(१) ध्वनिकाव्य, (२) गुणीभूत व्यंग्य, (३) चित्र काव्य।

ध्वनिकाव्य में प्रतीयमान अर्थ का चमत्कार प्रधान होता है, गुणीभूत व्यंग्य में वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य कम चमत्कारक होता है तथा चित्रकाव्य में शब्दालंकार और अर्थालंकार के द्वारा काव्य में चमत्कार लाया जाता है। ये तीनों भेद क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम काव्य के नाम से अभिहित हैं।

ध्वनिसम्प्रदाय ने गुण को काव्य का नित्य धर्म और अलंकार को अनित्य धर्म माना है। यथा

तमर्थ मवलम्बन्ते येङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्॥ ध्वन्यालोक २।७

रस, वक्ता एवं वर्ण्यविषय के विचार से ध्वनिकार संघटना के तीन भेद मानते हैं--

(१) असमासा, (२) मध्यम समासा, (३) दीर्घसमासा

इनके यहाँ वाचक-वाच्य दृष्टि से काव्य की दो वृत्तियाँ स्वीकृत हैं--

(१) शब्दवृत्ति, जिसके भीतर उपनागरिका, परुषा और कोमला (ग्राम्या) ये अवान्तर भेद आते हैं।

(२) अर्थवृत्ति, जिसके अन्तर्गत कैशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती भेद परिगणित हैं। ये रीति स्थानीय ही हैं।

---

१. **प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वंस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।**
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥

--ध्वन्यालोक १।४।

[1]रसानुकूलवृत्ति-विधान ही काव्य के लिए वांछनीय माना गया है।

ध्वनिकार की दृष्टि में मुख्यार्थ को हानि पहुँचाने वाला तत्व ही दोष है—मुख्यार्थापहितिर्दोषः। यह मुख्य अर्थ है रस। अतः रस की हानि करने वाले दोषों से काव्य को बचाना चाहिए।

औचित्य सम्प्रदाय

औचित्य तत्व के स्वतंत्र व्याख्याता यद्यपि क्षेमेन्द्र थे पर इस कल्पना के जनक भी भरत मुनि ही थे। नाट्यशास्त्र में वे लिखते हैं—

अदेशजोहिवेशस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैव प्रजायते।। नाट्यशास्त्र। २३।६८

अर्थात् जो आभूषण जहाँ पहनना योग्य है वहीं पहनने पर उसकी शोभा होती है जैसे करधनी कमर में ही धारण करने पर फबती है, मणिबन्ध में नहीं।

भरतमुनि के बाद आनंदवर्धन ने भी औचित्य के महत्व को आंका है—

औचित्याद् ऋते नान्यद् रस भंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषद् परा।।

लोचन के कर्त्ता अभिनव ने यह सिद्ध किया कि ध्वनि के बिना औचित्य की सत्त बात ही बात है। अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमेन्द्र ने, जो स्वतः ध्वनिवादी थे, औचित्य विचार चर्चा नाम्नी पुस्तक लिखकर औचित्य की प्रतिष्ठा व्यापक काव्य तत्व के रूप में की। उनके अनुसार उचित का ही भाव औचित्य कहलाता है—

उचितं प्राहराचार्याः सदृशं किल यस्ययत्।
उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते।।
औचित्य विचार चर्चा कारिका ७

इन्होंने औचित्य को काव्य का जीवित भूत माना है।[2] यह कहना अनुचित न होगा कि औचित्य सिद्धान्त के प्रवर्तन में क्षेमेन्द्र ने भरत और आनन्दवर्द्धन से पर्याप्त सामग्री ली है।

---

१. तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारः ता एता कैशिकाद्याः वृत्तयः वाचकाश्रयाश्च उपनागरिकाद्याः वृत्तयो हि रसादितात्पर्येणनिवेशिताः कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च छायामावधन्ति। रसादयोहि द्वयोरपितयोजीवित भूतः इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव। ध्वन्यालोक पृ० १८२।

२. औचित्यस्य चमत्कार कारिणश्चारु चर्वणे।
रस जीवित भूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।। औचित्यविचारचर्चा कारिका ३

मानस में काव्य दृष्टि

काव्य के दो पक्ष होते हैं---(१) हृदयपक्ष (२) कलापक्ष ।

रसादि हृदयपक्ष के भीतर आवेंगे और अलंकारादि कलापक्ष के भीतर । पहला काव्य का अन्तरंग तत्व है और दूसरा बहिरंग । पर पहले की अभिव्यक्ति के लिए दूसरा परमावश्यक है । किसी रचना में हृदय पक्ष का मार्मिक उन्मेषजिसे पढ़ सुन कर 'मन बुधि चित अहमिति विसराई' की स्थिति उत्पन्न हो जायकर पाना सबके बूते की बात नहीं है । ऐसी रचना वही कवि वरेण्य प्रस्तुत कर सकता है जो संवेदनशील हो, जिसका हृदय विशाल हो, जिसमें भावप्रसार की शक्ति हो, मर्मस्पर्शी स्वरूपों की उद्भावना की सामर्थ्य एवं शब्दशक्ति की सिद्धि हो । यही नहीं कवि का मानव प्रकृति के साथ पूरा पूरा तादात्म्य होना चाहिए और होना चाहिए मनुष्य की अन्तः प्रकृति के साथ उसका रागात्मक सामंजस्य । पर इसके साथ ही यदि कला पक्ष भी ठीक रहा तो कहना ही क्या । अग्निपुराण के अनुसार तो बिना अलंकार के सरस्वती विधवा कही गई है । कहना न होगा कि गोस्वामी जी में दोनों तत्वों का सन्तुलित योग मिलता है । यही कारण है कि उनकी रचना 'सोन सुगन्ध सुधा ससिसारू' का जीवन्त निदर्शन बन गई है । सबसे पहले हम रसों को लेंगे । शास्त्रों में रसों के क्रम का भी निरूपण मिलता है ।[1]

यदि ध्यान से देखें तो मानस में इस नियम का निर्वाह मिलता है । सबसे पहले शृङ्गार का वर्णन हमें शिवजी पर कामदेव के आक्रमण वाले प्रसंग में मिलता है ।[2]

फिर शिव विवाह में तथा नारद मोह वाले प्रसंग में हास्य की सरस व्यंजना होती है । इसके अनन्तर राम राज रस भंग एवं दशरथ मरण जैसे कारुणिक प्रसंग आते हैं । तत्पश्चात् दंडकारण्य में भगवान का निशिचर हीन करों महि भुज उठाइ प्रन कीन्है वाला उद्घोष सुनाई पड़ता है और लंका के मैदान में रौद्र, वीर, भयानक और अद्भुत रसों की अभिव्यक्ति होती है । फिर उत्तर में शान्तरस निरूपित हुआ है ।

---

१. तत्र कामस्य सकल जाति सुलभतयात्प्रन्त परिचितत्वेन सर्वान् प्रलि हृघतेति पूर्व शृंगारः। तदनुगामी च हास्यः। निरपेक्ष भावत्वात् तद्विपरीत स्ततः करुणः । अतस्तन्निमित्तं रौद्रः। सचार्थ प्रधानः। ततः कामर्थयो धर्म मूलत्वाद् वीरः। सहिधर्मप्रधानः तस्य च भीताभयप्रदान सास्त्वात् तदनन्तरं भयानकः। तद्विभाव साधारण्य संभावत्ततो वीभत्सः। वीरस्य पर्यन्ता द्भुतः। यद्वीरेण आक्षिप्तं फलमित्यनन्तरं तदुपादानम्। तथा च वक्ष्यते पर्यन्ते कर्तव्यो नित्यंरसोद्भुतः इति। ततास्त्रिवर्गात्मक प्रवृत्ति धर्मविपरीत निवृत्ति धर्मात्मको मोक्ष फलः शान्तः। तत्रस्वात्मावेशेन रसचर्वणा।—दे० अभिनव भारती, पृ० ४३२।

२. जे सजीव जग अचर चर नारि पुरुष अस नाम।
ते निज निज मरजाद तजि भए सकल बस काम॥
सबके हृदय मदन अभिलाषा। लता निहारि नवहिं तरु साखा॥

सुकवियों के काव्य निर्माण विषयक व्यापार के मुख्य उद्देश्य रसादि ही हैं, इसलिए उनके निबन्धन में उन सत्कवियों को सदैव प्रभादरहित रहना चाहिए।[१]

रस की प्रक्रिया पर भरत का 'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद् रस निष्पत्तिः' वाला सूत्र प्रसिद्ध है जिस पर विभिन्न व्याख्याएं मिलती है। सर्व प्रथम हम भगवान् वेद व्यास के मत पर विचार करेंगे। वे कहते हैं—

जिसे वेदान्त में अविनाशी, नित्य, अजन्मा, व्यापक, अद्वितीय ज्ञानरूप, स्वतः प्रकाशमान अथवा तमोनिवर्तक और सर्व समर्थ परब्रह्म कहा गया है उसमें स्वतः सिद्ध आनन्द विद्यमान है। वह आनन्द किसी समम प्रकट हो जाया करता है और उस आनन्द की वह अभिव्यक्ति चैतन्य चमत्कार अथवा 'रस' नाम से पुकारी जाती है। उसी सानन्द रूप परब्रह्म का जो पहला विकार है उसे अहंकार माना जाता है। उस अहंकार से अभिमान अर्थात् ममता उत्पन्न होती है जिसमें यह सारी त्रिलोकी समाप्त हो गई है। तात्पर्य यह कि त्रिलोकी में एक भी वस्तु ऐसी नहीं है जो किसी न किसी की ममता का पात्र न हो। उसी अभिमान अथवा ममता से रति अर्थात् प्रेम अथवा अनुराग उत्पन्न होता है। वही रति व्यभिचारी आदि भावों की समानता से अर्थात् समान रूप में उपस्थित व्यभिचारी आदि से परिपुष्ट होकर शृंङ्गार रस कहलाती है। उसी के हास्यादिक अन्य भी अनेक भेद हैं। राग से शृङ्गार की, तीक्ष्णता से रौद्र की, गर्व से वीर की और संकोच से वीभत्स की उत्पत्ति मानी जाती है। स्वभावतः ये चार ही रस हैं। पर बाद में शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और वीभत्स से भयानक की उत्पत्ति हुई। इस तरह रसों के शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शांत ये नौ नाम हुए। जिस तरह किसी के पास लक्ष्मी अर्थात् सम्पत्ति हो पर वह किसी भी काम में उसका त्याग-व्यय अथवा दान-न करता हो, तो वह शोभित नहीं होती-लोगों पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, ठीक वही दशा, बिना रस की वाणी की होती है। अर्थात् नीरस वाणी कृपण के धन के समान निरुपयोगी और प्रभावशून्य होती है और उसका होना न होना समान है—पाइ रही पाइ बिनु पाई'[२]

नदी उमगि अंबुधि कहुं धाई। संगम करहिं तलाब तलाई॥ —मा स पृ० ८३

१. मुख्याव्यापार विषयाः सत्कवीनां रसादयः।
तेषां निबन्धने भाव्यं तैः सदैवा प्रमादिभिः॥ —ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत

२. अक्षरं ब्रह्म परमं सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरं॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य चमत्कार रसाह्वया॥
आद्यस्तरस्य विचारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः।

मम्मटचार्य के अनुसार लोक में रति आदि स्थायी भावों के कारण, कार्य और सहकारी ही नाटक या काव्य में क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्याभिचारी भाव कहे जाते हैं और इन तीनों के योग से उक्त स्थायी भाव रस रूप में परिणत हो जाता है। भरत मुनि के प्रसिद्ध सूत्र की ही यह व्याख्या है।

रस गङ्गाधरकार ने रस के स्वरूप पर विभिन्न ११ मत दिए हैं जिनमें ८ तो भरत सूत्र की व्याख्या रूप हैं और शेष तीन स्वतंत्र।[1]

ततो भिमानस्तत्रेदं समाप्ँ भुवनत्रयम्॥
अभिमानाद्रतिः सां च परिपोषभूपेयुषी।
व्यभिचार्यादि सामान्याच्छृगाार इति गीयते॥
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।
स्वस्वस्थायि विशेषोथ (त्य) परिद्यो (पो) षस्व लक्षणा॥
सत्वादि गुण सन्तानाज्जायन्ते परमात्मनः।
रागाद्भवति श्रृंगारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात्प्र जायते॥
वीरो वष्टम्भजः संकोचभूर्बमित्स इष्यते।
श्रृंगाराज्जायते हासो रौद्रास्तु करुणोरसः॥
वीराच्चाद्भुत निष्पत्तिः स्याद् वीभत्साद् भयानकः।
श्रृंगार वीर करुण रौद्र वीर भयानकाः॥
बीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वभावाच्चतुरो (?) रसाः।
लक्ष्मीरिव बिना त्यागान्ना वाणी भाति नीरसा॥

—हिन्दी रस गंगाधर (प्रथम भाग) की भूमिका, पृ० ३१

१. अभिनवगुप्ताचार्य और मम्मट का मत—सहृदय पुरुष जिन रत्यादि भावों का अनुभव आए दिन करता है, वे ही भाव वासना रूप से उसके हृदय में स्थित हो जाते हैं और वे ही रत्यादि जब स्वतः प्रकाशमान आत्मानंद के साथ अनुभूत होते हैं तब 'रस' कहलाते हैं। पर उक्त आत्मानंद अज्ञान रूप आवरण से ढंके रहने के कारण वासना रूप से स्थित रत्यादि का अनुभव नहीं होने देता। पर जब विभाव, अनुभाव संचारी भावों के संयोग से अज्ञानता का आवरण हट जाता है तब आत्मानंद के साथ रति आदि भाव अनुभव के विषय बन जाते हैं।

इसी को मम्मटाचार्य यों कहते हैं—

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।

अर्थात् पूर्व कथित विभावादि से व्यक्त होकर स्थायी भाव ही 'रस' कहलाता है। व्यक्त का तात्पर्य अज्ञान रूप आवरण का नष्ट होना, चैतन्य द्वारा प्रकाशित होना है। जैसे ढक्कन के हटा देने पर दीपक स्वयं ही प्रकाशित होता ही है, अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है वैसे ही अज्ञान से निरावृत होने पर आत्मा का चैतन्य विभावादि सहित रत्यादि को प्रकाशित करता है और स्वयं को भी।

अब हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि क्या 'मानस' में भी इस रसप्रक्रिया पर कुछ स्पष्ट संकेत मिलते हैं। मानस के आलोड़न से यह ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी ने

यहाँ एक बात और समझ लेने की है कि रति आदि अन्तःकरण के धर्म हैं और सभी सांसारिक पदार्थों को आत्मा अन्तःकरण से युक्त होकर प्रकाशित करता है। अतः अन्तःकरण के धर्म रत्यादि को "साक्षिमास्य" कहते हैं। अब यहाँ एक शंका उठ खड़ी होती है। वह यह कि यह मान लिया कि रति आदि भाव अन्तःकरण के धर्म होने के कारण आत्मा चैतन्य के द्वारा जाने जाते हैं पर विभावादि–शकुन्तलादि–तो अन्तःकरण के धर्म हैं नहीं। फिर वे कैसे चैतन्य द्वारा भासित हो सकते हैं! इसका समाधान करते हैं कि जैसे स्वप्न में घोड़े आदि और जाग्रत में रांगे में चाँदी आदि के भ्रम साक्षिभास्य ही होते हैं क्योंकि उनका कोई अस्तित्व तो होता नहीं, कल्पना मात्र ही तो होते हैं। चैतन्य का निराकरण होना अर्थात् उस पर से अज्ञान का मल हट जाना ही रसास्वाद कहलाता है—पंडितराज।

दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि जब तक विभावादि की चर्वणा होती है तभी तक आत्मानंद का आवरण भंग रहता है और जब तक यह आवरण भंग रहता है तभी तक रत्यादि प्रकाशित होते हैं। चर्वणा के समाप्त होते ही प्रकाश ढंक जाता है और फलस्वरूप स्थायी भाव के विद्यमान रहते हुए भी हम उनका अनुभव नहीं कर पाते—

याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः रसान्तः स्थमीश्वरं।

(ख)

सहृदय पुरुषों पर विभावादिकों के आस्वादन का प्रभाव पड़ता है। फलस्वरूप काव्य-व्यंजना से उत्पन्न चित्तवृत्ति तदनुकूल स्थायी भाव और पूर्व कथित स्वरूपानंद तीनों मिलकर सविकल्पक समाधि की स्थिति ला देते हैं। इसमें पूर्वोक्त अलौकिक प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं पड़ती अपितु विभावादिकों के आस्वादन के प्रभाव से ही चित्तवृत्ति रति अदि सहित आत्मानंद का अनुभव करने लगती है। यह आनन्द भिन्न कोटि का है शुद्ध चैतन्य रूप है जबकि अन्य सांसारिक आनन्द अन्तःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्य रूप होते हैं।

इस प्रकार अभिनव गुप्त एवं मम्मट के अनुसार 'अज्ञान रूप आवचरण से रहित चैतन्य से युक्त रति आदि स्थायी भाव ही 'रस' है।"

(ग)

पंडितराज कहते हैं कि 'रति' आदि से युक्त आवरण रहित चैतन्य का ही नाम 'रस' है। आगे वे कहते हैं कि रति और चैतन्य दोनों के योग से ही 'रस' रूप की सिद्धि होती है।

रसास्वाद पर आचार्यों के मत

१. चैतन्य का निरावरण होना अर्थात उस पर से अज्ञान का मल हट ही जाना रसास्वाद कहलाता है अंतःकरण की वृत्ति का आनन्दमय हो जाना ही रसास्वाद वा रस चर्वणा है। यह चर्वणा

वैसे 'रस' का नामोल्लेख तो कई बेर किया है। यथा, भाव-भेद रस भेद अपारा। कवित दोष-गुन विविध प्रकारा आदि पर उसकी निष्पत्ति पर स्पष्ट रूप से विचार कदाचित् कहीं नहीं हुआ है। हाँ, परोक्षरूपेण पुष्कल विचार मिलते हैं। मनुष्य के अन्तःकरण में रत्यादि भाव वासना रूप में स्थित रहते हैं, गोस्वामी जी की ऐसी ही मान्यता थी। मनु, भगवान से पुत्र रूप में अवत्तीर्ण होने की प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि आप में मेंरी पुत्र विषयक रति हो और जैसे मणि के बिना सर्प नहीं जीवित रह सकता और मछली बिना

ब्रह्मानंद के आस्वाद से भिन्न आलंबन विभावादि से युक्त आत्मानंद है। यह आस्वाद व्यंजना व्यापार से उत्पन्न होता है, अतः विषयों से असंपृक्त नहीं रहता।

इस काव्यानंद में सुख है, इसमें दो प्रमाण हैं—(१) श्रुति–रसोवैसः (वह आत्मा रस रूप है) और "रस ह्ये वाऽयं लब्दवाऽऽ नंदी भवति" (सरस को प्राप्त होकर ही यह आनन्द रूप होता है)

२—सहृदय हृदय

चित्तवृत्ति आनन्दमय हो जाती है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है।

२. विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के सम्यक् योग अर्थात् भावकत्व व्यापार के द्वारा भावना करने से स्थायी भावरूप उपाधि से प्रयुक्त सत्वगुण की वृद्धि से प्रकाशित, अपने आत्मानंद रूप रस की निष्पत्ति अर्थात 'भोग' नामक साक्षात्कार के द्वारा अनुभव होता है।

३. विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग अर्थात एक प्रकार की भावना रूपी दोष से, दुष्यन्त आदि के अनिर्वचनीय रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है।

४. विभावादिकों के संयोग अर्थात् ज्ञान से, एक प्रकार के ज्ञान रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है।

५. विभावादिकों के संयोग अर्थात् सम्बन्ध से रस अर्थात् रति आदि की निष्पत्ति होती है अर्थात् वे आरोपित किए जाते हैं।

६. कृत्रिम होने पर भी स्वाभाविक रूप में समझे हुए विभावादिकों के द्वारा संयोग अर्थात् अनुमान के द्वारा रस अर्थात् रति आदि की निष्पत्ति होती है। अर्थात् नटादि रूपी पक्ष में अनुमान कर लिया जाता है।

७. विभावादिक तीनों के संयोग अर्थात् सम्मिलित होने से रस की निष्पत्ति ोती है।

८. विभावादिकों में से, संयोग अर्थात् चमत्कारी होने से है। अर्थात् जो चमत्कारी होता है वही रस कहलाता है।

९. बार-बार चिन्तन किया हुआ विभाव ही रस है।

१०. बार-बार चिन्तन किया हुआ अनुमान ही रसहै।

११. बार-बार चिन्तन किया हुआ व्यभिचारी भाव ही रस रूप में परिणत हो जाता है।

—दे० हिन्दी रस गंगाधर, पृ०—

पानी के प्राण धारण नहीं कर सकती वैसे मेरा जीवन भी तुम्हारे अधीन रहे।[१] और दूसरे जन्म में दशरथ अप में हम उक्त वासना की प्रतिध्वनि अविकल अप से पाते हैं।[२] लोक का कारण, कार्य और सहकारी कारण ही तो काव्य का विभाव, अनुभाव और संचारी भाव होता है। वासना को जन्मान्तरीय संस्कार ही तो मानते हैं। यही बात भानु प्रताप के प्रसङ्ग में भी देखने को मिलती है। कपट मुनि से वे वरदान मांगते हैं—

जरा मरन दुख रहित तनु समरजितै जनि कोउ।
एक छत्र रिपु हीन महि राज कलप सत होउ।।

रावण रूप में भी उक्त वासना मिटती नहीं—

"हम काहू के मरहिं न मारे।"

भानुप्रताप के धर्मरुचि नामक मंत्री के धार्मिक संस्कार दूसरे जन्म में भी अक्षुण्ण हैं और वह विभीषण रूप में वर माँगता है—

"तेहि माँगेउ भगवंत पद कमल अमल अनुराग।

जनक की पुष्पवाटिका में राम और सीता का परस्पर आकर्षण प्रीति पुरातन ही के फलस्वरूप था।

खरदूषण का राम के रूप पर मुग्ध होना और सीता के तेजस्वी सतीत्व से रावण का प्रभावित होना-मन महं चरन बन्दि सुख माना-अन्तः करणगत देव विषयक रति का उद्दींत होना ही है। रत्यादि भाव अनुकूल विभावादि पाकर कैसे उद्दीप्त हो जाते हैं, इसे शूर्पणखा वाले प्रसंग में पढ़िए—

होइ विकल सब मनहिं न रोकी। जिमि रवि मनि द्रव रविहि विलोकी।।

गौस्वामी जी के रस सम्बन्धी सिद्धान्त को उनके उस दृष्टान्त से अच्छी तरह समझा जा सकता है जिसमें वे निर्गुण ब्रह्म के सगुण होने की प्रक्रिया का निरूपण करते हुए कहते हैं—

एक दासगत देखिय एकू। पावक जुग सम ब्रह्म विवेकू।।

---

१. सुत विषइक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मढ़ कहै किन कोऊ।।
मनि विनु फनि जिमि जल विनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना।।
२. जिअइ मीन वरु वारि विहीना। मनि बिनु फनिकु जिअइ दुख दीना।।
कहउं सुभाउ न छलु मन माहीं। जीवन मोर राम बिनु नाहीं।।

अर्थात् जैसे एक अग्नि काठ के भीतर छिपी है और एक प्रत्यक्ष है—प्रकट है, वैसे ही निर्गुण ब्रह्म भी अप्रत्यक्ष रूप में मनुष्य के अन्तःकरण में ब्याप्त है और प्रेम वश प्रकट हो जाता है।[1]

इन सब से इसी अनुमान की पुष्टि होती है कि गोस्वामी जी भी रस को व्यंजना का व्यापार मानते हैं। जैसे मिट्टी के नए बर्तन में गन्ध पहले ही से रहती है पर जल का संयोग होते ही वह तुरत व्यक्त हो जाती है अनुभूत होने लगती है वैसे ही सहृदय सामाजिक के अन्तःकरण में रति आदि वासनाएँ पहले ही से अव्यक्त रूप से स्थित रहती हैं और नाटकादि के विभावादि व्यंजकों के संयोग से व्यक्त हो जाती हैं। वासना का जगना ही रसास्वाद है। गोस्वामी जी का यही पक्ष जान पड़ता है।

रसों की संख्या

शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत नाटकों के लिए ये आठ रस भरत मुनि ने स्वीकार किए हैं क्योंकि नाटकों में शान्त का अभिनय नहीं किया जा सकता। पर श्रव्य काव्य में शान्त रस के अस्तित्व को मम्मटाचार्य प्रभृति ने-भरतमुनि के वचनों का अनुगमन करते हुए स्वीकार किया है। कतिपय आचार्यों ने वात्सल्य और भक्ति को भी रसकोटि में सम्मिलित करके रसों की संख्या ११ मानी है। जबकि अन्य आचार्य वात्सल्य को अपत्य विषयक रति एवं भक्ति को देव विषयक रति मात्र बताकर उन्हें भाव के भीतर स्थान देते हैं। कई विद्वान् रस की कल्पना को शाश्वत नहीं मानते, वे उपलक्षण रूप में उसे स्वीकार करते हैं।[2]

---

१. अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। फिरत जीव जग दीन दुखारी॥
जाके हृदय भगति जसि प्रीति। प्रभु तहं प्रगट सदा तेहि रीति॥

२. भक्ति की रसवत्ता के सम्बन्ध में आपने जो कुछ लिखा है उससे यह प्रमाणित नहीं होता कि गोस्वामी जी उसे रस कोटि का नहीं मानते। नव रस की जो चर्चा उन्होंने की है वह तो परंपरा के पालन के लिए। दूसरे भक्त यह कभी नहीं मानता कि जैसे और रस हैं, वैसे ही भक्ति रस भी है। साहित्यिक रसों को वे कटु मानते हैं और अलौकिक रसों को मधुर। चैतन्य सम्प्रदाय में मधुर रस की कल्पना में यह माना गया है कि इसमें भी सभी प्रकार के लौकिक और अलौकिक रसों का अन्तर्भाव हो जाता है। साहित्यिकों ने तो भक्ति को रस नहीं माना, पर मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति में रसवत्ता मानी है। भक्ति सम्प्रदायों में उपासना के जो पांच भाव माने जाते हैं वे सब रस स्थिति तक पहुँचते हैं। दास्य, सख्य, वात्सल्य, कांत और शान्त सभी रस माने जाते हैं। वात्सल्य भाव से वत्सल रस साहित्यिकों ने भी पर काल में स्वीकार किया ही है। सुदामाचरित ऐसे जो काव्य बने हैं उनमें क्या केवल भाव ही माना जाए। उनमें सख्य रस मानने में विशेष बाधा नहीं

आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के जिस पत्र का उद्धरण पादटिप्पणी में दिया गया है वह मेरी कुछ जिज्ञासाओं के समाधान रूप में है। मैंने मिश्रजी से पूछा था कि रसों की संख्या गोस्वामी जी ने भी नव ही लिखी है—'नव रस जप तप जोग विरागा'। भक्ति को उन्होंने स्वतन्त्र रस नहीं माना है। ऐसी स्थिति में मानस में कौन सा रस प्रधान माना जाय? भक्ति को केवल भाव मानते बनता नहीं। शृंगार रस के भीतर भी उसे अन्तर्मुक्त नहीं कर सकते। हाँ, शान्तरस में उसका अन्तर्भाव किया जा सकता है पर उसमें सबसे बाधक हैं पंडितराज जगन्नाथ जिन्होंने लिखा है कि 'भक्ति का शान्तरस में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि अनुराग वैराग्य से विरुद्ध है और शान्त रस का स्थायीभाव है वैराग्य। दूसरे प्रेम पृथक् समझने पर ही हो सकता है, ऐक्य ज्ञान होने पर नहीं।' आगे हमने लिखा था कि गोस्वामी जी ने एक स्थल पर भक्तिरस का प्रवर्त्तक भरतजी को माना है अवश्य, पर रसों की संख्या गिनाई है नौ ही। भरद्वाज जी भरत से कहते हैं—

'राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेस'

इसी के उत्तर में मिश्र जी ने कृपापूर्वक उक्त अभिमत लिख भेजा था।

अतः मिश्रजी के अनुसार मैं मानता हूं कि भक्ति एक स्वतन्त्र रस है और मानस में 'दास्यभाव रति' की व्यंजना भी भरपूर हुई है पर ग्रन्थ का पर्यवसान मैं भक्ति में मान कर 'शान्तरस' में ही मानता हूँ। कारण, पग-पग पर विषयों की विगर्हणा की गई है। 'भव रस विरति' पर जोर दिया गया है और संसार की असारता की दुहाई दी गई है।[1] कथा के प्रमुख वक्ता शिवजी का शान्त रस से उपमित किया जाना भी इसी बात का संकेत देता है कि मानसकार को शान्त रस की अभिव्यंजना ही इष्ट है।

रसविशेष

उत्तरकांड में कहा गया है कि 'रामचरित जो सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना

जान पड़ती। उसे उपलक्षण के रूप में माना जा सकता है। मानस में 'दास्य भक्ति रस' कहा जा सकता है। सेवक सेव्य भाव तो गोस्वामी जी ने प्रधान माना ही है। ऐसा जान पड़ता है कि तुलसीदास माया रस भी मानते थे। भवरस या मायारस की चर्चा उन्होंने की है। साहित्यिकों ने मायारस भी माना है। शांत के प्रतिपक्ष में। शांतिरस में भक्ति का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। पंडितराज का कहना ठीक है। शांत का स्थायी निर्देश या विराग है। भक्ति परानुरक्ति होती है।—आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के एक व्यक्तिगत पत्र से।

१. रजत सीप महुं भास जिमि जथा भानुकर वारि।
जदपि मृषा तिहुं काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥
—मानस।

तिन नाही ।' यह रस विशेष अर कुछ नहीं भक्ति ही है क्योंकि इसके प्रति जो जितना ही अतृप्त एवं पिपासु बना रहता है वह भगवान् का उतना ही प्रीतिपात्र माना जाता है । इस[1] रस के आलंबन भगवान् राम हैं जो 'मानस' के प्रतिपाद्य भी हैं—

एहि महं आदि मध्य अवसाना।
प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥

यही कारण है कि गोस्वामी जी ने बारंबार इन आलंबन रूप भगवान का, अनुसंधान किया है ।[2]

गोस्वामी जी को अपने काव्य-कौशल पर भरोसा नहीं है । उन्हें भरोसा है अपने आलंबन का अपनी काव्य वस्तु का ।[3]

रसों के उदाहरण

सबसे पहले शृङ्गार रस[4] को लीजिए । इसके संयोग[5] और वियोग[6] कर के दो भेद हैं ।

---

१. जिनके श्रवन समुद्र समाना । कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे । तिन्ह के हिय तुम्ह कहुं गृह रूरे ॥

२. पुनरारब्ध विश्रान्ते रसस्यांगिनोऽनुसन्धिश्च । ध्वन्या० दीधिति ३१६
अर्थात् आरम्भ से लेकर समाप्ति पर्यन्त प्रधान रस का स्मरणात्मक अनुसन्धान रखना भी रसाभिव्यक्ति में सहकारी होता है।
आलंबन और आश्रय का बीच-बीच में अनुसंधान न हो तो दोष है, क्योंकि रस के अनुभव की धारा आलंबन और आश्रय के अनुसंधान के ही अधीन है, अतः यदि उनका अनुसंधान न हो तो वह निवृत्त हो जाती है।
—हिन्दी रस गंगाधर पृ० १२२ प्रथम खंड।

३. जदपि कवित रस एकउ नाहीं । राम प्रताप प्रगट एहि माहीं ॥
सोइ भरोस मोरे मन आवा । केहि न सुसंग बड़प्पन पावा ॥
धूमउ तजइ सहज करुआई । अगरु प्रसंग सुगंध बसाई ॥
भनिति भदेस वस्तु भलि वरनी । राम कथा जग मंगल करनी ॥
प्रिय लागिहिं अति सबहिं मम भनिति राम जस संग।
दारु विचारु कि करइ कोउ बंदिय मलय प्रसंग॥
—रा० च० मा०

४. 'शृंगार रसो हि संसारिणां नियमेनानुभव विषयत्वात्सर्वरसेभ्यः कमनीयत या प्रधानभूतः'
—ध्वन्यालोक वृत्ति ३।३९।

५. संयोग शृंगार से निम्नीय २८ सात्विक अलंकारों—(१) हाव (२) भाव (३) हेला

संयोग शृंगार—

देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥
थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हि हूं परिहरीं निमेषें॥
अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितवचकोरी॥
लोचन मग रामहिं उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी॥

अंगज (४) शोभा (५) कान्ति (६) दीप्ति (७) माधुर्य (८) प्रगल्भता (९) औदार्य (१०) धैर्य अयत्नज, और (११) लीला (१२) विलास (१३) विच्छित्ति (१४) विव्वोक (१५) किलकिंचित (१६) मोट्टायित (१७) कुट्टमित (१८) विभ्रम (१९) ललित (२०) मद (२१) विहृत (२२) तपन (२३) मौग्ध (२४) विक्षेप (२५) कुतूहल (२६) हसित (२७) चकित और (२८) केलि की गणना उद्दीपन रूप में की गई है। इनसे नायिका की रमणीयता की अभिवृद्धि होती है। हाव से लेकर धैर्य तक १० अलंकारों की स्थिति नायक में भी मानी गई है पर साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि 'किंतु सर्वे प्यमी नायिकाश्रिता एव विच्छित्ति विशेषं पुष्णान्ति'—(सा० द० तृ० प० पृ० १७७) यद्यपि संस्कृत रीतिशास्त्रों में इन अलंकारों को अनुभावों के भीतर रखा है पर आचार्य इन्हें उद्दीपन विभाव मानते हैं। देखिए गोस्वामी तुलसीदास—तुलसी की भावुकता।

६. उत्तम प्रकृति के नायक-नायिका इसके आलंबन होते हैं। चन्द्रमा, चांदनी चन्द्रनादिलेपन, भ्रमरगुंजार उद्दीपन, भ्रूविक्षेप कटाक्षादि अनुभाव और उग्रता, मरण, आलस्य एवं जुगुप्सा को छोड़कर सभी संचारी भाव इसके पोषक होते हैं। रति स्थायी भाव है। उसके देवता विष्णु भगवान् हैं और वर्ण श्याम है।

शृंगार का दूसरा भेद है विप्रलंभ। इसके भी चार भेद हैं—(१) पूर्वराग विप्रलंभ (२) मान विप्रलंभ (३) प्रवास विप्रलंभ (४) करुण विप्रलंभ। पूर्वराग विप्रलंभ से निम्नीय १० काम दशाएं संभव मानी गई हैं—(१) संप्रलाप (२) चिन्ता (३) स्मृति (४) गुणकथन (५) उद्वेग (६) संप्रलाप (७) उन्माद (८) व्याधि (९) जड़ता (१०) मरण। कुछ आचार्य उक्त १० कामदशाओं के स्थान पर १० दूसरी काम दशाएं मानते हैं—(१) नयन प्रीति (२) चित्त की आसक्ति (३) संकल्प (४) निद्राच्छेद (५) तनुता (६) विषय निवृत्ति (७) त्रपानाश (८) उन्माद (९) मूर्च्छा और (१०) मण। विप्रलंभ शृंगार में निर्वेद, ग्लानि, असूया, चिन्ता व्याधि, उन्माद, अपस्मार, मोह आदि संचारी आते हैं। रति के साथ निर्वेद कैसे आ सकता है, इस शंका का समाधान करते हुए भरत मुनि ने कहा है कि 'करुण में निर्वेदादि भाव रति-निरपेक्ष होते हैं पर विप्रलंभ में रतिसापेक्ष होते हैं। इसलिए इन भावों का शृंगार में प्रादुर्भाव हो सकता है।

—रस मंजरी पृ० १८८।

जनक की पुष्पवाटिका में राम को देख कर सीता की जो दशा हुई उसका वर्णन है। यहाँ राम सीता के रतिभाव के आलंबन हैं। हर्ष, जड़ता आदि संचारी, टकटकी लगना, देह की सुध-बुध न रहना और लज्जावश आँखे बन्द कर लेना अनुभाव हैं। 'दीन्हें पलक कपाट सयानी' में 'विहृत' हाव भी है।

साहित्यशास्त्र के अनुसार पहले स्त्री के अनुराग का वर्णन उचित माना गया है तत्पश्चात् पुरुष के अनुराग का—

पूर्वं रक्ताभवेन्नारी पुमान् पश्चात्तदिंगितैः (का० प्र० पृ० १२२–विश्वेश्वर)

इसके अनुसार अब राम की प्रतिक्रिया देखिए—

प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन खानी।
परम प्रेममय मृदु मसि कीन्हीं। चारु चित्त भीती लिख लीन्हीं।।

सीता की समाधि माता के भय से खुलती है—'भयउ बिलंबु मातु भय मानी'। राम के साथ सम्बन्ध होना उनके बस की बात नहीं—

धरि बड़ि धीर रामु उर आने। फिरी अपनपउ पितु बस जाने।।

फलस्वरूप घर की ओर तो चलीं पर

देखन मिस मृग विहग तरु फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि।।

यहाँ अवहित्था संचारी की कितनी मनोरम व्यंजना हुई है। 'फिरइ बहोरि बहोरि' रूप अनुभाव भी कितना रमणीय है।

इसी प्रकार व्रीड़ा संचारी की सुन्दर व्यंजना वन के मार्ग में वहाँ हुई है जहाँ ग्राम-वनिताएं राम को लक्ष्य कर जानकी जी से पूछती हैं कि करोड़ों कामदेवों को लज्जित करने वाले हे सुमुखि, ये तुम्हारे कौन हैं? पूरा चित्र इस प्रकार है—

कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे।।
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महुं मुसुकानी।।
तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुं सकोच सकुचति बर बरनी।।
सकुचि सप्रेम बाल मृग नयनी। बोली मधुर बचन पिक बयनी।।
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवरि मोरे।।
बहुरि बदनु विधु अंचल ढांकी। पियतन चितइ भौंह करि बांकी।।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निजपति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि।।

यहाँ 'तिनहिं विलोकि विलोकति धरनी' रूप चेष्टा से कुलबधू का कैसा मनोहर और

गरिमामय चित्र उरेहा गया है। साथ ही 'पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी' वाला अनुभाव-विधान मर्यादित शृङ्गार का बेजोड़ उदाहरण बन गया है। कवि प्रसाद भी लज्जा के अनुभाव विधान में अपना सानी नहीं रखते। लज्जा के उनके काव्यमय चित्र को देखिए—

'स्मिति बन जाती है तरल हंसी नैनों से भर कर बांकापन'

—(कामायनी)

'छूने में झिझक देखने में पलकें आंखों पर झुकती हैं।'

—(कामायनी)

विप्रलंभ

सीता के वियोग में 'हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी'। रूप विलाप में सीता का मर्यादित रूप में नखशिख वर्णन भी हो गया है और उनकी सर्वाधिक सुन्दरता की व्यंजना भी—

सुनु जानकी तोहि बिनु आजू।
हरषे सकल पाइ जनु राजू॥

राम के वियोग में सीता की दशा देखिए। चिन्ता की कैसी मार्मिक मुद्रा है—

देखि मनहि महुं कीन्ह प्रनामा। बैठेहि बीति जात निसि जामा॥
कृस तनु सीस जटा एक बेनी। जपति हृदय रघुपति गुन श्रेनी॥
निज पद नयन दिए मन राम चरन महुं लीन।
परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन॥

हनुमान जी से वे 'अनुज सहित सुख भवन खरारी' की कुशल पूछते हुए कहती हैं—

कोमल चित कृपालु रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥
सहज बानि सेवक सुखदायक। कबहुक सुरति करत रघुनायक॥
कबहुं नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदुगाता॥

इतना कहते-कहते उनका गला रुंध जाता है और आँखें भर आती हैं—

बचनु न आव नयन भरि बारी। अहहनाथ हौं निपट बिसारी॥

फिर हनुमान राम का संदेश सुनाते हैं जिनमें यह विश्वास दिलाया गया है कि राम का प्रेम सीता से कुछ कम नहीं है। सीता को राम के वियोग में तारे अंगारों से लगते हैं तो राम को भी सीता के वियोग में 'जे हित रहे करत तेहि पीरा' की अनुभूति हो रही है हनुमान धीरज बंधाते हैं—

कछुक दिवस जननी धरु धीरा । कपिन सहित अइहहिं रघुबीरा ।
निशिचर मारि तोहि लैजैहहिं.......

हनुमान द्वारा बिदा माँगने पर तो सीता दैन्य, विषाद, चिन्ता आदि से अभिभूत हो उठती हैं—

कहु कपि केहि विधि राखौं प्राना
तुम्हहू तात कहत अब जाना ।।
तोहि देखि सीतलि भइ छाती । पुनि मो कहुं सोइ दिन सो राती ।।

फिर हनुमान सीता के 'दैन्य' का चित्र राम के सामने यों रखते हैं—

नाथ जुगल लोचन भरि बारी । बचन कहे कछु जनककुमारी ।।
निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं कलप सम बीति ।
बेगि चलिय प्रभु आनिअ, भुजबल खल दल जीति ।।

की प्रार्थना करते हैं ।

राम की भी वही दशा होती है—

सुनि सीता दुख प्रभु सुख अपना । भरि आए जल राजिव नैना ।।

एक अन्य वियोग का चित्र देखिए । पिता की आज्ञा से राम चौदह वर्ष के लिए वन जाने को उद्यत हैं और सीता को घर पर रह कर सास ससुर की सेवा करने की सलाह दे रहे हैं । इस पर जानकी वियोगकातर हो जाती हैं ।[1] प्रवत्स्यत्पतिका का यह हृदयस्पर्शी उदाहरण है ।

वियोग वर्णन में कवियों ने जमीन आसमान के कुलावे भिड़ाये हैं, ऊहात्मक उक्तियों की समा बाँध दी है पर कहना न होगा कि गोस्वामी जी ऊहा अथवा दूर की उड़ान के

---

१. सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के । लोचन ललित भरे जल सिय के ।।
सीतल सिख दाहक भइ कैसें । चकइहि सरद चंद निसि जैसे ।।
उतरु न आव विकल बैदेही । तजन चहत सुचि स्वामि सनेही ।।
बरबस रोकि बिलोचन बारी । धरि धीरजु उर अवनि कुमारी ।।
लगि सासुपग कह कर जोरी । छमबि देबि बड़ि अविनय मोरी ।।
दीन्हि प्रानपति मोहि सिख सोई । जेहि विधि मोर परमहित होई ।।
मै पुनि समुझि दीखि मन माहीं । पिय वियोग सम दुखु जगनाहीं ।।
प्रान नाथ करुना यतन सुन्दर सुखद सुजान ।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान ।।

चक्कर में कम पड़े हैं। सीधे सादे ढंग से सच्ची अनुभूतियाँ ही व्यक्त कर दी गई हैं। वैसे अपवाद रूप में एकाध चमत्कारिक उक्ति भी खोजने पर मिल ही जायगी, यथा

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥

हास्यरस

हास्य, बीभत्स और अद्भुत रसों में केवल मात्र आलंबन का वर्णन करने से पूर्ण रसात्मकता आ जाती है। मानस में शिव[१] विवाह और नारद[२] मोह वाले प्रसंग में हास्य की सुन्दर अवतारणा हुई है। नारदमोह वाले हास को आचार्य शुक्ल ने शिष्ट-हास, बड़े लोगों का हास कहा है साथ ही उसे उद्देश्य गर्भ बताया है। अर्थात् वह हास मोह और अभिमान छुड़ाने वाला हास है, भड़ौआ ढंग का हलका और निरुद्देश्य हास नहीं।

संस्कृत साहित्य में भगवान् शंकर का और रूप, कृपण, पेटू ब्राह्मण आदि हास के सिद्ध आलंबन रहे हैं। गोस्वामी जी ने कवितावली में विन्ध्य के उदासीन साधुओं पर बड़ी चुभती फबती कसी है।[३]

---

१. नगर निकट बरात सुनि आई। पुर खरभर सोभा अधिकाई॥
करि बनाव सजि वाहन नाना। चले लेन सादर अगवाना॥
हिय हरषे सुर सेन निहारी। हरिहि देखि अति भए सुखारी॥
सिव समाज जब देखन लागे। बिडरि चले वाहन सब भागे॥
धरि धीरजु तहँ रहे सयाने। बालक सब लै जीव पराने॥
गए भवन पूछहिं पितु माता। कहहिं बचन भय कंपित गाता॥
कहिय काह कहि जाइ न बाता। जम कर धार किधौं बरिआता॥
बरु बौराह बसहँ असवारा। ब्याल कपाल बिभूषन छारा॥
छं-तन छार ब्याल कपाल भूषन नगन जटिल भयंकरा।
संग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि बिकट मुख रजनीचरा॥
जो जिअत रहिहि बरात देखत पुन्य बड़ तेहि कर सही॥
देखिहि सो उमा बिवाह घर घर बात असि लरिकन्ह कही॥

२. मुनि मन हरष रूप अति मोरे। मोहि तजि आनहिं बरहिं न भोरे।
मर्कट बदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही।
जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली।
पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं। देखि दसा परजन मुसुकाहीं॥

३. बिन्ध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महाबिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनिबृन्द सुखारे॥

करुण रस

करुण रस का पूर्ण परिपाक 'मानस' में मुख्य रूप से दो स्थलों पर हुआ है––(१) राम वन गमन प्रसंग में और (२) लक्ष्मण शक्ति में। कहा जा सकता है कि राम वन गमन वाला प्रसंग शोक का प्रसंग नहीं माना जा सकता, वह प्रिय का प्रवासजन्य दुख मात्र है। पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। अभिषेक के समय वनवास बड़े दुःख की बात है।[1]

(१) उदाहरण––

मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ। ताति बाउ तन लाग न काऊ॥
ते बन बसहिं विपति सब भांती। निदरे कोटि कुलिस सहि छाती॥
राम सुना दुख कानन काऊ। जीवन तरु जिमि जोगवइ राऊ॥
तै अब फिरत विपिन पद चारी। कंद मूल फल फूल अहारी॥

दशरथ की मृत्यु पर जो करुणा उमड़ी है वह कितनी सार्वभौम कितनी चराचर व्यापिनी है––

लागति अवध भयावनि भारी। मानहुं काल राति अंधियारी॥
घोर जंतु सम पुर नर नारी। डरपहिं एकहिं एक निहारी॥
घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुं जमदूता॥
बागन्ह विटप बेलि कुम्हलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं॥

ह्वैहैं सिला सब कंज मुखी परसे पद पंकज कंज तिहारे।
कीन्हीं कृपा रघुनायकजू करुना करिकै वन को पगुधारे॥

कवितावली : अयोध्याकांड

१. कैकय नंदिनि मंद मति कठिन कुटिलपन कीन्ह।
जेहि रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुख दीन्ह॥
अतः परिजनों और प्रजा का दुःख राम की दुःख-दशा समझकर भी था, केवल राम का अलग होना देखकर नहीं––
राम चलत अति भयऊ विषादू। सुनि न जाइ पुर आरत नादू॥
यह विषाद (जो शोक का संचारी है) और यह आर्तनाद शोक सूचक है। प्रिय के दुःख या पीड़ा पर जो दुःख हो वह शोक है, प्रिय के कुछ दिनों के लिए वियुक्त होने मात्र का जो दुःख हो वह विरह है। अतः राम के इस दुःखमय प्रवास पर जो दुख लोगों को हुआ, वह शोक और वियोग दोनों है––
"तुलसी राम वियोग सोक बस समुझत नहिं समुझाई'
––गोस्वामी तुलसीदास––तुलसी की भावुकता––आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

विधि कैकयी किराततिनि कीन्हीं। जेहि दव दुसह दसहु दिसि दीन्हीं॥
सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब व्याकुल भागी॥
करि विलाप सब रोवहिं रानी। महाविपति किमि जाइ बखानी॥
सुनि विलाप दुखहू दुख लागा। धीरज हू कर धीरज भागा॥

कवायद की पूरी पाबन्दी के साथ करुण रस का उदाहरण देखना हो तो सुमन्त के पश्चाताप वाला प्रकरण देखिये।[१] यहाँ राम आलंबन हैं। उन्हें घोर जंगल में छोड़कर खाली रथ लेकर अयोध्या लौटाना उद्दीपन है। मोह, विषाद, ग्लानि, निर्वेद, चिन्ता, जड़ता आदि संचारी हैं और अपने को बार-बार धिक्कारना, हाथ मीजना, सिर धुनना, नेत्रों का सजल हो जाना, आँखों से दिखाई न पड़ना, कानों से सुनाई न पड़ता, ओठों का सूख जाना, मुँह का विवर्ण हो जाना आदि अनुभाव हैं।

अब लक्ष्मण शक्ति वाला प्रसंग लीजिए। लक्ष्मण मूर्च्छित होकर रण भूमि में पड़े हैं। औषधि लेकर हनुमान अभी तक लौटे नहीं हैं—

अर्ध राति गइ कपि नहिं आयउ। राम उठाइ अनुज उर लायउ॥
सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥
ममहित लागि तजेउ पितु माता। सहेहु विपिन हिमआतप वाता॥
सो अनुराग कहां अब भाई। उठहुन सुनि मम बच विकलाई॥
जौं जनतेउं बन बंधु विछोहू। पिता बचन मनतेउं नहिं ओहू॥
सुत वित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिंबारा॥
अस विचारि जिय जागहु ताता। मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता॥
जथा पंख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करवर करहीना॥
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही। जौं जड़ दैव जिआवै मोही॥

---

१. गुह सारथिहि फिरेउ पहुंचाई। विरहु विषादु वरनि नहि जाई॥
चले अवध लेइ रथहिं निषादा। होहिं छनहिं छन मगन विषादा॥
सोच सुमंत्र विकल दुख दीना। धिग जीवन रघुबीर विहीना॥
रहिहि न अंतहुं अधम सरीरू। जसु न लहेउ बिछुरत रघुबीरू॥
भए अजंस अघ भाजन प्राना। कवन हेतु नहिं करत पयाना॥
अहह मंद मनु अवसर चूका। अजहुं न हृदय होत दुइ टूका॥
मीजि हाथ सिस धुनि पछिताई। मनहुं कृपन धन राशि गवांई॥
लोचन सजल डीठि भइ थोरी। सुन इन श्रवन विकल मति भोरी॥
सूखहिं अधर लागि मुंह लाटी। जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी॥
बिबरन भयउ न जाइ निहारी। मारेसि मनहुं पिता महतारी॥
—मानस पृ० ३१०-११।

रौद्र रस

युद्ध वीर और रौद्र रस में बहुत कुछ समानता होते हुए भी पर्याप्त पार्थक्य है। काव्यानुशासनकार के अनुसार युद्ध वीर में मोह रहित अध्यवसाय का प्राधान्य रहता है पर रौद्र में मोह और विस्मय की प्राधानता।[१]

उदाहरण—

अरुन नयन भृकुटी कुटिल चितवन नृपन सकोप।
मनहुं मत्तगज गन निरखि सिंह किसोरहिं चोप।।

जनक अनुचित बानीं पर लक्ष्मण की रोषमयी मुद्रा देखें—

भाषे लखन कुटिल भई भौहें। रदपुट फरकत नयन रिसौहें।।

यहाँ 'रिसौहें' में आपाततः 'स्वशब्दवाच्यत्व' दोष की प्रतीति होती है। पर आचार्यों ने इसका सम्यक् परिहार कर दिया है।[२]

(लक्ष्मण के लिए हिन्दी दशरूपक देखिए[३])

वीर रस[४]

चार प्रकार के वीर माने गए हैं—(१) दानवीर (२) धर्मवीर (३) युद्धवीर (४) दया

---

१. इह (युद्धवीरे) चापत् पंकनिमग्नतां स्वल्प संतोषं मिथ्याज्ञानं चापास्य यस्तत्व निश्चय रूपोऽसंमोहाध्यवसायः सः
एवं प्रधानतयोत्साहहेतुः। रौद्रे तु ममताप्राधान्यादशास्त्रि तानुचित युद्धाद्य भीति मोह विस्मय प्राधान्यमितिविवेकः।

—काव्या०

२. अनुभाव आदि द्वारा पूर्ण व्यंजना हो जाने पर विशेषण रूप में 'भाव' का नाम आ जाना दोष नहीं कहा जा सकता।

३. क्रोधो मत्सरवैरि वैकृतमयैः पोषोऽस्य रौद्रोऽनुजः
क्षोभः स्वाधर दंशकम्प भृकुटिः स्वेदास्य रागैर्युतः।
शस्त्रोल्लास विकत्थनांस धरणीघात प्रतिज्ञाग्रहै—
रत्रामर्षभदौ स्मृतिश्चपलता सूयौग्र्यवेगादयः।।
हिन्दी दशरूपक ४।७४—पृष्ठ २७६—चौ० विद्याभवन, बनारस।

४. वीरः प्रताप विनयाध्यवसाय सत्व मोहाविषादनय विस्मय विक्रमाद्यैः।
उत्साहभूः सच दयारणदानयोगात्रेधाकिलात्र मतिगर्वधृति प्रहर्षाः।।
हिन्दी दशरूपक पृ० २७३ चौखंभा विद्याभवन, बनारस।

वीर। इसका स्थायीभाव उत्साह है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मानस के प्रकृत नायक राम में चारों प्रकार की वीरता सन्निहित है।

दानवीर—

जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दिए दस माथ।
सो संपदा बिभीषनहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥

धर्मवीर—

रामचन्द्रजी कौशल्याजी से वन जाने की अनुमति लेने गए हैं, उसी समय का प्रसंग है—

(१) मातु वचनु सुनि अति अनुकूला। जनु सनेह सुर तरु के फूला॥
सुख मकरंद भरे श्रिय मूला। निरखि राम मनु भंवर न भूला॥
करम धुरीन धरम गति जानी। कहेउ मातु सन अति मृदुबानी॥
पिता दीन्ह मोहिं कानन राजू। जहं सब भांति मोर बड़ काजू॥
आयसु देहि मुदित मन माता। जेहिं मुदमंगल कानन जाता॥
जनि सनेह बस डरपसि भोरें। आनंदु अंबु अनुग्रह तोरे॥
बरस चारि दस बिपिन बसि करि पितु वचन प्रमान।
आइ पाय पुनि देखिहऊं मनु जनि करसि मलान॥

(२) मंत्रिहि राम उठाइ प्रबोधा। तात धरम मगु तुम सब सोधा॥
सिवि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥
रंतिदेव बलिभूप सुजाना। धरमु धरेउ सहि संकट नाना॥
धरम न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥
मैं सोइ धरम सुलभ करि पावा। तजें तिहूं पुर अपजस छावा॥

युद्धवीर—

हम छत्री मृगयावन करहीं। द्रुम से खलगमृग खोजत फिरहिं॥
रिपु बलवन्त देखि नहिं डरहीं। एक बार कालहुं सन लरहीं॥
जद्यपि मनुज दनुज कुल घालक। मुनि पालक खल सालक बालक॥
जौं न होइ बल घर फिरि जाहू। समर विमुख मैं हतउं न काहू॥
रन चढ़ि करिअ कपट चतुराई। रिपु पर कृपा परम कदराई॥

अथवा लक्ष्मण की निम्नीय दर्पोक्ति—

सुनहु भानु कुल पंकज भानू। कहउं सुभाउ न कछु अभिमानू॥
जौं तुम्हारि अनुशासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥

काचेघट जिमि डारौं फोरी। सकउं मेरु मूलक इव फ्रोरी।।
तब प्रताप महिमा भगवाना। को वापुरो पिनाक पुराना।।

अथवा जाम्बवन्त के उद्बोधन पर हनुमान का पर्वताकार रूप धारण करना—

राम काज लगि तव अवतारा। सुनतहिं भयउ पर्वताकारा।
कनक बरन तन तेज विराजा। मानहुं अपर गिरिन्ह कर राजा।।
सिंह नाद करि बारहिं बारा। लीलहिं नाघउं जलनिधि खारा।।
सहित सहाय रावनहिं मारी। आनउं इहां त्रिकूट उपारी।

आचार्यों ने युद्धवीर का आलंबन विजेतव्य वा प्रतिपक्षी को माना है पर कहीं कहीं इस मान्यता से समस्या जटिल हो जाती है। यदि विजेतव्य वा प्रतिपक्षी जड़ हुआ तो वह ललकार तो सकता नहीं। फिर आश्रय में उत्साह कैसे जाग्रत हो सकता है? ऐसी स्थिति में मानना पड़ेगा कि उत्साह[१] का आलंबन कोई विकट या दुष्कर कर्म ही होता है। एक बात और। पसीना आना, मुंह का लाल हो जाना, नेत्रों का रक्त वर्ण होना आदि रौद्र रस के अनुभाव युद्धवीर में न आने चाहिए।[२]

दयावीर—

आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रन तारति भंजन पन मोरा।।
तुरत विभीषन पाछे मेला। सनमुखराम सहेउ सोइ सेला।।

जगन्नाथ पंडितराज के अनुसार वीररस के चार ही नहीं अपितु अनेक भेद हो सकते हैं। उन्होंने पांडित्यवीर, सत्यवीर, क्षमावीर आदि के उदाहरण भी अपने 'रस गंगाधर' में दिए हैं।

भयानक रस[३]—

देखत भृगुपति वेषुकराला। उठे सकल भय विकल भुआला।
पितु समेत कहि कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा।।
जेहि सुभाव चितवहिं हितु जानी। सो जानइ जनु आइ खुटानी।।

अथवा

---

१. देखिए गोस्वामी तुलसीदास—पृ० ११३—आ० रामचन्द्र शुक्ल।
२. प्रस्वेद रक्त बदन नयनादि क्रोधानुभाव रहितो युद्धवीरोऽन्यथा रौद्रः।
—हिन्दी दशरूपक।
३. भयानक रस का स्थायी भाव भय है। इसका वर्ण कृष्ण एवं इसके देवता काल हैं। भयोत्पादक वस्तुएं आलंबन तथा उनकी विकरालता और चेष्टायें उद्दीपन हैं।

निसिचर निकर देखि भट भारी । जहं तहं चले न सकहिं पुकारी ।।
एक एक सन मरम न कहहीं । समुझि तासु बध चुप करि रहहीं ।।
भयउ कोलाहल नगर मझारी । आवा कपि लंका जेहि जारी ।।
अब धौं कहा करिहि करतारा । अति सभीत सब करहिं बिचारा ।।
बिनु पूछे मग देहिं दिखाई । जेहि विलोकि सोइ जाइ सुखाई ।।

वीभत्स रस[1]—

मज्जहिं भूत पिशाच वेताला । प्रमथ महा झोटिंग कराला ।।
काक कंक लै भुआ उड़ाहीं । एकते छीनि एक लै खाहीं ।।
एक कहहिं ऐसिउ सौंघाई । सठहु तुम्हार दरिद्र न जाई ।।
कहंरत भट घायल तट गिरे । जहं तहं मनहुं अर्धजल परे ।।
खैंचहिं गीध आंत तट भए । जनु बंसी खेलत चित दए ।।
बहु भट बहहिं चढ़े खग जाहीं । जनु नावरि खेलहिं सरि माहीं ।।
जोगिनि भरि भरि खप्पर संचहि । भूत पिसाच बधू नभ नंचहिं ।।
भट कपाल करताल बजावहिं । चामुंडा नाना विधि गावहिं ।।
जंबुक निकर कटक्कट कट्टहिं । खाहिं हुआहिं अघाहिं डपट्टहिं ।।
कोटिन रुंडमुंड बिनु डोल्लहिं । सीस परे महि जय जय बोलहिं ।।

एक शंका—यहाँ एक शंका उपस्थित होती है। वह यह कि 'हास' और जुगुप्सा का आश्रय कौन होता है। जैसे रति, क्रोध, उत्साह, भय आदि स्थायी भावों में आलंबन और आश्रय दोनों की प्रतीति होती है वैसे ही हास और जुगुप्सा में नहीं होती। इनमें केवल

अनुभाव—इधर उधर देखना, कांपना, रोयें खड़े हो जाना, पसीना छूटना, प्रलय, विवर्णता गद्गद् भाषण।

संचारी—जुगुप्सा, आवेग, संमोह, त्रास, ग्लानि, दैन्य, शंक, अपस्मार, संभ्रम, मरण आदि।

यहां पहले उदाहरण से परशुराम जी आलंबन, उनका करालवेश उद्दीपन, राजाओं का पिता समेत अपने अपने नाम बताकर दंड प्रणाम करना आदि अनुभाव एवं आवेग, त्रास, शंका दैन्य आदि संचारी हैं।

१. स्थायी भाव जुगुप्सा, वर्ण नील, देवता महाकाल हैं। इसका आलंबन घिनौनी वस्तु है, यथा दुर्गन्धित मांस, रक्त, चर्वी आदि इनमें कीड़े पड़ना, इनका सड़ना आदि उद्दीपन विभाव हैं।

अनुभाव—थूकना, मुंह फेर लेना, आंखें बन्द कर लेना आदि।

संचारी—मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि, मरण आदि।

क्योंकि श्रोता को तो अलौकिक रस की चर्वणा होती है। वह लौकिक हास और जुगुप्सा का आश्रय भला कैसे हो सकता है। इस पर पंडितराज का मत है कि किसी प्रेक्षक का आक्षेप कर लेना चाहिए अथवा श्रोता ही आश्रय हो सकता है। जैसे अपनी स्त्री के सम्बन्ध में लिखी हुई कविता को सुनकर श्रोता रसानुभव करता है और लौकिक भाव का आश्रय भी बना आलंबन ही का वर्णन होता है, आश्रय का नहीं। ऐसी स्थिति में इनके आश्रय के सम्बन्ध में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। यदि पथ सुनने वाले को ही आश्रय मानेंगे तो भी ठीक नहीं रहता है वैसे ही यहाँ भी श्रोता रसगत आश्रय की भूमिका निभा सकता है।[1]

[2]**अद्‌भुत रस—**

इहां उहां दुइबालक देखा। मति भ्रम मोर कि आन विसेषा॥
देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हंसि दीन्ह मधुर मुसुकानी॥
दो० देखरावा मातहिं निज अद्‌भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥
अगनित रवि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन॥
काल कर्म गुन ज्ञान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काउ॥
देखी माया सब विधि गाढ़ी। अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी॥
देखी जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छौरइ ताहीं॥
तन पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूंद चरननि सिरुनावा॥
विसमयवन्त देखि महतारी। भए बहुरि सिसु रूप खरारी॥

यहाँ भगवान् का एक ही समय में दो स्थानों पर विराजना एवं मुख आलंबन है। मुख के भीतर अनन्त कोटि ब्रह्मांडों की स्थिति आदि उद्दीपन, शरीर का पुलकित होना, अवाक् रह जाना, नेत्र बंद कर लेना आदि अनुभाव एवं त्रास, संभ्रम, आवेग आदि संचारी हैं।

शान्त रस—इसका स्थायी भाव निर्वेद वा शम है। इसके आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति होते हैं। श्रीनारायण देवता हैं, कुन्देन्दु वर्ण है एवं जगत् की अनित्यता का ज्ञान आलंबन है और उद्दीपन है ऋषियों के आश्रम, तीर्थ स्थान, सत्संग आदि।

---

१. देखिए हिन्दी रस गंगाधर—पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी।

२. इसका स्थायी भाव विस्मय, देवता गन्धर्व और रंग पीला माना गया है। आलंबन अलौकिक वस्तु एवं ऐसे आलंबन का गुण कथन उद्दीपन है।
अनुभाव—स्तंभ, स्वेद, रोमांट, गद्‌गद् स्वर, संभ्रम, आंखें फाड़ फाड़ कर देखना, साधुवाद देना। वाह वाह करना। आंखों में आंसू आना आदि।
संचारी—हर्ष, आवेग, धृति, वितर्क, संभ्रम।

संचारी—निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति ।

अनुभाव—रोमाचं, संसार भीरुता, अध्यात्म-चिंतन प्रभृति ।

उदाहरण—

रजत सीप महुं मास जिमि जथा भानुकर वारि।
जदपि मृषा तिहुं काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि।।

× × ×

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा।।
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा।।

× × ×

तब दस कंठ बिबिध विधि समुझाई सब नारि।
नस्वर रूप जगत सब देखहु हृदय विचारि।।

भाव-व्यंजना

इस शीर्षक के भीतर देवविषयक रीति, पुत्र विषयक रति, रसवद्लंकार, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावशबलता, संचारी आदि पर सोदाहरण विचार होगा ।

देवविषयक रति (भक्ति रस)

जैसाकि ऊपर निवेदन किया जा चुका है, हम भक्ति को एक स्वतंत्र रस मानते हैं। संस्कृत के कई प्राचीन आचार्यों ने-उज्ज्वल नील मणिकार रूपगोस्वामी, भक्ति रसायनकार मधुसूदन सरस्वती प्रभृति ने स्वतंत्र रस के रूप में इसका निरूपण भी किया है पर 'रस गंगाधर कार जगन्नाथ पंडितराज की व्यवस्था के आगे परवर्ती सभी आचार्य नतमस्तक हुए से जान पड़ते हैं। पंडितराज का कहना है कि जहाँ तक भरतमुनि के वचन का पालन हो सके, उच्छृंखलता करना अनुचिन है ।[1]

अर्वाचीन आचार्यो में स्व० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', गोलोकवासी सेठ कन्हैयालाल पोद्दार और आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने यद्यपि भक्ति के स्वतंत्र होने के पक्ष में अनेक युक्तियां दी हैं किन्तु अपने रस निरूपण वाले स्वतंत्र ग्रन्थों—क्रमशः 'रस-कलश, रसमंजरी और वाङ्मय विमर्श में वे भी नव रस ही स्वीकार हैं और भक्ति को भावमात्र मानते हैं। अतः हम भी पंडितराज की व्यवस्था को शिरसा अंगीकार करते हुए उपर्युक्त आचार्यों का पदानुसरण करते हैं—

---

१. भरतादि मुनि वचनानामेवात्र रस भावादि व्यजस्था स्थापत्वेन स्वातंत्र्योयोगात्..... रसानां नवत्व गणनाच्च मुनि वचन नियंत्रिता भज्येत। (भारतीय काव्य शास्त्र की परंपरा के पृ० ४६२ से।

अति अपार जे सरित वर जौं नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं।।

वैसे यदि भक्ति को रस मानें तो इसके चारों अवयव इस प्रकार होंगे–भगावन् के प्रति प्रेम स्थायी भाव, भगवान् और उनके कथा का श्रवण विभाव, रोमांच, अश्रुपात आदि अनुभाव और हर्षादि संचारी भाव।[१]

गोस्वामी जी इसके प्रकट होने की प्रक्रिया बतलाते हैं

पेम अमिय मंदरु विरहु भरतु पयोधि गंभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिन्धु रघुबीर।।

अन्य नव रस लौकिक हैं और उनके प्रवर्तक भरतमुनि हैं पर राम प्रेम रस[२] अलौकिक है और उसके प्रवर्तक भरत[३] जी हैं। इस भक्ति रस का व्यतिरेक गोस्वामी जी ने भलीभांति सिद्ध कर दिया है।[४] भक्ति रस का जैसा परिपाक रामचरित मानस में हुआ है वैसा हिन्दी के किसी दूसरे ग्रन्थ में नहीं। राम जैसा आलंबन, भरत जैसा आश्रय और तुलसी जैसा कवि जब एकत्र हों तभी इस लोकोत्तर रस का उद्रेक संभव है। भरत राम प्रेम के अवतार कहे गए हैं—

'राम प्रेम मूरति तनु आही'

राम के प्रति उनका निस्स्वार्थ प्रेम था। वे साफ कहते हैं—

अर्थ न धर्म न काम रति मति न चहौं निर्वान।
जनम जनम रति राम पद यह वरदान न आन।।

उनका प्रेम मेघ के प्रति चातक जैसा आदर्श प्रेम था जिसमें लौकिक वासना का लेश नहीं था—

जलद जनम भरि सुरत विसारइ।
जांचत जल पवि पाहन डारइ।।

---

१. पुलक गात हियं सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू।
२. 'राम प्रेम रस' कहि न परत सो
३. राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेस।
४. मुनि गन गुर धुर धीर जनक से। ग्यान अनल मन कसे कनक से।।
जे विरंचि निरलेप उपाए। पदुम पत्र जिमि जग जल जाए।।
तेउ बिलोकि रघुवर भरत प्रीति अनूप अपार।
भए मगन तन मन वचन सहित विराग विचार।
जहां जनक गुर गति मति भोरी। प्राकृत प्रीति कहत बड़ी खोरी।।

गोस्वामी जी का तो दावा है कि भरत के चरित्र का नियमित रूप से श्रद्धापूर्वक श्रवण मनन करने से अवश्य ही सीता-राम के चरणों में प्रीति और भव रस से विरति हो जाती है।[१]

चातक रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भांति बड़ाई।
कनकउ बान चढ़ै पुनि दाहे। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहे।।

यहाँ भरत के साधु चरित्र का सिंहावलोकन कर लेना अपेक्षित है। हम राम के प्रति भरत के प्रेम का प्रथम दर्शन जनकपुर से निमंत्रण पत्र आने पर करते हैं। भरत शत्रुघ्न खेल रहे थे वहीं उनको पता चलता है कि विश्वामित्र के साथ गए हुए राम लक्ष्मण के बारे में कोई खबर आई है! वे आकर पिता से बड़े संकोच के साथ पूछते हैं कि कहाँ से पत्र आया है। मेरे प्राणप्रिय दोनों बंधु सकुशल तो हैं और वे सम्प्रति हैं कहाँ? पत्र को पिता द्वारा बाँच कर सुनाए जाने पर वे पुलकित हो जाते हैं स्नेह से फूले नहीं समाते। भरत का राम के प्रति यह पवित्र प्रेम देख कर सभा विशेष सुखी होती है।[२] फिर अपने अभिषेक का समाचार पाकर राम को जो सात्विक पश्चात्ताप होता है उसमें हमें भरत का अनुस्मरण मिलता है। भरत की याद उन्हें वार २ आती है और उन्हें जो शुभ शकुन होते हैं उसका अर्थ वे यही लगाते हैं कि भरत से भेंट होगी।[३] इस प्रकार हम दोनों भाइयों में युगपत् प्रीति पाते हैं। कैकयी के द्वारा वरदान मांगे जाने पर दशरथ जी भी कहते हैं—'लोभन रामहिं राजकर बहुत भरत पर प्रीति'

अयोध्या में जबसे अनर्थों का सूत्रपात होता है तभी से भरत जी को दुःस्वप्न दिखाई पड़ने लगते हैं। वे अपने कुल के अज्ञात अनिष्ट भय से कांप उठते हैं। दशरथ की मृत्यु के अनन्तर गुरु द्वारा बुलाए जाने पर वे अयोध्या आते हैं और कैकयी के मुख से पिता की मृत्यु का संवाद सुनकर व्याकुल हो जमीन पर गिर पड़ते हैं—

'परेउ भूमितल व्याकुल भारी'

---

१. भरत चरित करिनेम तुलसी जे सादर सुनहिं।
सीयराम पद पेमु अवसि होइ भवरस विरति।।

२. सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता। अधिक सनेहु समात न गाता।
प्रीति पुनीत भरत कै देखी। सकल सभा सुख लहेउ विसेखी।।

३. राम सीय तन सगुन जनाए। कर कहिं मंगल अंग सुहाये।।
पुलकि सप्रेम परसपर कहहीं। भरत आगमनु सूचक अहहीं।।
भए बहुत दिन अति अवसेरी। सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी।।
भरत सरिस प्रिय को जग माहीं। इहइ सगुन फल दूसर नाहीं।
रामहि बंधु सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भांती।।

इतने में राम वन गमन का वज्र कठोर संवाद मिलता है जिसे सुनकर उन्हें पिता का मरण भूल जाता है और राम विवासन में वे अपने को निमित्त समझ कर स्तम्भित रह जाते हैं। फिर कैकयी के प्रति जिन कटूक्तियों का प्रयोग वे करते हैं उनसे उनके हृदय की व्यथा और क्षोभ व्यंजित होता है। कौशल्या के समक्ष जो शपथ खाकर उन्होंने अपनी सफाई दी है उससे उनकी पवित्रता सूचित होती है। वसिष्ठ के राज्य का दायित्व संभालने के आग्रह के उत्तर में एवं केवट, भरद्वाज और चित्रकूट सभा के सामने अपना हृदय खोल कर वे जो कुछ निवेदन करते हैं उससे उनकी सहज साधुता सिद्ध होती है।

भरत की भक्ति लौकिक कर्तव्यों से विमुख करने वाली भक्ति नहीं है।[१] वरन् राम भक्ति रसायन से लोक धर्म को पुष्ट करने वाली है।[२] भरत के इस लोकोत्तर चरित्र को, उनके लोक पावनशील स्वभाव को गोस्वामी जी ने सूत्र रूप में कितने मार्मिक ढंग से कह दिया है—

सुनि भूपाल भरत व्यवहारू। सोन सुगन्ध सुधा ससि सारू॥

भरत चरित के सन्दर्भ में गोस्वामी जी ने स्नेह और विरह के जिन गूढ़ और गंभीर भावों की व्यंजना की है, अन्य कवियों की पहुँच वहाँ तक नहीं हो सकती। प्रिय के सम्बन्ध से कितनी ही वस्तुएँ प्रिय लगने लगती हैं। भरत राम को मनाने जा रहे हैं। रास्ते में राम जहाँ जहाँ ठहरे थे, उन स्थानों को देख कर उनमें सात्विक भावों का उदय होता है—

राम घाट कर कीन्ह प्रनामू। भा मनु मगनु मिले जनु रामू॥
रामबास थल विटप विलोके। उर अनुराग रहत नहिं रोके॥

वे निषाद से कहते हैं कि मुझे वह स्थान दिखाओ जहाँ सीता राम लक्ष्मण रात में सोए थे। जिस स्थान को देखकर मैं अपने नेत्रों और मन के संताप को कुछ शान्त कर सकूँ। यह कहते कहते उनकी आँखें भर आती हैं—

पूंछत सखहिं सौ ठाउं देखाऊ। नेकु नयन मन नयन जुड़ाऊ॥
जहं सिय राम लखन सिय सोए। कहत भरे जल लोचन कोए॥

इस पर निषाद सविषाद उस शिंशिपा वृक्ष के नीचे उन्हें ले जाता है जहाँ रामने

---

१. सोचिय गृही जो मोहबस करइ कर्म पथ त्याग।

२. भरत जाइ घर कीन्ह बिचारू। नगरू वाजि गज भवन भंडारू॥
संपति सब रघुपति कै आही। जौं बिनु जतन चलौं तजि ताही॥
तौ परिनाम न मोरि भलाई। पाप सिरोमनि साइँ दोहाई॥
पितु आयसु सब धरम क टीका

विश्राम किया था। भरत बड़े प्रेम और श्रद्धा से उस स्थल को प्रणाम करते हैं और राम जिस कुश की साथरी पर सोए थे उसकी प्रदक्षिणा करके प्रणाम करते हैं। जहाँ जहाँ राम के चरणों के निशान पड़े हैं, वहाँ-वहाँ की धूल उठाकर आँखों में आँजते हैं। सीताजी के आभूषणों के दो चार दाने जो टूट कर बिखर गए थे उनको माथे लगाते हैं। सीता की सुधि आते ही उनकी आँखें डबडबा आती हैं, हृदय में ग्लानि होती है। इसी प्रकार मार्ग में जहाँ कहीं भगवान् के चरण चिन्ह दिखाई पड़ते हैं वे हर्षपुलकित हो वहाँ की धूलि सिर, हृदय और नेत्रों में लगाते हैं और रामचन्द्र जी से मिलने जैसा ही सुख पाते हैं।

हरषहिं निरखि राम पद अंका । मानहुं पारस पायउ रंका ॥
रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं । रघुवर मिलन सरिस सुख पावहिं ॥

मार्ग में मिलने वाले जो लोग राम के सकुशल होने का समाचार सुनाते हैं वे लोग भरत को राम लक्ष्मण से ही प्रिय लगते हैं––

जे जन कहहिं कुसल हम देखे । ते प्रिय राम लखन सम लेखे ॥

राम कह कर वे उसांस लेते हैं तो लगता है कि चारों ओर प्रेम उमंगित हो रहा है।

यमुना के जल को देखकर भरत जी को राम का स्मरण हो जाता है और सात्विक अश्रु आँखों में आ जाते हैं––

निरखि नीरू लोचन जल छाए

स्मृति संचारी की व्यंजना कितनी मार्मिक हुई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भरत की देव विषयक रति विभावानुभाव संचारी भाव से परिपुष्ट है।

अचार्यों के अनुसार इसके अवयव इस प्रकार हैं––

स्थायी भाव––देव विषयक रति।

आलंबन––भगवान राम कृष्णादि।

उद्दीपन––भगवान् के गुणानुवाद का श्रवण।

अनुभाव––अश्रु रोमांचादि।

संचारी––हर्ष, सुख, आवेग, चपलता, उन्माद, चिन्ता, दैन्य, धृति, स्मृति, मति आदि।

इस प्रकार मानस में यहाँ से वहाँ तक भक्ति रस ओत-प्रोत है। 'मानस' वस्तुतः 'राम सुप्रेम पियूष हृद' है। 'राम भक्ति सुर सरिता' की मीनता प्राप्त करना ही कवि को इष्ट है। यह कवि की प्रौढ़ि नहीं है वरन् मन की प्रीति-प्रतीति और रुचि है।[1]

---

१. **प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की।**
कहौं प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥

श्री मधुसूदन स्वामी के अनुसार भगवद् गुण श्रवणादि से द्रवीभूत हुए चित की सर्वेश्वर भगवान् के विषय में धारावाहिकता को प्राप्त हुई वृत्ति ही भक्ति कही जाती है।[1]

इस प्रकार चित्त द्रुति, वृत्ति का धारावाहिक होना और सवश विषयता इन तीन अवयवों से भक्ति पूर्ण होती है और उसकी व्याप्ति इतनी बड़ी है कि रावणादि की समाई भी उसमें हो जाती है।[2]

चित्त द्रुति विषयाकारता में भी होती है और भगवदाकारता में भी पर जैसे लाह आग की आँच में बिलकुल पिघल जाती है और उसमें हिंगुल रसिंग (का) आदि जैसा रंग मिलाया जाय वह लकड़ी आदि में लगा देने या चूड़ी आदि आभूषण बनाने पर ठोस हो जाने पर भी वैसा ही रहता है निकलता नहीं। वैसे ही पूर्ण रूप से द्रवित हुए चित्त में जो भगवत्स्वरूप वस्तु प्रविष्ट होती है वह फिर द्रवीभाव न रहने पर भी वैसी ही रहती है दूसरे विषयों के ग्रहण करने पर भी वह नहीं निकलती। इसीलिए उसे वासना[3] कहते हैं। दूसरी और जैसे घाम से लाख थोड़ी ही पिघलती है वैसे ही सामान्यतः ढीली लाह की तरह ऐसे मन में कोई वस्तु वासना रूप से नहीं प्रवेश करती बल्कि वासनाभास होता है। शैथिल्यावास्था में प्रविष्ट हुआ कठिन होने तक नहीं रहता, यदि रहा भी तो दूसरे विषयों को ग्रहण करते समय चित उसे छोड़ देता है। जिसके एक बार द्रवित हुए चित में भगवदाकारता का प्रवेश हो गया वह सदा उसी की प्रतीति होने से कृतकृत्य हो जाता है।

पुत्र विषयक रति

साहित्य दर्पणकार ने वात्सल्य को एक स्वतन्त्र रस माना है। उनके अनुसार इस रस के **आलंबन** पुत्रादि, उद्दीपन उनकी चेष्टायें यथा विधाशौर्यादि, **अनुभाव** आलिगन, अंगस्पर्श, सिर चुमना, (प्रेम से) देखना, पुलकित होना, आनन्दाश्रु **संचारी** अनिष्ट शंका, हर्ष, गर्व आदि और **स्थायीभाव** वात्सल्य है। इसका वर्ण पद्मगर्भ है एवं देवता हैं गौरी आदि षौडश मातृत्का। मानस से कुछ उदाहरण लीजिए।

महाराज दशरथ भोजन करते समय बालक राम को बुला रहे हैं पर बालकों का समाज छोड़कर वे आते नहीं। जब कौशल्या बुलाने जाती हैं तब आप ठुमुक-ठुमुक भाग जाते

---

१. द्रुतस्य भगवद्धर्मा धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥–प्रथम उल्लास, श्लोक ३
—भगवद्भक्ति रसायन—मोती लाल बनारसी दास, नैपाली खपरा, वाराणसी।

२. वैर भाव मोहि सुमिरत निसिचर।

३. चित्तद्रुतौ भवति वासना, शिथिलो भावे तु वासनाभास इत्यत्र
विनिगमकमाह—द्रवतायामिति।–भक्ति रसायन प्रथम उल्लास, पृ० ३८-३९।

हैं। कौशल्या किसी प्रकार पकड़ कर लाती है तो धूल से नहाए हुए से शिशु राम को राजा हंसकर गोद में बैठा लेते हैं।[१]

यहाँ राम आलंबन से, उनका ठुमुक-ठुमुक कर भागना आदि चेष्टायें उद्दीपन हैं। 'धूसरधूरि भरे' पुत्र को गोद में बैठाना अनुभाव एव हर्ष (निहाल होना) संचारी है।

वात्सल्य का दूसरा चित्र देखिए।

जनकपुर से दूत राम जानकी-विवाह का निमंत्रण पत्र लेकर आए हैं। दशरथ जी को इतनी उत्सुकता है कि अपनी मर्यादा का ध्यान छोड़कर स्वयं उठकर पत्रिका लेते हैं। पत्रिका को पढ़ते ही सात्विक रोमांच होता है, हृदय भर आता है एवं आंखें सजल हो जाती हैं। सारी सभा पत्र की बातें जानने को उत्सुक हैं और चाहती है कि महाराज जोर से पढ़कर सुनायें पर महाराज को तो समाधि-सी लग जाती है। हृदय में राम लक्ष्मण का ध्यान कर रहे हैं और हाथ में चिट्ठी लिए हुए हैं। स्मृति संचारी का उद्रेक हुआ और जड़वत् हो गए।

करि प्रनाम तिन पाती दीन्हीं। मुदित महीप आप उठि लीन्हीं॥
बारि बिलोचन बांचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती॥
राम लखन उर कर बर चीठी। रहि गए कहत न खाटी मीठी॥

फिर किसी प्रकार धीरज धर कर पत्रिका सुना पाते हैं। अब दूतों को निकर बुलाकर बालकों का हालचाल पूछते हैं। प्रेमी को प्रिय के विषय में अनिष्ट की आशंकाएँ व्यग्र किए रहती हैं। वे दूतों से पूछते हैं।

भैया कहहु कुसल दोउ बारे। तुम नीकें निज नयन निहारे॥
स्यामल गौर धरे धनु भाथा। बय किसोर कौसिक मुनि साथा॥
पहिचानहु तुम्ह कहहु सुभाऊ। प्रेमबिबस पुनि पुनि कह राऊ॥
जा दिन ते पुनि गए लवाई। तब ते आजु सांच सुधि पाई॥
कहहु बिदेह कवन बिधि जाने। सुनि प्रिय बचन दूत मुसुकाने॥

बैर को अंधा और प्रेम को नासमझ कहा गया है—

'बैर अंध प्रेमहिं न प्रबोधू'

माता पिता की दृष्टि में पुत्र सदैव ही सुकुमार और बच्चा बना रहता है—'अधिक

---

१. भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा॥
कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुक ठुमुक प्रभु चलहिं पराई॥
धूसर धूरि भरे तनु आए। भूपति बिहंसि गोद बैठाए॥

प्रीति मन भा सन्देहा'। अत्यधिक प्रीति में हृदय का शंकालु होना परम स्वाभाविक है। जनकपुर से विवाह कर के लौटने पर राम को देख कर माताएँ कहती हैं—

देखि स्याम मृदु मंजुल गाता। कहहिं सप्रेम बचन सब माता॥
मारग जात भयावनि भारी। केहि विधि तात ताड़का मारी॥

इसी प्रकार लंका विजय करके लौटने पर राम लक्ष्मण को देखकर कौशल्या कहती हैं—

कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहिं। चितवति कृपा सिन्धु रनधीरहिं॥
हृदय विचारति बारहिं बारा। कवन भांति लंकापति मारा॥
अति सुकुमार जुगल मोरे बारे। निसिचर सुभट महाबल भारे॥

वात्सल्य के दो और मार्मिक चित्र प्रस्तुत करके इस प्रकरण को समाप्त करूँगा।

भरत जी ननिहाल से लौटने पर, कैकयी से अनर्थकारी संवाद सुनकर भग्न हृदय कौशल्या के यहाँ पहुँचते हैं। कौशल्या भरत को देख कर उनसे मिलने के लिए सातुर दौड़ पड़ती हैं। पर बीच में ही गिरकर मूर्च्छित हो जाती है। पुनः सचेत होने पर वे भरत को गोद में बैठा लेती हैं। उन्हें लगता है जैसे राम ही वन से लौट कर आए हों—

सरल सुभाय मायं हियं लाए। अतिहित मनहुं राम फिरि आए
भेटेउ बहुरि लखन लघु भाई। सोकु सनेहु न हृदय समाई

—०— —०— —०—

अस कहि मातु भरतु हियं लाए। थन पय स्रवहिं नयन जल छाए

वात्सल्य के भीतर 'थन पय सवहिं' वाले अनुभाव तक परंपरा की लीक पीटने वाले कविन्दों का ध्यान नहीं जा सकता। दूसरा चित्र है राम की भ्रातृवत्सलता का। जंगल से लौटने पर वे स्वयं तीनों भाइओं का स्नान करा रहे हैं और भरत की जटा अपने हाथ से खोल रहे हैं—

पुनि करुना निधि भरतु हंकारे। निजकर राम जटा निरु आरे॥
अन्हवाए प्रभु तीनिउ भाई। भगतबछल कृपालु रघुराई॥

यह तो आपने गृहस्थों की वत्सलता के चित्र देखे। अब एक चित्र भरद्वाज जैसे ब्रह्मवादी वीतराग महात्मा का देखिए। भरत से वे कैसे मिलते हैं—

धाइ उठाइ लाइ उर लीन्हें।
दीन्हि असीस कृतारथ कीन्हें॥

संचारी भाव[१]

भरत मुनि के अनुसार संचारी है वह है जो रस के सम्बन्ध में अन्य वस्तुओं की ओर संचरण करे।[२]

रत्यादि स्थायी भावों में हर्षादि संचारी भाव वेसे ही आविर्भूत और तिरोभूत होते हैं जैसे समुद्र में लहरें उठती और लीन हो जाती हैं।[३] ये रस के सहकारी कारण कहे गए हैं।

इनकी अनुभूति विभावानुभाव से तो होती ही है, कभी कभी एक संचारी ही दूसरे संचारी का व्यंजक हो जाता है। यथा गर्व आदि में अमर्ष और अमर्ष आदि में गर्व एक दूसरे का अंग बन जाता है।[४]

ये संचारी रत्यादि स्थायी भावी को अपनी 'प्रगटत दुरत' क्रिया द्वारा रस रूप में परिणत करते हैं।[५]

स्थायी भाव तो मनुष्य के अन्तःकरण में वासना रूप से स्थित रहते हैं पर संचारियों का उदय कुछ क्षणों के लिए होता है। यही कारण है कि किसी के यह कहने पर कि अमुक म्लान है, हम पूछ बैठते हैं कि क्यों पर यह कहे जाने पर कि राम उत्साह शक्ति से युक्त हैं,

---

१. व्यभी इत्युप सर्गों द्वौ विशेषाभिमुखत्वयौः।
विशेषेणाभि मुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति॥ रसार्णव सुधाकर द्वि० विलास
भाव व्यंजना के प्रकरण में ही पृष्ठ ५१ के बाद संचारी भावों भाव शबलतादि पर विचार करके तब रसवद् अलंकार और तुलसी की अन्तर्दृष्टि पर विचार करना उचित था पर भूल से व्यतिक्रम हो गया।

२. विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। नाट्यशास्त्र ७:२७।

३. वागंग सत्व युक्ता ये ज्ञेयास्ते व्यभिचारिणः।
संचारयन्ति भावस्य गतिं संचारिणोऽपिते॥
उन्मज्जन्तो निमज्वन्तः स्थायिन्यम्बुनिधार्वव।
ऊर्मिवद्वर्द्धयन्त्येनं यान्ति तद्रूपतां चते॥ हिन्दी साहित्य दर्पण पृ० २०४। विशेषादाभि मुख्येन चरन्त व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्ना; कल्लोला इव वारिधो॥
हिन्दी दशरूपक च० प्र० ७। डा० भोलाशंकर व्यास।

४. देखिए हिन्दी रस गंगाधर प्रथम भाग १७७ पृ०—ना० प्र० सभा।

५. विशेषादामिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्न निर्मग्ना स्त्रयस्त्रिशच्चतद्मिदाः।

हम कारण नहीं पूछने जाते। इन उदाहरणों से संचारी और स्थायी का अन्तर स्पष्ट हो जाता है।[1]

संचारी को रस या स्थायी का सहकारी कारण कहा गया है। पर इस नियम का अपवाद भीं है। यथा अमर्ष, त्रास, हर्ष और विषाद का क्रमशः क्रोध, भय, राग और शौक के साथ अंगांगि भाव सम्बन्ध है, कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विरोध अविरोध की दृष्टि से संचारियों के चार भेद[2] एवं अधिष्ठान की दृष्टि से पाँच भेद किए हैं।[3] यद्यपि संचारी कुल ३३ बताए गए हैं पर वे उपलक्षण मात्र हैं। संचारी नियत संख्या से भी अधिक हो सकते हैं यही कारण है जो भानुदत्त ने छल संचारी का आविष्कार किया और आचार्य शुक्ल ने आशा, नैराश्य, विस्मृति, बुद्धिमांद्य, मृदुता या कोमलता अधैर्य, संतोष, असंतोष आदि की खोज निकाला।[4] पर रस गंगाधर कार पंडितराज जैसे आचार्य उसकी मनमानी संख्या बढ़ाना उचित नहीं समझते। मानस से कुछ उदाहरण लीजिए—

निर्वेद—तब दसकंठ विविध बिधि समुझाई सब नारि।
नस्वर रूप जगत सब देखहु हृदयं बिचारि॥

× × ×

सत्रु मित्र सुख दुख जगमाहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं।

प्रकृतिगत दैन्य—अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी। सुनि अब नरकहु नाक सकोरी॥
भावाश्रित दै०—तुम्ह सुकृती हम नीच निषादा। पावा दरससुन राम प्रसादा।

---

१. भावयन्ति चित्तवृत्तयएवालौकिकवाचिकाधभिनय प्रक्रिया रूढ़तया स्वात्मानं लौकिक दशायामना स्वाद्यमप्या स्वाद्य कुर्वन्ति, यद्वा भावयन्ति व्याप्नुवन्ति सामाचिकानां मन इति भावाः—स्थायिनो व्यभिचारिणश्ट... ये पुनर्भर्भीधृत्यादय श्चित्रवृत्ति विशेषास्ते समुचित विभावाभावाज्जन्म सध्येन भवन्त्येवेति व्यभिचारिणः। तथाहि रसायन मुपयुक्तवतो ग्लान्या लक्ष्यश्रम प्रभृतयो न भवन्त्येव। यस्यापिवा भवन्ति विभावबलात्तस्यापि हेतु प्रक्षये क्षीयमाणाः संस्कार शेषता नावश्य मनु बन्धन्ति...तस्मात् स्थायि रूप चित्रं वृत्ति सूत्र स्यूता एवामी स्वात्मानमुदयास्तमय वैचिञ्य शत सहस्त्र धर्माणं प्रतिलभमानाः स्थापिनं विचित्र यन्तः...काव्यानु० २-१८।

२. सुखात्मक, दुःखात्मक, उभयात्मक और उदासनीन।

३. (१) स्वतन्त्र विषय युक्त भाव (२) मन के वेग (३) अन्य अन्तःकरण वृत्ति (४) मानसिक अवस्था और (५) शारीरिक भाव।

४. देखिए 'रस मीमांसा'—भावों का वर्गीकरण।

(३) सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ विलास।
परम प्रबल रिपु सीस पर तदपि सोच न त्रास।।

पति— जासु विलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा।।
सो सबु कारन जान विधाता। फरकहिं सुभद अंग सुन भ्राता।।
रघुवंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पगु धरइ न काऊ।।
मोहि अतिसय प्रतीति जिय केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी।।

स्मृति— (१) जब जब राम अवध सुधि करहीं। तब तब बारि विलोचन भरहीं।
(२) यमुना के श्यामल जल को देखकर भरत जी की सुधि आ गई।।
बीच वास करि जमर्नाहि आए। निरखि नीरु लोचन जल छाए।।

रसाभास

जहाँ रति आदि अनुचित रूप से प्रवृत्त हुए हों वहाँ रसाभास होता है।

उदाहरणार्थ शृंगार रसाभास—उपनायक अथवा अनेक पुरुषों में नायिका की रति होना, नदी आदि जड़ वस्तुओं में संभोग का आरोप, तिर्यक् योनि का प्रणय-प्रकाशन आदि इसके भीतर आवेंगे। इसी प्रकार अन्य रसों में भी समझ लेना चाहिए।

औचित्य की कसौटी लोक व्यवहार है अर्थात् लोक में जो व्यवहार और विभाव उचित माना जाता है वही काव्यगत औचित्य की परिधि में आता है।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि रसाभास में रस की स्थिति मानी जाए कि नहीं। कुछ विद्वानों का मत है कि नहीं। उनके अनुसार दोनों-रस और रसाभास-एक साथ रह ही नहीं सकते—जहाँ अनौचित्य न हो वहीं रस की स्थिति है। पर दूसरे आचार्यों का कथन है कि अनुचित होने के कारण 'स्वरूप नाश' नहीं हो सकता। जैसे कोई घोड़ा दोषयुक्त होने पर भी घोड़ा ही कहा जाता है।

उदाहरण—

शूर्पणखा राम लक्ष्मण पर मोहित होती है—

होइ विकल सक मनहि न रोकी। जिमि रवि मनि द्रव रविहि विलोकी।।
रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई। बोली बचन बहुत मुसुकाई।।
तुम सम पुरुष न मो सम नारी। यह संजोग विधि रचा बिचारी।।
मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउं खोज लोक तिहुं नाहीं।।
ताते अब लगि रहिउं कुमारी। मनु माना कछु तुम्हहि निहारी।।

शूर्पणखा राम लक्ष्मण दोनों भाइयों पर रीझकर उनसे विवाह का प्रस्ताव करती है। पर एक तो वह विधवा है, दूसरे दो-दो पुरुषों पर एक साथ रीझकर उनसे निर्लज्जता पूर्वक प्रणय सम्बन्ध जोड़ना चाहती है, तीसरे राम लक्ष्मण उसकी ओर से अनासक्त हैं, अतः अनुपमुभयनिष्ठ रति होने के कारण यहाँ शृङ्गार रसाभास है।

इसी प्रकार रावण का भी जगज्जननी जानकी के प्रति प्रणय-प्रस्ताव अनुचित है। यहाँ भी अनुभयनिष्ठ रति है। अतः शृङ्गार रसाभास है।

कह रावन सुनु सुमुखि सयानी। मन्दोदरी आदि सब रानी॥
तव अनुचरी करउं मन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा॥

रौद्ररसाभास—

चित्रकूट में भरतजी के आगमन का समाचार सुनकर और आने का अन्यथा हेतु समझ कर लक्ष्मण की त्योरी चढ़ जाती हैं—

एतना कहत नीति रस भूला। रन रस बिटपु पुलक मिस फूला॥

फिर तो वे युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं—

जिमि करि निकर दलइ मृग राजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥
तैसहिं भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउं खेता॥
जौं सहाय कर संकर आई। तौ मारउं रन राम दोहाई॥

भरत जी जैसे साधुमना महापुरुष पर इस प्रकार का क्रोध प्रदर्शन अनुचित है। यही कारण है जो आकाशवाणी सुनकर लक्ष्मण जी सकुचा गए—

'सुनि वर वचन लखन सकुचाने'

अतः यहाँ रौद्ररसाभास हो गया है।

भावाभास

भावाभास को समझने के पहले भाव को समझ लेना चाहिए। प्रधान होकर संचारी भाव, देवादिविषयक रति और उद्‌बुद्ध मात्र स्थायीभाव 'भाव' कहलाते हैं।[1] ये ही भाव अनुचित रूप से प्रवृत्त होने पर भावाभास कहलाते हैं।

रावण की मृत्यु पर मन्दोदरी आदि के विलाप का वर्णन है—

पति सिर देखत मन्दोदरी। मुरछित बिकल धरनि खसि परी॥
जुवति वृन्द रोवत उठि धाई। तेहि उठाइ रावन पहिं आई॥
पति गति देखि ते करहिं पुकारा। छूटे कच नहिं बपुष संभारा॥
उर ताड़ना करहिं बिधि नाना। रोवत करहिं प्रताप बखाना॥
तव बल नाथ डोल नित धरनी। तेज हीन पावक ससि तरनी॥
× × ×
तव बस बिधि प्रपंच सब नाथा। समय दिसिप नित नावहिं माथा॥
अब तव सिर भुज जंबक खाहीं। राम बिमुख यह अनुचित नाहीं॥

---

१. संचारिणः प्रधानानि देवादि विषया रतिः।
उद्‌बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥

यहाँ देव विषयक रति के आगे 'शोक' दब गया है अर्थात् शोक देव-विषयक रति का अंग हो गया है।

भावशान्ति

भरतहिं बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौन।
हेतु अपन पउ जानि जियं थकित रहे धरि मौनु॥

यहाँ पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर भरतजी विषाद कर ही रहे थे कि उन्हें राम-विवासन की सूचना मिलती है। फलस्वरूप विषाद की शान्ति हो जाती है और राम वनवास में अपने को हेतु जानकर वे ठक से रह जाते हैं। प्रस्तुत दोहे में विषाद भाव की जड़ता भाव से शान्ति है।

भावोदय

प्रभु विलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर झारी॥

यहाँ राम से युद्ध करने के लिए आए हुए सेना सहित खरदूषण की दशा का वर्णन है जो राम का 'रूप अपार भार मदमोचन' देखकर चित्र लिखे से रह गए हैं। यहाँ राम का अपार सौन्दर्य विभाव और राक्षसों का उन पर शस्त्र प्रहार न कर ठक हो जाना अनुभाव है। इन सब से जड़ता भाव का उदय व्यंग्य. है।

भावसंधि

चकित चितै मुंदरी पहिचानी। हर्ष विषाद हृदय उर आनी॥

यहाँ अशोक बाटिका में हनुमानजी द्वारा मुद्रिका गिराई जाने पर सीता की दशा का वर्णन है। यहाँ हर्ष तो रति का संचारी होकर आया है पर विषाद विप्रलंभ मूलक न होकर घोर अनिष्ट मूलक है। यहाँ हर्ष और विषाद परस्पर विजातीय होने के कारण अधिक चमत्कारक हो रहे हैं।

भावशबलता

आचार्य शुक्ल के अनुसार दो से अधिक भावों के संघात को भावशबलता कहते हैं और पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार एक दूसरे के साथ बाध्यबाधकता का सम्बन्ध रखने वाले अथवा उदासीन रहने वाले भावों के मिश्रण को 'भावशबलता' कहते हैं।

ननिहाल से लौटने पर भरतजी ने वसिष्ठजी के अभिषेक प्रस्ताव को ठुकराते हुए जो निवेदन किया है उसमें भावशबलता का सुन्दर उदाहरण दृष्टिगत होता है—

हित हमार रघुपति सेवकाई (मति)
सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई (असूया)

सोक समाज राजु केहि लेखें।
लखन राम सिय बिनु पद देखे॥ (वितर्क)
मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबही (शंका)
कैकेयी भव तनु अनुरागे। पांवर प्रान अघाइ अभागे।
जौं प्रिय विरह प्रान प्रिय लागे। देखब सुनब बहुत अब आगे॥ (निर्वेद)

इसी प्रकार कामदेव वाले प्रसंग में भावशबलता की सफल व्यंजना देख सकते हैं

रुद्रहि देखि मदन भय माना (त्रास) दुराधरष दुर्गम भगवाना ॥ फिरत लाज कछु करि नहिं जाई (ब्रीड़ा, विषाद, ग्लानि) मरनुठानि मन रचेसि उपाई (मद, उग्रता, अमर्ष)

रसवद् अलंकार

जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूं न समाइ।
सो सब अद्‌भुत देखेउं बरनि कवनि विधि जाइ॥

भगवान् के विश्वरूप का, काग भुशुंडि द्वारा आँखों देखा वर्णन है। इस वर्णन में यद्यपि 'विस्मय' की प्रतीति होती है पर वह देव विषयक रति भाव से उपहत है। अतः यहाँ अद्‌भुत रस की ध्वनि न होकर विस्मय रूप रसालंकार हो गया है। यहाँ विराट पुरुष के दर्शन से उद्दीपित विस्मय स्थायी भाव वाला अद्‌भुत रस भक्ति के योग्य भगवान् राम के ऐश्वर्य रूप वस्तु का अंग है, इसलिए यह शुद्ध रसवत् अलंकार है।

तुलसी की अन्तर्दृष्टि

गिनाए हुए संचारीभावों आदि के उदाहरण आपने देखे। अब उन संचारियों की बानगी लीजिए जिनका शास्त्रों में नामकरण तो नहीं किया गया है पर जिनका अनुभव हम आए दिन करते हैं। गोस्वामी जी ने ऐसे सूक्ष्म भावों की स्वतन्त्र रूप से मर्मस्पर्शी व्यंजना करके अपनी कुशाग्र निरीक्षण शक्ति एवं समर्थ काव्य शक्ति का परिचय दिया है। कवियों की ऐसी ही अतलस्पर्शी पहुंच को लक्ष्य कर के 'जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि' की कहावत प्रचलित हुई होगी। समुद्र हेतु बंधने का समाचार पाकर रावण अकुला उठता है—

बांधे बन निधि नीर निधि जलधि सिंधु वारीस।
सत्य तोय निधि कंपती उदधि पयोधि नदीस॥

आचार्य शुक्ल के अनुसार यहाँ आश्चर्य के संचारी रूप में 'चकपकाहट' की व्यंजना है। आचार्य ने आश्चर्य और चकपकाहट में अन्तर करते हुए बताया है कि 'आश्चर्य किसी विलक्षण बात पर होता है और चकपकाहट किसी ऐसी बात पर होती है जिसकी कुछ भी धारणा हमारे मन में न रही हो और जो एकाएक हो जाय।' इस अकुलाहट को हम आवेग संचारी के भीतर भी नहीं ले सकते। अतः कहना पड़ेगा कि भाव प्रत्यक्षीकरण की दिशा में गोस्वामी जी की यह नूतन उद्‌भावना है।

'उदासीनता' जैसे भाव को भी गोस्वामी जी ने काव्य के भाव विधान के भीतर लेकर उसका बड़ा रसात्मक रूप प्रत्यक्ष किया है। राम के राज्याभिषेक पर क्षोभ व्यक्त करने वाली मंथरा को जब कैकेयी ने डांटा है तब वह उदासीनता व्यंजित करती हुई कहती है—

हमहुं कहब अब ठकुर सोहाती। नाहिं त मौन रहब दिन राती।।
कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छांडि अब होब कि रानी।।

आचार्य जी ने इस प्रकार की उदासीनता को 'खेदव्यंजक' और साथ ही 'विषाद' क्षोभ आदि से उत्पन्न क्षणिक मानसिक शैथिल्य' बतलाया है। यह उदासीनता वास्तविक उदासीनता से भिन्न प्रकार की है। साहित्य के निर्वेदादि में भी इसे अन्तर्मुक्त नहीं किया जा सकता है।

ग्लानि से मिलती-जुलती एक और दशा है जिसमें आदमी स्वयं अपनी मर्त्सना और उपहास करता है। राम सीता के वियोग में 'लतातरु पांतियों' से उनका पता पूछते हुए विषण्णवदन चले जा रहे हैं। मृग उन्हें देखकर भागते हैं। फिर अपनी प्रकृति के अनुसार वे कुछ दूर पर जाकर खड़े हो जाते हैं। इस पर राम की उक्ति है—

हमहिं देखि मृग निकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम कहिं भय नाहीं।।
तुम आनन्द करहु मृग जाए। कंचन मृग खोजन ये आए।।

उक्त उद्धरण में व्यंजित भाव को भी हम परिगणित ३३ संचारियों में नहीं सन्निविष्ट कर सकते। ग्लानि, दैन्य, विषाद, पश्चात्ताप आदि के योग से यह गूढ़ भाव अभिव्यक्त हुआ है। यहाँ भावव्यंजना की जो मार्मिकता है वह तो है ही, कवि का लोकव्यवहार ज्ञान भी सूचित होता है। राम को देखकर मृग भागते हैं, मृगी नहीं। कारण मादा के ऊपर अस्त्र न चलाने की हमारे यहाँ बड़ी पुरानी परंपरा है।

वैसे तो गोस्वामी जी सभी रसों और भावों की व्यंजना करने में सक्षम थे पर 'सकोच' की अभिव्यंजना में उन्हें खास कमाल हासिल था। उनके उत्तम पात्रों में संकोच का सन्निवेश अवश्य मिलेगा। मानो यह वृति मानवता का जीवन-प्राण हो। संकोच को वे रस कौटिक समझते थे।[१] उनके राम शील संकोच के सिन्धु थे[२] और उसमें अपना बेजोड़ स्थान रखते थे।[३] गोस्वामी जी ने संकोच को शील के 'सहज संघाती' रूप में रखा है—दोनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। तुलसी द्वारा उद्भावित इस अभिनव संकोच रस का भी थोड़ा रसास्वादन कीजिए।

---

१. सो सकोचु रसु अकथ सुबानी। समउ सनेहु सुमिरि सकुचानी। मानस
२. सील संकोच सिन्धु रघुराऊ। वही
३. कोउ न राम सम स्वामि संकोची। वही

राम श्रृंगवेरपुर से सुमन्त को विदा करते हुए पिता के लिए सन्देश दे रहे हैं। लक्ष्मण को यह बात अच्छी नहीं लगती। वे पिता के लिए अपशब्दों का प्रयोग करते हैं। राम छोटे भाई के इस लड़कपन से मारे संकोच के गड़ जाते हैं। वे लक्ष्मण को चुप कराते हुए सुमन्त को अपनी शपथ दिलाकर उनसे प्रार्थना करते हैं—'कहब न तात लखन लरिकाई'[1] पर शपथ की परवा न करके राम के उक्त संकोची स्वभाव की चर्चा सुमन्त ने महाराज दशरथ से की ही। उस अद्भुत संकोच रस का आस्वाद बिना महाराज को कराये उनसे रहा न गया।

गोस्वामी जी की संकोचवृत्ति की अनेक अन्तर्दशाओं तक पैठ थी और नाना परि-स्थितियों में उन्होंने संकोच के रसात्मक स्वरूप को देखा दिखाया है।

भगवान् राम सीता और लक्ष्मण के साथ गंगा पार करके रेता में खड़े होते हैं। इसी बीच केवट उतर कर दंडवत् करता है। राम को संकोच होता है कि इसे कुछ नहीं दिया।

सुमन्त खाली रथ लिए अयोध्या लौट रहे हैं। नगर के समीप पहुंचने पर उन्हें आगे बढ़ने में संकोच हो रहा है। महाराज और कौशल्या जी पूछेंगे तो क्या उत्तर दूंगा—

देहउं उतरु कौनु मुहु लाई। आयउं कुसल कुअंर पहुंचाई॥

अतः नगर के बाहर एक वृक्ष के नीचे बैठकर वे दिन बिताते हैं और अंधेरा होने पर पुर के भीतर प्रवेश करते हैं—

पैठत नगर सचिव सकुचाई। जनु मारेसि गुरु बांभन गाई॥
बैठि विटप तर दिवसु गवांवा। सांझ समय तब अवसरु पावा॥

भरत राम को मनाने जा रहे हैं। भरद्वाजाश्रम पर मुनि का सामना होते ही वे सिर नीचा कर लेते हैं और लगता है कि जैसे भागकर संकोच के घर में छिप जाना चाहते हों। उन्हें भय है कि कहीं मुनि राम विवासन की चर्चा न छेड़ दें।[2]

भरत राम से आग्रह कर रहे हैं कि अभिषेक की सामग्री आई है, उसे सफल कीजिए अर्थात् राज्य स्वीकार कर लीजिए। अब रही वन जाकर पिता की आज्ञा का पालन करने की बात। सो उसके लिए तीन विकल्प हैं। आप उनमें से जिसे पसन्द करें वही किया जाय। या तो मुझे और शत्रुघ्न को वन भेजिए, आप और लक्ष्मण तथा सीता अयोध्या

---

१. पुनि कछु लखन कहीं कटु बानी। प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी॥
सकुचि राम निज सपथ देवाई। लखन संदेसु कहिय जनि जाई॥ मानस
२. आसनु दीन्ह नाइ सिर बैठे। चहत सकुच गृहजनु भजि पैठे॥
मुनि पूछब कछु यह बड़ सोचू। बोले मुनि लखि सील संकोचू॥

लौट जायं या दोनों भाइयों को घर लौटा दीजिए, मैं साथ चलूँ अथवा हम तीनों भाई वन में जाकर पिता वचन पालैं और आप सीताजी के साथ अयोध्या चले जायं। इस प्रस्ताव पर संकोची राम मौन ही रह जाते हैं--

चुपहिं रहे रघुनाथ संकोची। प्रभुगति देखि सभा सब सोची॥

राम यह कैसे कह दें कि तुम लोग चले जाओ, मैं अयोध्या नहीं लौट सकता।

राम के संकोच का एक और चित्र उपस्थित करके आगे बढ़ूँगा। राम से आज्ञा लेकर भरत ने अपने समाज के साथ पूरे पांच दिनों तक भ्रमण करके चित्रकूट के सुरम्य स्थलों का अवलोकन किया। छठें दिन सवेरे स्नान करके अवध और मिथिला का समाज राम के सान्निध्य में एकत्र होता है। आज अयोध्या लौटने का अनुकूल मुहूर्त प्राप्त है पर कोई जाने का नाम नहीं ले रहा है। भगवान बड़े चक्कर में पड़े। मुँह खोल कर कैसे कहें।

पहले उन्होंने वसिष्ठ की ओर देखा कि कम से कम इन्हें तो ध्यान होना चाहिए। फिर जनक की ओर इस आशय से देखा कि मिथिला और अवध दोनों राज्य सूने पड़े हुए हैं, इनको भी इसकी चिन्ता नहीं है। फिर भरत की ओर इस आशय से देखते हैं कि पांच ही दिनों की अनुमति ली थी। अब क्या विचार है? अन्त में सभा की ओर देखते हैं जिसकी द्विविध मनोगति हो रही थी—छन वन रुचि छन सदन सोहाहीं। पर जब कोई नहीं सगबगाया, सब को तूष्णीं भाव धारण किए देखा तो आंखें नीची कर ली—भूमि की ओर देखने लगे। कोई मनोवैज्ञानिक संकोच की इस गूढ़ दशा तक क्या पहुंच सकता है। संकोच की कितनी स्वाभाविक मुद्रा है—

गुरु नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी॥
सील सराहि सभा सब सोची। कहुं न राम सम स्वामि संकोची॥

गोस्वामी जी का ध्यान ऐसे छोटे-छोटे भावों की ओर भी गया है जिनकी और सामान्यतः कवियों का ध्यान नहीं जाता अथवा जाता भी है तो उसके ठीक-ठीक अभिव्यंजन में उनकी वाणी समर्थ नहीं हो पाती।

जनकपुर का चित्र है। छोटे-छोटे बालक रामचन्द्र जी को यज्ञशाला की रचना दिखा रहे हैं और इसी व्याज से वे रामचन्द्र का स्पर्श करके पुलकित होते हैं—

सब सिसु एहि मिस प्रेमवस परहि मनोहर गात।
तन पुलकहिं अति हरषु हियं देखि देखि दोउ भ्रात॥

चलिए, अमुक स्थल बड़ा सुन्दर है, यह कहकर वे राम का हाथ पकड़ कर अपनी ओर खींचते हैं और स्पर्श सुख पाकर पुलकित होते हैं। यहाँ अवहित्था अथवा छल से मिलते-जुलते संचारी का कितना मनोरम प्रत्यक्षीकरण हुआ है।

'छल' का एक चित्र केकयी-कोप भवन वाले प्रसंग में भी द्रष्टव्य है। दशरथ के मुख से रामराज्याभिषेक के निश्चय को सुनकर केकयी को हृदय में तो दुःख होता है पर बड़े कौशल से वह इस भाव का संगोपन करती है—

ऐसिउ पीर बिहसि तेहिं गोई। चोर नारि जिमि प्रगटन रोई।।

अपने प्रिय के कुशल समाचार जानने को उत्सुक रहने पर भी हम कभी-कभी किसी अज्ञात भय के कारण, किसी अनिष्ट की आशंका से उसके कुशल-मंगल की ओर से उदासीन हो जाते हैं—कोई उत्कंठा व्यक्त नहीं करते कि न जाने कैसे समाचार सुनने को मिलें। ननिहाल से लौट कर अयोध्या नगरी में प्रवेश करते समय भरत की कुछ ऐसी ही मनोदशा हुई। क्रान्तदर्शी कवि की पहुँच देखिए—

पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु गंवहिं जोहारहिं जाहिं।
भरत कुसल पूछि न सकहिं भय विषाद मन माहिं।।

दैन्य और शंका का एक मित्र चित्र देखिए। हनुमान की मध्यस्थता में सुग्रीव राम से मिलते हैं। राम की लोकोत्तर महानता से सुग्रीव अभिभूत हो जाते हैं और मन में सोचते हैं कि क्या यह कभी संभव हो सकता है कि इनके जैसा महापुरुष मेरे जैसे दीन हीन व्यक्ति से मैत्री करे। मेरे जैसे लोगों से इन्हें क्या लेना-देना है।

कपि कर मन विचार एहि रीती। करिहहिं बिधि मोसन ए प्रीती।।

अत्यन्त भावुक व्यक्तियों में यह देखा जाता है कि वे क्षण में ही किसी पर लाल पीले हो जाते हैं और फिर दूसरे ही क्षण मोम की भांति पसीज जाते हैं। सुग्रीव पहले तो बालि के अत्याचारों से रक्षा की प्रार्थना करता है पर राम के द्वारा दुन्दुभि अस्थि ताल ढहाये जाने पर जब उसे 'बालि बधव इन्ह भइ परतीती' हो जाती है तब उसे अर्जुन की भांति ज्ञान (!) पैदा हो जाता है और बालि के प्रति सद्भावना उमड़ पड़ती है कि वह सोचता है कि अब तो यदि बालि के साथ स्वप्न में भी लड़ाई होगी तो जागने पर उस युद्ध की याद आने पर संकोच अनुभव होगा—

बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम समन बिषादा।।
सपने जेहि सन होइ लराई। जागे समुझत मन सकुचाई।।

संकोच की इस गूढ़ दशा तक सिवा गोस्वामी जी के और किसकी पहुँच हो सकती है।

औत्सुक्य की एक मार्मिक झांकी अंगद की विदाई के अवसर पर देखने को मिलती है। वह राम को छोड़कर जाना नहीं चाहता। राम की सेवा में उनके घर की नीच से

नीच टहल करके पड़ा रहना चाहता है। पर राम उसे 'निज उर माल वसन मनि' पहिरा कर एवं 'बहुप्रकार' समझाकर विदा करते हैं। अंगद जाते समय रह रह कर राम की ओर उत्सुक नेत्रों से देख कर प्रणाम करता है—इस आशा से कि शायद अब रोक लें

अंगद हृदय प्रेम नहिं थोरा। फिरि फिरि चितव राम की ओरा॥
बार बार कर दंड प्रनामा। मन अस रहन कहहिं मोहि रामा॥

अब 'स्मृति' का एक रसात्मक चित्र दिखाकर इस प्रकरण को समाप्त करूंगा।

कागभुशुंडि जी गरुड़ से अपने पिछले जन्मों का इतिहास बताते हुए कहते हैं कि एक बार मैं शूद्र के घर पैदा हुआ। कट्टर शैव था और वैष्णवों से जलता था। एक बार शिव मंदिर में बैठकर जप कर रहा था। इसी बीच गुरुदेव आगए। मैंने अभिमानवश उन्हें उठकर प्रणाम नहीं किया। फलस्वरूप शिवजी क्रुद्ध हो उठे और मुझे भयंकर शाप दे डाला। पर सम्यक् बुद्धि गुरुजी को मेरे व्यवहार से क्रोध नहीं हुआ उल्टे शिवजी द्वारा शापित होने से मेरे प्रति उनके हृदय में सहानुभूति का उदय हुआ और विनय करके उन कृपालु गुरु ने शिव से शापानुग्रह कराया। गुरु का यह कोमल शील स्वभाव मुझे शूल-सा कसकता रहा—कभी भूला नहीं।

एक सूल मोहिं बिसरत नहिं काऊ। गुरु कर कोमल सील सुभाऊ॥

ऐसी चूक, जिसका परिहार भी संभव नहीं है, मन को कचोटने वाली हूक बन कर जीवन भर हृदय को व्यथित किया करती है।

यतः उक्त औत्सुक्य, स्मृति आदि संचारी परिगणित ३३ संचारियों में आ जाते हैं। अतः यह पूछा जा सकता है कि फिर इनको अलग से दिखाकर पिष्टपेषण करने की क्या आवश्यकता थी। निवेदन है कि मुझे परिगणित संचारियों से इन उदाहृत संचारियों में चारुत्वातिशय एवं वैशिष्ट्याधिक्य दिखाई पड़ा। एतावता इन पर अलग से विचार करना समीचीन जान पड़ा।

अलंकार

अलंकारों के सम्बन्ध में आचार्यों के विभिन्न दृष्टिकोण हैं।

(१) दंडी और वामन के अनुसार काव्य के उत्कर्ष बढ़ाने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं।

(२) काव्य प्रकाशकार और साहित्यदर्पणकार की मान्यता है कि 'रस में न रहने वाले रस के उपकारक धर्मों को अलंकार कहते हैं। साथ ही का० प्र०कार का यह भी

कथन है कि बिना अतिशयोक्ति के काव्यगत चमत्कार नहीं उत्पन्न किया जा सकता।[१]

(३) कुवलयानन्द और साहित्यसार शब्द सुनने के पश्चात् रसादि व्यंग्यों के अतिरिक्त अन्य चमत्कारजनक वस्तु की प्रतीति में अलंकार मानते हैं।

(४) पंडितराज चमत्कारजनक होने पर परिष्कृत करने वाले को अलंकार कहते हैं। अर्थात् जो शब्द, वाच्य अथवा व्यंग्यार्थ सुन्दर हो और दूसरे की सुन्दरता बढ़ाये वह अलंकार है।

(५) केवल मात्र वस्तुत्व और प्रमेयत्व में अलकार नहीं होता।[२] यह उद्योतकार का मत है।

यद्यपि ध्वनिवाद का जोर बढ़ जाने से उत्तरकाल में अलंकारों[३] का महत्व क्षुण्ण हो गया पर काव्यक्षेत्र से उसका सर्वथा निष्कासन संभव नहीं हो सका। भगवान् वेदव्यास तो अर्थालंकार के बिना सरस्वती को विधवा मानते हैं।[४]

और जयदेव अलंकार रहित काव्य को काव्य ही नहीं मानते। वे कहते हैं कि अलंकार के बिना काव्य की कल्पना वैसी ही है जैसी उष्णता रहित अग्नि की कल्पना।[५]

शब्दार्थ युगल को काव्य शरीर कहा गया है। अलंकार इसी काव्य शरीर के शोभाधायक तत्व हैं।[६]

जैसे हारादि आभूषण किसी रूपसी की सौन्दर्यवृद्धि में कारण होते हैं वैसे ही सरस काव्यों का इन अलंकारों द्वारा उत्कर्ष साधन होता है। पर आभूषण की तरह अलंकार भी सौन्दर्य के नित्य धर्म नहीं हैं—स्वरूपाधायक वा जीवनाधायक तत्व नहीं हैं, अस्थिर धर्म हैं। वे ही अलंकार काव्य के काम के माने जाते हैं जो भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के

---

१. सर्वत्र एवंविध विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालंकारत्वायोगात्। काव्यप्रकाश।

२. वस्तुत्व प्रेमयत्व मर्मप्रहारकृत विरहादिजन्यस्य नालंकारत्वम्।—उद्योत

अथवा

साधर्म्यं कविसमयप्रसिद्धं कांतिमत्वादि न तु वस्तुत्व प्रमेयत्वादिग्राह्यम्विद्याधर। दे० गोस्वामी तुलसीदास पृ० १६२।

३. आरंभ में काव्यशास्त्र अलंकार शास्त्र के नाम से ही ख्यात थे।

४. अर्थालंकार रहिता विधवेव सरस्वती—'अग्निपुराण'

५. अंगी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलंकृती॥
—काव्यप्रकाश, पृ० ४००—आ० विश्वेश्वर।

६. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥

रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में सहायक हों।[1] आनन्दवर्धन ने तो अलंकारों विशेषकर यमकादि शब्दालंकारों के प्रयोग की कुछ विशिष्ट रसों में वर्जना की है।[2] पंडितराज जगन्नाथ को भी काव्य की आत्मा व्यंग्य को रमणीय बनाने वाले अलंकार ही अभिप्रेत हैं। इस प्रसंग में आनन्दवर्धन के मत द्रष्टव्य हैं। निम्नीय रूप में अलंकारों का निवेश किया जाय तो वे काव्य की रमणीयता बढ़ाने में सहायक होते हैं।

१—रस के अंग रूप में अलंकारों की विवक्षा करना।

२—अलंकारों की विवक्षा अंगी रूप में न की जाय।

३—अलंकारों का यथावसर ग्रहण और त्याग किया जाय।

४—किसी अलंकार को आरंभ करके अन्त तक रस की हानि करके उसके निर्वाह का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

५—समष्टि पर्यन्त अलंकार रस पोषक बना रहे।

यहाँ हम मानस के रमणीय अलंकारों का दिग्दर्शन तो करेंगे ही, साथ ही उन अलंकारों को भी परखने का प्रयास करेंगे जो रस वा भावों के उपकारक हो कर तो नहीं आए हैं पर वैचित्र्यपूर्ण हैं।

भावोत्तेजन के लिए अलंकारों की योजना तो की ही जाती है, स्वरूप बोध के लिए भी उसकी योजना कविजन करते हैं। जहाँ कवि का उद्देश्य मुख्यतः भावों को तीव्र करना होता है, वहाँ उसकी दृष्टि वस्तु, गुण या क्रिया के साम्य पर रहती है और जहाँ स्वरूपबोध उसका लक्ष्य रहता है वहाँ व्यापार समष्टि या पूरे प्रसंग के साम्य पर उसका ध्यान केन्द्रित रहता है।[3] पहले में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि उपादेय होते हैं और दूसरे में दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास और अन्योक्ति। यहाँ यह निवेदन कर देना आवश्यक है कि स्वरूपबोध कराने वाले अलंकार भी अनुभूति को तीव्र करने में सहायक होते हैं। उदाहरण के लिए जो रमते साधु अपनी बानियों में माया को ठगिनी, काम-क्रोध आदि को बट पार संसार को मायका और ईश्वर को पति रूप में प्रदर्शित करते हैं वह अनुभूति को तीव्र करने के लिए ही।

---

१. अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में हों। जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि में। चाहे वाक्य-वक्रता के रूप में। जैसे, अप्रस्तुत प्रशंसा, परिसंख्या, व्याजस्तुति, विरोध इत्यादि में, चाहे वर्ण विन्यास के रूप में। जैसे अनुप्रास में हो वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष साधन के लिए ही लाए जाते हैं।—रस मीमांसा पृ० ३९।

२. ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादि निबन्धवम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलंभे विशेषतः॥
—ध्वन्यालोक द्वितीय उद्योत, ३८।

३. सदृश वस्तु के इस कथन द्वारा अगोचर आध्यात्मिक तथ्यों का कुछ स्पष्टीकरण भी हो जाता है और उनकी रुखाई भी दूर हो जाती है।

सादृश्यमूलक अलंकारों में हम पहले उपमा[1] को लेंगे।

उपमा के मुख्यतः निम्नीय पाँच भेद हैं :—

१—बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप।

२—वस्तु प्रतिवस्तु धर्म।

३—अनुगामी धर्म।

४—उपचरित समानधर्म।

५—शब्दरूप समानधर्म।

ये भेद रस गंगाधर के अनुसार दिए गए हैं और आचार्य शुक्ल ने अपने 'गोस्वामी तुलसीदास' में इनका उल्लेख किया है। मानस से इनके उदाहरण लीजिए।

(१) बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप—

१. तरुन तमाल बरन तनु सोहा। देखत कोटि मदन मनु मोहा॥

२. दामिनि बरन लखन सुठि नीके। नख सिख सुभग भाव ते जीके॥

३. हृदय न बिदरेउ पंक जिमि बिछुरत प्रीतम नीर

(२) वस्तु प्रतिवस्तु धर्म—

१. डगै न संभु सरासन कैसे। कामी बचन सती मन जैसे॥

२. गुनइन राउ निकट दुख कैसे। चरइ हरित तृन बलि पसु जैसे॥

३. सुमन माल जिमि कंठ तें गिरत न जानइ नाग

४. जिमि करुना महु वीर रस

५. विप्र बिबेकी वेदविद संमत साधु सुजाति।
जिमि धोखे मद पान कर सचिव सोच तेहिं भांति॥

६. जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पति देवता करम मन बानी॥
रहै करम बस परिहरि नाहू। सचिव हृदयं तिमि दारुन राहू॥

(३) अनुगामी धर्म—

सरद मयंक बदन छबि सींवा। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा॥
अधर अरुन रद सुन्दर नासा। विधुकर निकर विनिंदक हासा॥

---

१. "उपमा सादृश्य के आधार पर खड़ी होती है। यह सादृश्य रमणीय होना चाहिए। केवल-मात्र बोध कराने वाला सादृश्य उपमालंकार नहीं होता। जैसे 'नील गाय गाय के सदृश होती हैं' 'यह अलंकार नहीं कहा जायगा। केवल वस्तुत्व या प्रमेयत्व जिसमें हो, वह अलंकार नहीं।"
(साधर्म्यं कवि समय प्रसिद्धं कांतिमत्वादि न तु वस्तुत्व प्रमेयत्वादि ग्राह्यम्
—विद्याधर) रस मीमांसा पृ० २९३।

(४) उपचरित समान धर्म—

परसत मृदुल चरन अरुनारे। सकुचति महि जिमि हृदय हमारे॥

(५) शब्द रूप समान धर्म—

असन पान सुचि अमिय अमी से। देखि लोग सकुचात जमी से॥

उपमान के गुण धर्मादि पर कुछ विचार परिशिष्ट रूप में यहाँ कर लेना कदाचित् अनुचित न होगा। उपमान कुतूहल खड़ा करने वाला अथवा विरोधी भी नहीं होना चाहिए। वह जितना ही हृदयप्रेरित होगा उतना ही काव्योपयोगी समझा जायगा। यह भी समझ रखना चाहिए कि प्रस्तुत-वस्तु, व्यापार या गुण—कवि के जिस भाव का आलंबन हो उसके सदृश अप्रस्तुत-वस्तु, व्यापार या गुण-भी उसी भाव का आलंबन होना चाहिए। हमारे यहाँ के साहित्य के बंधे उपमानों में जैसे इस प्रकार की रसात्मकता अनुस्यूत मिलती है। रमणी के नेत्रों को कमल से, वीर पुरुष की चाल को सिंह की गति से एवं हृदय की कोमलता को नवनीत से उपमित करने में उक्त रसात्मकता ही कारण है। ये अप्रस्तुत क्रमशः रतिभाव उत्साह और श्रद्धा द्वारा प्रेरित और सौन्दर्य, वीरत्व और कोमलता की व्यंजना करने वाले हैं। (रस-मीमांसा के आधार पर) सभी बंधे उपमान प्रशस्त नहीं कहे जा सकते। कुछ ऐसे भी उपमान हैं जो सौन्दर्य की अनुभूति तीव्र करने में सहायक नहीं होते अपितु आकारादि ही निर्दिष्ट करते हैं। जैसे जंघों की उपमा के लिए हाथी की सूंड़, नायिका की कटि की उपमा के लिए भिड़ या सिंहिनी की कमर इत्यादि। काव्य में नई उपमाएँ भी लाई जा सकती हैं पर यह है बड़े जोखिम का काम। इसमें कवि की जिम्मेदारी बढ़ जाती है। रसात्मक प्रसंगों में तो बड़ा फूंक फूंक कर कदम रखना पड़ता है। 'कहीं कहीं तो लिखत सुधा कर गालिखि राहू' की उक्ति चरितार्थ हो जाती है।

रूपक

सांग, निरवयव और परंपरित ये ही तीन भेद रूपक के हैं। यतः रूपक के मूल में व्यंग्य भी अन्तर्हित रहता है, अतः उसकी काव्योपयोगिता असंदिग्ध है।

(१) सांग रूपक

१. सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी। माधव सरिस मीत हितकारी॥
चारि पदारथ भरा भंडारू। पुन्य प्रदेस देस अतिचारू॥
छेत्र अगमु गढ़ गाढ़ सुहावा। सपनेहुं नहिं प्रतिपच्छिन पावा॥
सैन सकल तीरथ बर बीरा। कलुष अनीक दलन रनधीरा॥
संगमु सिंघासन सुठि सोहा। छत्रु अछयबटु मुनि मन मोहा॥
चंवर जमुन अरु गंग तरंगा। देखि होहिं दुख दारिद भंगा॥
सेवहिं सुकृती साधु सुचि पावहिं सब मन काम।
बंदी बेद पुरान गन कहहिं बिमल गुन ग्राम॥

२. रामवास वन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥
सचिव विरागु विवेकु नरेसू। विपिन सुहावन पावन देसू॥
भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुन्दर रानी॥
सकल अंग सम्पन्न सुराऊ। राम चरन आस्रृत चित चाऊ॥
जीति मोह महिपाल दल सहित विवेक भुआलु।
करत अकंटक राजुपुर सुख संपदा सुकालु॥

इनके अतिरिक्त अयोध्या कांड का 'आश्रम सागर सान्तरस', लंका कांड का 'धर्मरथ वाला एवं उत्तर के ज्ञानदीपक तथा 'मानस' रोग वाले रूपक अच्छे उदाहरण हैं।

सांग रूपक का एक और उदाहरण देने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता।

कुसमउ देखि सनेहु संभारा। बढ़त बिंधि जिमि घटज निवारा॥
सोक कनक लोचन मति छोनी। हरी विमल गुन गन जग जोनी॥
भरत विवेक वराह विसाला। अनायास उधरी तेहि काला॥

पौराणिक आख्यान पर अवलंबित यह रूपक अमूर्त परिस्थिति का कितना मार्मिक रूप प्रत्यक्षीकरण कर रहा है।

(२) निरवयव रूपक

१. रामचरित चिंतामनि चारू। संत सुमति तिय सुभग सिंगारू॥
जगमंगल गुन ग्राम राम के। दानि मुकुटि धन धरम धाम के॥
सदगुरु ग्यान विराग जोग के। बिबुध बैद भव भीम रोग के॥
जननि जनक सिय राम प्रेम के। बीज सकल ब्रत धरम नेम के॥
समन पाप संताप सोक के। प्रिय पालक परलोक लोक के॥
सचिव सुभट भूपति विचार के। कुंभज लोभ उदधि अपार के॥
कामं कोह कलिमल करिगन के। के हरि सावक जनमन बन के॥
अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के। कामद मन दारिद दवारि के॥
मंत्र महामनि विषय व्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के॥

२. पितु आयसु सब धरम क टीका

३. सुनि भूपाल भरत व्यवहारू। सोन सुगन्ध सुधा ससि सारू॥

(३) परंपरित रूपक

१. वन दिसि देव सौंपि सब काहू। चले जहां रावन ससि राहू॥
२. जनि जल्पसि जउ जंतु कपि सठ विलोकि मम बाहु।
लोक पाल बल विपुल ससि ग्रसन हेतु सब राहु॥
३. मम भुज सागर बल जल पूरा। जहं बूड़े बहु सुर नर सूरा॥
बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस वीर जो पाइहि पारा॥
४. जानसि मोर सुभाउ बरोरू। मन तव आनन चन्द चकोरू॥

उत्प्रेक्षा—

रूपक में कथितार्थ सिद्ध होता है पर उत्प्रेक्षा में साध्य, यही दोनों में मुख्य अन्तर है। उत्प्रेक्षा में प्रस्तुत-अप्रस्तुत की संभावना की जाती है। मानस से कुछ उदाहरण लीजिए।

सांझ समय सानन्द नृप गयउ कैकयी गेह।
गवन निठुरता निकट किय जनु धरि देह सनेह॥

कैकेयी कोप भवन में क्रोध से भरी बैठी है। दशरथ जी राम के अभिषेक का शुभ संवाद सानन्द भाव से उसे सुनाने जा रहे हैं। दोनों के एक दूसरे के प्रति कैसे भाव हैं, यह बताने की आवश्यकता नहीं। कवि ने इस पर कैकेयी में शरीरधारी कठोरता और दशरथ में शरीरधारी स्नेह की संभावना की है। गोचर उपमेय के ये आगोचर उपमान कितने सटीक हैं। कठोरता का कैकेयी के साथ और स्नेह का दशरथ के साथ वस्तु प्रतिवस्तु साम्य भी कितना उत्तम बन पड़ा है। कठोरता और कैकेयी एवं स्नेह और दशरथ में कितना सच्चा वस्तु प्रतिवस्तु है।

इसी कोप भवन प्रसंग की ही दूसरी उत्प्रेक्षा है—

जीभ कमान बचन सर नाना। मनहुं महिप मृदुलच्छ समाना॥
जनु कठोरपन धरे सरीरू। सिखइ धनुष विद्या बर बीरू॥

इसी प्रकार 'कनक तरुहिं जनु भेंट तमाला' और 'जनु कज्जल की आँधी चली' में कैसा बिम्ब प्रतिबिम्ब है।

खाली रथ लेकर अयोध्या की ओर लौटते समय घोड़ों की दशा का जो मार्मिक और सजीव चित्र उनमें 'वन मृग' की संभावना करके खींचा गया है वह कितना मौलिक है—

'वन मृग मनहुं आनि रथ जोरे'

अब हेतूत्प्रेक्षा के उदाहरण लीजिए—

इन्हिं देखि विधि मनु अनुरागा। पटतर जोगु बनावइ लागा॥
कीन्ह बहुत श्रम एक न आए। तेहि इरषा बस आनि दुराए॥

पैदल पथिक वेश में राम सीता और लक्ष्मण को देखकर ग्रामवासियों की उक्ति है। इसमें उनके वनवास के हेतु की रमणीय कल्पना की गई है।

सन्देह—में प्रकृत में अप्रकृत का प्रतिभोत्थित संशय अभिव्यक्त रहता है। इतिवृत्तात्मक संशय नहीं।

सीता का अपहरण करके जाते समय मार्ग में रावण की गीधराज से भेंट होती है। गीधराज युद्धार्थ आवाहन करते हुए रावण की ओर बढ़े। इस पर रावण सोचता है—

की मैनाक कि खगपति होई। निर्भय चलेसि न जानेसि मोही।

प्रस्तुत उद्धरण में 'जो सन्देह है, वह कवि के प्रबन्ध कौशल के कारण वास्तविक भी है तथा आकार की दीर्घता और वेग की तीव्रता भी सूचित करता है।'

की तुम हरिदासन महं कोई। मोरे हृदय प्रीति अति होई।।
की तुम राम दीन हितकारी। आए मोहिं करन बड़ भागी।।

यह उक्ति कोरी इतिवृत्तात्मक है। इसमें अलंकारत्व नहीं है।

भ्रान्तिमान में भी उपमेय में उपमान का प्रतिभोत्थित भ्रम होना आवश्यक है। लंका के सौध शिखर पर रामण का अखाड़ा जमा हुआ है और नाच रंग का दौर चल रहा है। भगवान् राम सुवेल श्रृङ्ग के उक्त दृश्य देखकर उसे 'घन घमंड दामिनी विलासा' समझ रहे हैं—

देखु विभीषन दच्छिन आसा। घन घमंड दामिनी विलासा।।
मधुर मधुर गरजइ घनघोरा। होइ वृष्टि जनि उपल कठोरा।।

उन्मादजन्य भ्रान्ति, वास्तविक भ्रान्ति अथवा वेदान्तियों की रज्जु में सर्पवाली भ्रान्ति इस अलंकार के भीतर नहीं आ सकती।

तुल्योगिता[1]—'केवल प्राकृतों का अथवा केवल अप्राकृतों का गुण, क्रिया आदि रूपी एक धर्म में अन्वय तुल्योगिता कहलाती है।' इसमें उपमा व्यंग्य रहती है और उपमावाचक शब्दों का व्यवहार नहीं होता इसी से पंडितराज ने यह सिद्धान्त निकला है कि सादृश्य साधारण धर्म रूप नहीं अपितु अतिरिक्त पदार्थ है।

उदाहरण—

सबकर संसय अरु अज्ञानू। मंद महीपन कर अभिमानू।।
भृगुपति केरि गर्व गरु आई। सुर मुनिबरन केरि कदराई।।
सिय कर सोच जनक परितापा। रानिन कर दारुन दुख दाया।।
संभु चाप बड़ बोहित पाई। चढ़े जाइ सब संग बनाई।।

यहाँ 'सबकर संसय अरु अज्ञानू' आदि प्रस्तुतों का एक ही क्रिया रूप समान धर्म 'चढ़े' के साथ अन्वय हुआ है।

इसी प्रकार 'तुल्योगिता' का श्लेषमूलक उदाहरण भी लीजिए।

ढोल गंवार सूद्र पसु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।।

---

१. हिन्दी रसगंगाधर पृ० ४१०।

यहाँ ढोल गंवार आदि का 'ताड़न' रूप समान धर्म के साथ अन्वय हुआ है। ताड़न श्लिष्ट शब्द है और ढोल आदि धर्मियों के साथ उसके भिन्न भिन्न अर्थ होंगे। वैसे ताड़न शब्द के भीतर साधारणतः डांटना उपमा से लेकर मारना पीटना तक के व्यापार सम्मिलित हैं।

रहीम का इसी ढंग का एक दोहा है—

ज्यों रहीम गति दीप की कुलकपूत गति सोइ।
बारे उजियारे करै बढ़े अंधेरो होइ॥

इसमें 'बारे' और 'बढ़े' श्लिष्ट शब्द हैं और दीप एवं कपूत रूप धर्मियों के शब्द रूप समान धर्म होकर आए हैं। उक्त 'ताड़न' शब्द भी ऐसा ही है। ढोल के साथ 'ताड़न' का अन्वय कितना चमत्कारक है भले ही वह शूद्र और नारी के साथ उद्वेगजनक प्रतीत हो। यद्यपि शूद्र और नारी के साथ 'ताड़न' का लक्षणा से 'नियंत्रण' अर्थ निकलेगा और ऐसा अर्थ करने में कदाचित् किसी को आपत्ति भी नहीं होगी।

रसिक जन चाहें तो नारी पक्ष में 'ताड़न' का रमणीय अर्थ-विधान कर सकते हैं। क्योंकि 'ताड़न' का अर्थ काम शास्त्र में प्रहरण' भी होता है और ऋग्वेद के पुरूरवाउर्वशी संवाद में वह 'संभोग' के अर्थ में भी आया है। शूद्र के साथ 'ताड़ने' का पीटना अर्थ लेना भी ठीक नहीं। जैसे कहते हैं 'गाय को मार दो' तो इसका तात्पर्य 'हांक देना' या 'हटा देना' ही होता है। कुछ पीटना या जान से मार डालना नहीं।

रूपकातिशयोक्ति—इस अलंकार के मूल में गौणी साध्यवसाना लक्षणा रहती है। 'उपमान द्वारा उपमेय के निगरण का अध्यवसान' ही इसका मुख्य लक्षण है। अर्थात् उपमेय का कथन न कर केवल उपमान का कथन होता है। रूपक से इसका भेद यह है कि रूपक में उपमान और उपमेय दोनों का कथन होता है—दोनों में आहार्य अभेद होता है पर रूपकातिशयोक्ति में केवल उपमान का कथन करके आहार्य अभेद का निश्चय कराया जाता है। उत्प्रेक्षा से रूपकातिशयोक्ति में यह अन्तर है कि उत्प्रेक्षा में अध्यवसान साध्य होता है, अतः वह संभावनात्मक होती है और अतिशयोक्ति में वह अध्यवसानसिद्ध हो चुका है अतः वह निश्चयात्मक होती है।[१] 'अतिशयोक्ति में अभेद अनुवाद्य ही होता है, विधेय नहीं।' हि० र० गं० एक बात ओर ध्यान देने की है कि रूपकातिशयोक्ति में केवल प्रसिद्ध उपमान ही लाए जाते हैं। हिन्दी के अधिकांश कवियों ने इस अलंकार को लेकर पहेली ही बुझाई है पर गोस्वामी जी ने प्रबन्ध धारा के बीच इस अलंकार की ऐसी योजना की है कि न तो कहीं जोड़ मालूम होती है और न दुर्बोधता ही लक्षित होती है। कवि सीताजी का नखशिख वर्णन करना चाहता है पर वह मर्यादावादी भक्त भी है। अतः अनौचित्य से डरता है—रस भंग की ओर से सतर्क है। अन्ततः सीताहरण के उपरान्त उसे नखशिख का अवसर

---

१. दे० हिन्दी रस गंगाधर पृ० ३९९।

हाथ लगता है। राम 'लता तरु पांतियों से सीता का पता पूछते जा रहे हैं। उसमें वे सीता के एक एक अंग के उपमान का स्मरण कर रहे हैं—

हे खग मृग हे मधकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनीं॥
खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रवीना॥
कुंद कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहि भामिनी॥
बरुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
श्री फल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥
सुनु जानकी तोहि बिन आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥

भक्तों के निकट तो राम इन सबसे जानकी का पता मात्र पूछ रहे हैं पर काव्य-रसिकों के निकट ये 'खंजन शुकादि' सीता जी के नेत्र नासिकादि के उपमान भी हैं। साथ ही 'नेकुन संक सकुच मन माही' से व्यतिरेक की ध्वनि भी निकलती है। ये वस्तुएँ जानकी जी के आगे निस्तेज पड़ी थीं पर आज उनके अभाव में इतराती फिरती हैं। तात्पर्य यह की जानकी जी के समक्ष ये उपमान तुच्छ हैं, नगण्य हैं। यहाँ स्मरण की भी ध्वनि है।

रूपकातिशयोक्ति का दूसरा उदारण लीजिए। रामचन्द्र जी सीताजी की मांग में सिन्दूर डाल रहे हैं—

अरुन पराग जलज भरि नीके। ससिहि भूष अहि लोभ अमी के॥

यहाँ अरुनपराग सिंदूर का, जलज हथेली एवं अहि भुजा का तथा ससि जानकी के मुख का उपमान होकर आया है। सादृश्य और साधर्म्य का कैसा युगवत् निर्वाह हुआ है, अप्रस्तुत प्रस्तुत के कैसे बिम्ब प्रतिबिम्ब और वस्तु प्रतिवस्तु होकर आए हैं।

'ससिहि भूष अहि लोभ अमी के' द्वारा फलोत्प्रेक्षा की योजना भी रमणीय बन पड़ी है।

स्मरण—सादृश्य के बोध द्वारा उद्बुद्ध संस्कार के फलस्वरूप (प्रयोज्य) स्मरण को स्मरणालंकार कहते हैं।[1]

'स्मृति' संचारी के साथ कहीं कहीं इस अलंकार का भेद करना बड़ा कठिन हो जाता है। आचार्यों ने दोनों के कुछ ऐसे भेदक लक्षण बताए हैं जिनको ध्यान में रखने पर भ्रम नहीं हो सकता।

(१) भाव व्यंग्य होता है पर अलंकार वाच्य कहा गया है। अलंकार का कार्य रूप गुण क्रिया का उपस्कार करना है।

(२) भाव विभावादि द्वारा अभिव्यक्त होता है पर अपने वाचक शब्द से प्रतिपादित होने पर 'स्मृति' भाव रूप नहीं होती।

---

१. दे० हिन्दी रस गंगाधर पृ० १७६।

(३) स्मरणालंकार में सादृश्य का व्यंग्य होना उचित है, वाच्य नहीं।

(४) इसमें साधारण धर्म का साक्षात् ग्रहण अनुचित है।

(५) सुप्रसिद्ध धर्मों का शब्दतः कथन नहीं होता, अप्रसिद्ध का आवश्यक है। अर्थात् कुछ साधारण धर्म साक्षात् वाच्य होते हैं, कुछ नहीं होते और कुछ हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते।

(६) उपमा की तरह बिम्ब प्रतिबिम्ब, वस्तु प्रतिवस्तु, अनुगामी और उपचरित करके इस स्मरणालंकार के भी भेद किए जा सकते हैं।

'स्मरण' के सम्बन्ध में यह समझ लेना चाहिए कि

१—सादृश्यमूलक होने पर निदर्शना आदि की तरह अलंकार होता है।

२—सादृश्यमूलक के अभाव एवं भाव की सत्ता होने पर 'भाव' होता है।

३—सादृश्य और भाव दोनों के अभाव में केवल वस्तुरूप होता है। इस कसौटी पर हमें 'मानस' के सम्बन्धित विषय पर विचार करना है।

बीच वास करि जमुनहिं आए। निरखि नीर लोचन जल छाए।

इसमें यमुना के जल और राम के शरीर के सादृश्य की दृष्टि से तो 'स्मरण' ठहरता है पर 'लोचन जल छाए' रूप सात्विक से 'स्मृति' संचारी का निश्चय होता है। आचार्य शुक्ल के अनुसार वस्तुतः यहां दोनों हैं। पर भाव का उद्रेक अत्यन्त स्वाभाविक होने के कारण प्रधान वही है। एक बात और।

'स्मरण' का भाव सदृश्य वस्तु के अतिरिक्त सम्बन्धी वस्तु से भी होता है—

कनक बिन्दु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे॥

अभी हम पीछे कह आए हैं कि व्यापार समष्टि या पूर्ण प्रसंग के साम्य के लिए दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास और अन्योक्ति को कवि लाते हैं। पर 'मानस में शुद्ध अन्योक्ति का उदाहरण कदाचित् ही मिले। कारण यह अलंकार व्यक्तिवादी सगुणोपासक कवि के अनुकूल नहीं है। रूपक उसकी भावना के अधिक अनुकूल है। अतः उसने उसका आशय और अलंकारों से खासकर रहस्य और गुह्य का आभास देने वाले अलंकारों से—अपेक्षाकृत अधिक लिया है।[1] अन्योक्ति को अप्पयदीक्षित ने अपने 'कुवलयानन्द' में स्वतन्त्र अलंकार माना है पर कुछ आचार्य इसे अप्रस्तुत प्रशंसा में, कुछ निदर्शना में और कुछ समासोक्ति में अन्तर्भुक्त करते हैं। मानस का एक दोहा आपाततः अन्योक्ति-सा लगता है—

सुनिय सुधा देखिय गरल सब करतूति कराल।
जहं तहं काक उलूक बक मानस सकृत मराल॥

---

१. दे० रस मीमांसा, पृ० २८७।

पर पंडित विजयानन्द जी ने इसमें अपनी 'विजया टीका' में 'ललित' अलंकार की स्थिति मानी है।

'ललित' को स्वतन्त्र अलंकार मानने वाले आचार्य अन्योक्ति आदि से उसका पार्थक्य यों सूचित करते हैं—

(१) अप्रस्तुत प्रशंसा में वाच्यार्थ अप्रस्तुत होता है और ललित में वाच्यार्थ प्रस्तुत होता है-अर्थात् प्रकरणगत श्रोता के संमुख कहा जाता है।

(२) समासोक्ति में प्रस्तुत वृतान्त में अप्रस्तुत वृतान्त की प्रतीति कराई जाती है। ललित में प्रस्तुत का प्रतिबिम्ब कहा जाता है।

(३) 'निदर्शना' में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का कथन किया जा कर उन दोनों में एकता का आरोप किया जाता है। ललित में केवल प्रस्तुत का प्रतिबिम्ब कहा जाता है।

(४) 'रूपकातिशयोक्ति' में पदार्थ का अध्यवसान होता है अर्थात् अभेद ज्ञान का निश्चय होता है—उपमान द्वारा उपमेय का निगरण होता है। ललित में प्रस्तुत वाक्य का अप्रस्तुत रूप में प्रतिबिम्ब कहा जाता है। आचार्यों ने यह स्वीकार किया है कि ललित का पर्यायोक्ति और निदर्शना से भेद करना बड़ा कठिन है।

दृष्टांत— बड़े सनेह लघुन पर करहीं। गिरि निज सिरनि सदा तृन धरहीं॥
जलधि अगाध मौलिबह फेनू। संतत धरनि धरत सिर रेनू॥
भरतहिं होहिं न राजमद बिधि हरिहर पद पाइ।
कबहुं कि कांजी सीकरनि छीर सिंधु बिन साइ॥

अर्थान्तरन्यास— (१) रहा प्रथम अबते दिन बीते। समय फिरें रिपु होहिं पिरीते॥
भानु कमल कुल पोषनि हारा। बिनु जलजारि करइ होइ छारा॥
(२) कारन तें कारज कठिन होइ दोस नहिं मोर।
कुलिस अस्थि तें उपल तें लोह कराल कठोर॥

ललित— (१) एक बिधातहिं दूषन देहीं। सुधा दिखाइ दीन विषु जेहीं॥
(२) राखिन सकइ न कहि सक जाहू। दुहूं भांति उर दारुन दाहू॥
लिखित सुधा कर गा लिखिराहू। विधि गति बाम विदित सब काहू॥

अब गोस्वामी जी की कतिपय ऊहात्मक उक्तियों की बानगी लीजिए। आधिक्य या न्यूनता सूचित करने के लिए कवि जन इस शैली का व्यवहार करते हैं। यथा—

कहेउ राम वियोग तब सीता। मो कहुं सकल भए विपरीता॥
नव तरु किसलय मनहु कृसानू। काल निसा सम निसि ससि भानू॥
कुवलय विपिन कुंतवन सरिसा। वारिद तपत तेल जनु बरिसा॥
जे हित रहे करत तेइ पीरा। उरग स्वास सम त्रिविधि समीरा॥

अतिशयोक्ति के माध्यम से निम्नीय क़वि प्रौढ़ोक्ति की कल्पना देखिए—

जौं छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई॥
सोभा रजु मंदर सिंगारू। मथे पानि पंकज निज मारू॥
एहि विधि उपजइ लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सगोत्र समेत कवि कहहिं सीय समतूल॥

'शशि की मेचकता' पर हेतूत्प्रेक्षा की उड़ान देखिए—

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। ससि महुं प्रगट भूमि कै झांई॥
मारेउ राहु ससिहि कह कोई। उर महं परी स्यामता सोई॥
कोउ कह जब विधि रति मुख कीन्हा। सार भाग ससिकर हरि लीन्हा॥
छिद्र सों प्रगट इंदु उर माहीं। तेहि भग देखिअ नभ परछाही॥
प्रभु कह गरल बंधु ससि केरा। अतिप्रिय निज उर दीन्ह बसेरा॥
विष संजुत कर निकर पसारी। जारत विरहवंत नर नारी॥
कह हनुमंत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार निज दास।
तव मूरति बिधि उर बसति सोइ स्यामता भास॥

समुद्र के खारा होने का रहस्य न मालूम हो तो निम्नीय कवि निबद्ध पात्र प्रौढ़ोक्ति से जान लीजिए।

प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी॥
तव रिपु नारि रुदन जल धारा। भरेउ बहोरि भयेउ तेहि खारा॥
सुनिअ ति उकुत पवन सुत केरी। हरषे कपि रघुपति तन हेरी॥

अभी रिपु (रावण) से युद्ध भी नहीं हुआ कि उसके वियोग में उसकी स्त्रियों ने रामप्रताप रूपी बड़वानल से सूखे हुए समुद्र को अपने आंसुओं से भर दिया। आंसुओं से भरे होने के कारण ही समुद्र खारा हो गया। यहाँ अतिशयोक्ति का अंग होकर हेतूत्प्रेक्षा आई है।

तुलसी ने कहा है कि 'तहं कि तिमिर जहं भानु प्रकासू' अथवा तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई' अर्थात् सूर्य के पास रात नहीं फटक सकती। पर कवि की पहुँच के बाहर तो वह स्थल भी नहीं है जहाँ सूर्य की भी गति नहीं होती। तुलसी की प्रतिभा ने रात दिन दोनों को एकत्र कर दिखाया है—

अवधपुरी सोहै एहिं भांती। प्रभुहि मिलन आई जनु राती॥
देखि भानु जनु जन सकुचानी। तदपि बनी संध्या अनुमानी॥
अगर धूप जनु बहु अंधियारी। उड़इ अबीर मनहुं अरुनारी॥
मंदिर मनि समूह जनु तारा। नृप गृह कलस सो इन्दु उदारा॥
भवन वेद धुनि अति मृदु बानी। जनु खग मुखर समय जनु सानी॥

अगरु धूप का धुआँ और अबीर गुलाल इतना उड़ा कि जान पड़ा रात्रि हो गई है। कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि मानो रात अभिसार करने आई हो पर कुलगुरु सूर्य को मौजूद देख कर लज्जा से लाल हो गई हो और वही सन्ध्या है। धूप और अबीर पर काले और लाल रंगों का आरोप किया गया है।

श्लेष— साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुन मय फल जासू॥
बहुरि सक्र सम बिनवौं तेही। संतत सुरानीक हित जेही॥
रावन सिर सरोज बनचारी। चलि रघुबीर सिलीमुख धारी॥

अतद्गुण—खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू। मिटइन मलिन सुभाव क भंगू॥

तद्गुण— धूमौ तजै सहज करुआई। अगर प्रसंग सुगंध बसाई॥

परिसंख्या— बंदौ मुनि पद कंजु रामायन जेहिं निरमयेउ।
सरवर सुकोमल मंजु दोष रहित दूषन सहित॥
दंड जतिन कर भेद जहं नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहिं सुनिअ अस रामचन्द्र के राज॥

यथासंख्य—अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरन्द सुवासा॥

मुद्रा—जे गावहिं यह चरित संभारे। तेइ एहि ताल चतुर रखवारे॥

रीति

साधारणतः रीति, वृत्ति और गुण की कल्पना का मूल एक ही है इसके उद्भावन एवं विकासक्रम पर विस्तृत रूप से विचार हो चुका है। रीति के मुख्यतः चार भेद हैं—

(१) वैदर्भी (२) गौडी (३) पांचाली (४) लाटी

समास के न्यूनाधिक्य से ये भेद किए गए हैं। अतः रुद्रट के अनुसार इन्हें (१) असमास (२) अतिसमास (३) लघुसमास और (४) मध्यसमास भी कह सकते हैं। मानस से इनके उदाहरण लीजिए :—

वैदर्भी— कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥
मानहु मदन दुन्दुभी दीन्ही। मनसा बिस्वविजय कहं कीन्ही॥

गौडी— जंबुक निकर कटक्कट कट्टहिं। खाहिं हुआहिं अघाहिं दपट्टहिं॥
कोटिन्ह रुंडमुंड बिनु डोल्लहिं। सीस परे महि जय जय बोल्लहिं॥
बोल्लहिं जो जय जय मुंड रुंड प्रचंड सिर बिनु धावहीं॥
खप्परिन्ह खग्ग अलुज्झिजुज्झहिं सुभट भटन्ह ढहावहिं॥

अथवा

मामभिरक्षय रघुकुल नायक। धृतवर चाप रुचिर कर सायक॥
मोहमहा घन पटल प्रभंजन। संसय बिपिन अनल सुर रंजन॥
अगुन सगुन गुन मन्दिर सुन्दर। भ्रम तम प्रबल प्रताप दिवाकर॥

कामक्रोध मद गज पंचानन। बसहु निरंतर जन मन कानन॥

पांचाली— श्री रामचन्द्र कृपालु भजु मन हरण भव भय दारुनम्।

लाटी— अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू॥
सुकृत संभु तन विमल विभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किए तिलक गुनगन बस करनी॥
श्री गुरु पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्यदृष्टि हिय होती॥
पावन गंग तरंग माल से

ध्वनि[1]

गोस्वामी जी ने अपने मानस के रूपक में ध्वनि पर मीन का आरोप किया है—

धुनि अवरेव कवित गुन जाती। मीन मनोहरतें बहु भांती॥

जैसे मीन जल के भीतर छिपा रहता है वैसे ही काव्य के अन्तस्तल में ध्वनि अन्तर्हित रहती है। ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—

(१) लक्षणामूला। अविवक्षितवाच्य ध्वनि।

(२) अभिधामूला। विवक्षित अन्य परवाच्य ध्वनि।

प्रथम भेद के दो अवान्तर भेद–(१) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य और (२) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य–होते हैं। द्वितीय के भी मुख्यतया दो अवान्तर भेद हैं—(१) असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य (२) संलक्ष्य क्रम व्यंग्य।

असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य के भीतर रस, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशबलता आदि आते हैं जिन पर पीछे विचार हो चुका है। संलक्ष्य क्रम व्यंग्य के ४१ भेद बताये गए हैं जिनमें (१) शब्द शक्ति उद्भव अनुरणन, अर्थशक्ति उद्भव अनुरणन, शब्दार्थ उभय श० अ० ये प्रधान हैं। शब्द० श० उ० अ० और अर्थशक्ति उ० अ० के वस्तुव्यंग्य, अलंकार व्यंग्य एवं स्वत, संभवी, कविप्रौढ़ोक्ति तथा कवि निर्बद्धपात्र प्रौढ़ोक्ति भेद होते हैं।

यहाँ मानस से ध्वनि के इन प्रमुख भेदों के उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं।

---

१. ध्वनि शब्द का व्यवहार चार पृथक् पृथक् अर्थों में होता है—

(१) जहां व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ से अतिशयता हो अर्थात् उत्तम काव्य।

(२) जिसके द्वारा व्यंग्यार्थ व्यंजित हो अर्थात् प्रधान व्यंग्य।

(३) रसादि की व्यंजना।

(४) व्यंजित रसादि।

यहां यह शब्द पहले अर्थ में—उत्तम काव्य के अर्थ में—गृहीत हुआ है व्यंग्य अर्थ गौण होने पर गुणीभूत व्यंग्य होता है।

—रस मीमांसा पृ० ३१८।

अर्थान्तर संक्रमित वाच्य[1]

जौं मैं राम त कुल सहित कहिय दसानन जाय

यहाँ मरणोन्मुखजटायु से भगवान राम अपने स्वर्गस्थ पिता से सीता हरण की चर्चा न करने की प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि यदि मैं राम हूँ तो दशानन स्वयं जाकर पिता से यह बात कहेगा। यहाँ 'राम' का वाच्यार्थ ग्रहण करते नहीं बनता। क्योंकि उसका 'बाध' हो गया है। अतः उपादान लक्षणा के अनुसार 'राम' का अर्थान्तर में संक्रमण हो जायगा। जिसका अर्थ हुआ 'यदि मैं उन सत्यसन्ध महाराज दशरथ का पुत्र हूँ जिन्होंने सत्य धर्म की रक्षा के लिए मेरे जैसे प्राणाधिक प्रिय पुत्र तक का भी परित्याग कर दिया।' 'मैं रावण को अवश्य मारूंगा,' राम की यह प्रतिज्ञा ध्वनित हो रही है।

अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि का दूसरा उदाहरण लीजिए

हंस बंस दसरथु जनकु राम लखन से भाइ।
जननी तूं जननी भई विधि सन कछु न बसाइ।।

पहले उदाहरण में वाच्यार्थ से वक्ता के कथन का तात्पर्य नहीं खुलता था अतः मुख्यार्थ का बाध होने पर लक्ष्यार्थ का आश्रय लिया गया—वाच्यार्थ का अर्थान्तर में संक्रमण हुआ। यहाँ वाच्यार्थ का बाध पुनरुक्ति के कारण हो रहा है। दुबारा प्रयुक्त जननी अनुपयोगी है। अतः दूसरे 'जननी' शब्द का—'तू मेरी जननी होने योग्य नहीं'—अर्थान्तर में संक्रमण हो गया। अपने अर्थ की सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ का आक्षेप किया गया है।

अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि—इस ध्वनि के मूल में प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा रहती है। इसमें वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार कर दिया जाता है।[2]

---

१. अर्थान्तर संक्रमित वाच्य में सामान्य-विशेष भाव या व्यापक-व्याप्य संबन्ध होना चाहिए। वाच्यार्थ को सामान्य या व्यापक होना चाहिए और लक्ष्यार्थ को विशेष या व्याप्य। दूसरे शब्दों में अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि अजहत्स्वार्था वृत्ति पर आश्रित होती है।
—रस मीमांसा पृ० ३१९।

२. केवल वैपरीत्य की सत्ता से अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि और अभिधा मूला ध्वनि में भ्रांति न होनी चाहिए। लक्षणा में वैपरीत्य स्वतः होता है और अभिधामूलक ध्वनि में वैपरीत्य की प्रतीति परिस्थिति का बोध हो जाने के अनन्तर होती है।
—रस मीमांसा पृ० ३१९।

नियम—जिस वाच्य में पदार्थों का सम्बन्ध अनुपपन्न होता है उसी में लक्षणा होती है। जहां पदों के मुख्य अर्थ का अन्वय हो जाने के बाद अवसर या प्रसंग के विचार से बाध की प्रतीति होती है वहां लक्षणा नहीं हो सकती।—रस मीमांसा, पृ० ३१९।

उदाहरण—

कह कपि धर्मसीलता तोरी। हमहुं सुनी कृत परितिय चोरी॥
देखी नयन दूत रखवारी। बूड़ि न मरहु धर्म व्रतधारी॥
कान नाक बिनु भनिगि निहारी। छमा कीन्हि तुम्ह धर्म विचारी॥
धर्म सीलता तब जग जागी। पावा दरस हमहुं बड़ भागी॥

उक्त अवतरण में रावण के प्रति अंगद की उक्ति है।

इसमें रावण के पूर्वोक्त 'नीतिधर्म में जानत अहऊँ' रूप दंभपूर्ण उक्ति का व्यंग्य पूर्ण ढंग से पर्दाफाश किया गया है। इसमें मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ विपरीत सम्बन्ध है और धर्मशीलता का लक्ष्यार्थ अधर्मशीलता है। वाच्यार्थ के बिलकुल विपरीत लक्ष्यार्थ के हो जाने के कारण ही लक्षण लक्षणा को विपरीत लक्षणा भी कहते हैं।

अभिधामूला के असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य अर्थात् रसादि पर विचार हो चुका है। काव्य का सर्वप्रयोजन मौलिभूत 'भाव' ही है जिस पर गोस्वामी जी ने 'मकरन्द' का आरोप किया है—

'अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा'

रसिकजनों का यही भाव-मकरन्द सर्वस्व है—

'लुब्ध मधुपइव तजत न पासू'

अब रहा संलक्ष्य क्रम व्यंग्य। यहाँ इसी के भेदोपभेद पर विचार होगा। जैसे घंटा बजाने पर पहले टंकार का शब्द होता है और फिर मधुर झंकार की ध्वनि निकलती है वैसे ही पहले वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वहाँ इस ध्वनि की स्थिति मानी जाती है। टंकार की अपेक्षा झंकार में जैसे सहज माधुर्य होता है वैसे ही वाच्यार्थ की अपेक्षा इस व्यंग्यार्थ में भी। असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य में तो वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का शत पत्र भेदन न्याय से पौर्वापर्य क्रम संलक्ष्य नहीं होता पर प्रस्तुत व्यंग्यार्थ में होता है। यही कारण है जो इसे संलक्ष्य क्रम व्यंग्य कहते हैं।[१]

प्रस्तुत व्यंग्य के शब्द शक्ति उद्भव ध्वनि, अर्थशक्ति उद्भव और शब्दार्थ उभय० ये प्रमुख भेद हैं तथा इन भेदों के भी अनेक भेदोपभेद हैं। पहले शब्द शक्ति उद्भव ध्वनि के दो भेदों-वस्तु व्यंग्य और अलंकार व्यंग्य के उदाहरण लीजिए।

---

१. असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य-ध्वनि में जहां विभावादिकों से व्यक्त होने वाले स्थायी भावों के उद्रेकातिशय से आस्वाद उत्पन्न होता है, वहां 'रसध्वनि' होती है। जहां अपने अनुभावों से व्यक्त होने वाले व्यभिचारी आदि के उद्रेक से आस्वाद उत्पन्न होता है, वहां 'भाव ध्वनि' होती है। और संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि में, व्यंग्यीभूत व्यभिचारियों की अपेक्षा न करके केवल विभाव अनुभावों के उद्रेक से आस्वाद उत्पन्न होता है, अर्थात् रस, भाव आदि के बिना वस्तु या अलंकार की ध्वनि होती है।—रस मंजरी पृ० २५८।

वस्तु व्यंग्य—देव एक गुन धनुष हमारे। नवगुन परम पुनीत तुम्हारे ॥

प्रस्तुत अवतरण का वाच्यार्थ तो यह है कि हमारे पास एक ही गुण-धनुष है और आपके पास परम पुनीत नवगुण-'ऋजु स्तपस्वी सन्तुष्टः क्षमा शीलो जितेन्द्रियः। क्षान्तो दान्तो दयालुश्च ब्राह्मणो नवभिर्गुणैः—हैं। पर गुन शब्द की शक्ति से यह व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है कि क्षत्रिय के पास तो धनुष का एक ही गुण ठहरा अर्थात् धनुष की तरह वह सहज-टेँढ़ा और क्रूर होता है पर ब्राह्मणों में आर्जव (ऋजुता) आदि गुणों का होना अनिवार्य है। किन्तु आप में सब उलटा ही दिखाई पड़ रहा है। यहाँ यदि 'गुन' शब्द को बदल कर कोई दूसरा शब्द रखा जाय तो उपर्युक्त व्यंग्य की प्रतीति नहीं हो सकती है। शब्द के आश्रम से व्यंग्य की प्रतीति होने के कारण ही यहाँ शब्द शक्ति उद्भव है। व्यंग्यार्थ में कोई अलंकार नहीं है। इसीलिए वस्तु ध्वनि है और वाच्यार्थ के बोध के बाद क्रमशः व्यंग्यार्थ की ध्वनि निकलती है, अतः अनुरणन ध्वनि है।

अलंकार व्यंग्य— **दंड जतिनकर भेद जहं नर्तक नृत्य समाज।**
जीतिअ मनहिं सुनिअ अस रामचन्द्र के राज॥

यहाँ राम राज्य का लोकोत्तर उत्कर्ष व्यंग्य द्वारा प्रतीत होता है। यदि 'दंड', 'भेद' आदि शब्द बदल कर इनके पर्याय रख दिए जायँ तो इष्ट व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। अतः शब्द शक्ति उद्भव ध्वनि है। यहाँ व्यतिरेक व्यंग्य है।

अर्थशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि—

१. स्वतः संभवी वस्तु से वस्तु व्यंग्य—

कोटि मनोज लजावन हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥
सुनि सनेह मय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महं मुसुकानी॥

यहाँ सीता जी का मन में मुसकराना एवं संकुचित होना वाच्यार्थ है। इस चेष्टा से यह ध्वनित होता है कि रामचन्द्र जी सीताजी के पति हैं।[1] यह चेष्टा वैशिष्ट्य वाच्य संभवा का भी उदाहरण है।

२. स्वतः संभवी अलंकार के अलंकार व्यंग्य—

यह लघु जलधि तरंत कतिबारा। अस सुनि पुनि कह पवन कुमारा॥
प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोषेउ प्रथम पयोनिधि वारी॥
तव रिपु नारि रुदन जल धारा। भरेउ बहोरि भयउ तेहि खारा॥

यहाँ अतिशयोक्ति के द्वारा भगवान् का प्रताप वर्णन किया गया है। पर्यायोक्ति व्यंग्य है।

---

१. साहित्य कोश के आधार पर।

३. स्वतः संभवी वस्तु से अलंकार व्यंग्य

सुरपति बसइ बाहं बल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताके॥
सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई। देखहु काम प्रताप बड़ाई॥

देवराज इन्द्र भी जिन दशरथ जी के आश्रित हैं वे ही दशरथ जी महारानी कैकयी के कुपित होने का समाचार पाकर सूख गए। यह स्वतः संभवी वस्तु रूप वाच्यार्थ है। कवि कल्पित नहीं है। इस वाच्यार्थ के द्वारा दशरथ के प्रताप से कामदेव के प्रताप का उत्कर्ष सूचित होता है। प्रस्तुत व्यंग्यार्थ से व्यतिरेक अलंकार की ध्वनि निकलती है। अतः वस्तु से अलंकार ध्वनि है।

४. स्वतः संभवी अलंकार से वस्तु व्यंग्य

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै विधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी वक्ता बड़ जोगी॥

यहाँ वाच्यार्थ में विभावना अलंकार है जिसके द्वारा भगवान् कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं रूप वस्तु ध्वनित होती है।

अर्थ शक्ति उद्भव के दो भेद और रह गए—कवि प्रौढ़ोक्ति और कवि निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति। यतः पंडितराज कविनिबद्ध पात्र वाले भेद को नहीं स्वीकार करते,[1] अतः मैं यहाँ कवि प्रौढ़ोक्ति मात्र का उदाहरण दे रहा हूँ।

कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध

(१) कवि प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य।
(२) कवि प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंग्य।
(३) कवि प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलंकार से वस्तु व्यंग्य।
(४) कवि प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलंकार से अलंकार व्यंग्य।

(१) कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्यः—

चक्रवाक् मन सुख निसि पेखी। जिमि दुर्जन पर संपति देखी॥
चातक रटत तृषा अति ओही। जिमि सुख लहइन संकर द्रोही॥
देखि इन्दु चकोर समुदाई। चितवहि जिमि हरि जन हरि पाई॥

---

१. पंडितराज जगन्नाथ इस भेद की सत्ता को नहीं स्वीकार करते—
'प्रतिभा निर्वर्तितत्वा विशेषाच्च कवितदुम्भित वक्तृ प्रौढोक्ति निष्पन्नयो रर्थयोर्न पृथक् भावेन गणनोचिता, उम्भितोम्भितादेरपि भेदान्तर प्रयोजकतायत्तेः'।—रस गंगाधर। सा० दे० की शशिकला टीका। पृ० २९७
'काव्यानुशासन' कार भी इसे व्यर्थ का प्रपंच बताते हैं—
'कवि प्रौढोक्तिरेव च कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिरिति किं प्रपंचेन'—'काव्यानुशासन' १-२४।

चक्रवाक का अपने जोड़े से अलग होने के कारण दुखी होना, चातक का केवल स्वाती का जल पीना, चकोर का चन्द्रमा की ओर निहारना आदि कवि प्रौढ़ोक्तियाँ हैं वस्तु सत्य नहीं। अतः यहाँ कवि प्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध वस्तु रूप वाच्यार्थ है। यह कामोद्दीपक काल है, यही वस्तु रूप व्यंग्य है।

(२) प्रौढ़ोक्ति सिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंग्य—

पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जगु कह सबु कोऊ॥
जिति सुरसरि कीरति सरितोरी। गवनु कीन्ह बिधि अंड कोरी॥
गंग अवनि थल तीनि बड़ेरे। एहिं किए साधु समाज घनेरे॥

किसी के यश से संसार का धवल होना, कवि सम्प्रदाय में ही प्रसिद्ध है। वस्तुतः नहीं। पर जानकी जी के यश से तीनों लोकों का धवल होना कहा गया है। गंगा की धारा तीन ही लोकों तक सीमित है पर जानकी की कीर्ति सरिता करोड़ों ब्रह्मांडों में पहुँची। इस वस्तु रूप वाच्यार्थ से, गंगा से सीता की कीर्ति सरिता का उत्कर्ष व्यंग्य से सूचित होता है अतः व्यतिरेक अलंकार की ध्वनि है।

(३) कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध अलंकार से वस्तु व्यंग्य

अंगद ने रावण के चार मुकुट राम के पास फेंक दिए थे। जब अंगद से भगवान उन मुकुटों के बारे में पूछते हैं तब वे उत्तर देते हैं—

सुनु सर्वग्य प्रनत सुखकारी। मुकुट न होहिं भूप गुन चारी॥
साम दाम अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह वेदा॥
नीति धर्म के चरन सुहाये। अस जिय जानि नाथ पहि आए॥
धर्म हीन प्रभु पद विमुख काल विवस दससीस॥
तेहि परि हरि गुन आए सुनहु कोसलाधीस॥

वे मुकुट नहीं थे अपितु राजाओं के चार गुण—साम, दान, दंड और भेद थे—जो दुष्ट पात्र को छोड़ कर आप सत्पात्र के पास आए थे। मुकुट नहीं थे-राजाओं के चार गुण थे यह कवि कल्पित है। रावण को छोड़कर आपके यहाँ आश्रयार्थ आए थे, इस कथन में हेतु अपह्नुति अलंकार वाच्यार्थ है। इसमें 'राज कि रहइ नीति बिनु जाने' रूप वस्तु व्यंग्य है।

(४) कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध अलंकार से अलंकार व्यंग्य—

नव विधु विमल तात जसु तोरा। रघुवर किंकर कुमुद चकोरा॥
उदित सदा अंथइहि किबहूना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥
कोक तिलोक प्रीति अति करिही। प्रभु प्रताप रवि छवि हिन ही रही॥
निसि दिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसिहि न कैकइ कर तब राहू॥
पूरन राम सुप्रेम पियूषा। गुर अवमान दोष नहि दूषा॥
राम भगत अब अमियं अघाहूं। कीन्हे सुलभ 'सुधा वसुधाहूं॥

भरत जी के यश को नव विधु विमल कहने में रूपक है। चन्द्रमा के क्षयादि दोष से उक्त नव विधु अछूता है, अतः व्यतिरेक वाच्य व्यंग्य है। यह वर्णन कवि कल्पित है, अतः कवि प्रौढ़ोक्ति मात्र है।

शब्दार्थ उदय शक्ति

> **तेहि के वचन मानि विस्वासा। तुम्ह चाहहु पति सहज उदासा॥**
> **निर्गुंन निलज कुवेष कपाली। अकुल अगेह दिगंबरु व्याली॥**

तपस्यारत पार्वती जी की परीक्षा हेतु गए सप्तर्षियों की उक्ति है। इसमें निन्दा प्राकरणिक है और स्तुति अप्राकरणिक। शिवजी के सम्बन्ध में प्रयुक्त नवों विशेषण श्लिष्ट हैं—दुहरे अर्थ वाले हैं। (१) उदासीन-समदर्शी या उपेक्षक (२) निर्गुण-गुणातीत या सद्गुण रहित (३) निलज-आत्मदर्शी या बेहया (४) कुवेष-वैराग्य से या दरिद्रता से (५) कपाली-ब्रह्मदेव का शिरश्छेत्ता महापराक्रमी या अघोरी (६) अकुल-स्वयंभू या निगोड़ा (७) अगेह-सर्वाश्रय या निराश्रय (८) दिगम्बर-चिदाकाश रूप या नंगा (९) व्याली-विश्वम्भर या संपेरा (दे० विजयाटीका बालकांड पृ० १६३)

गुणीभूत व्यंग्य—

> **एहिं ते मोर कहा अब नीका। तेहि पर देन कहहु तुम्ह टीका॥**
> **कैकइ जठर जनमि जगमाहीं। यह मोहिं कहं किछु अनुचित नाहीं॥**
> **मोरि बात सब बिधिहि बनाई। प्रजा पांच कत कराहु सहाई॥**

वक्रोक्ति

वक्रोक्ति एक अलंकार भी है। पर प्रस्तुत वक्रोक्ति उक्त अलंकार से भिन्न अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। जैसे प्रसिद्ध अतिशयोक्ति अलंकार से भिन्न एक अतिशयोक्ति समस्त अलंकारों में अनुस्यूत रहती है वैसे ही यह 'वक्रोक्ति' भी वक्रोक्ति अलंकार से भिन्न सभी अलंकारों के मूल में निहित रहती है।[1]

आचार्य कुन्तक ने इसी आधार पर एक स्वतंत्र साहित्यिक वाद की प्रतिष्ठा की है। इनके अनुसार वक्रोक्ति ही काव्य जीवन है। आचार्यों ने इस काव्यगत शैली के अनेक लक्षण किए हैं वामन ने सादृश्य मूलक लक्षणा को ही वक्रोक्ति की संज्ञा दी है-सादृश्याल्लषणा वक्रोक्तिः। अलंकार सर्वस्वकार वक्रोक्ति के भीतर सारा ध्वनि प्रपंच समेट लेते हैं—

'उपचार वक्रतादिभिः सर्वे ध्वनि प्रपंच स्वीकृत एव'।

पर इस वाद के प्रवर्तक कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति का नामान्तर 'वैदग्ध्य भंगी-

---

१. **'एतेन वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' इति वक्रोक्ति जीवितकारोक्तमपि परास्तम्। वक्रोक्तेरलंकार रूपत्वात्।—वाङमय विमर्श पृ० १७३।**

भणिति' है। अलंकार, लक्षणा, व्यंजना सभी के चमत्कार इसमें मिलेंगे।[1] कुन्तक जी ने स्वभावोक्ति को अलंकार माने जाने के विरुद्ध एक बड़ा चुभता एवं सटीक तर्क रखा है। वे कहते हैं 'स्वभावोक्ति' को अलंकार मान लेने पर फिर अलंकार्य क्या रहेगा। शरीर को ही अलंकार मान लेने पर फिर गहने पहनाए किसे जायंगे। कोई अपने ही कन्धे पर भला कैसे सवार हो सकता है।[2]

आचार्य शुक्ल जी के अनुसार कुन्तल जी की वक्रता बहुत व्यापक है जिसके अन्तर्गत वे वाक्य वैचित्र्य की वक्रता और वस्तु-वैचित्र्य की वक्रता दोनों लेते हैं।

वक्रोक्ति के भेद

कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति के निम्नीय ६ भेद हैं—

(१) वर्ण विन्यास वक्रता (२) पदपूर्वार्ध वक्रता (३) पदपरार्घ वक्रता (४) वाक्य वक्रता (५) प्रकरण वक्रता (६) प्रबंध वक्रता।

पद पूर्वार्धवक्रता के दस अवान्तर भेद बताए गए हैं—

(१) रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता (२) पर्याय वक्रता (३) उपचार वक्रता (४) विशेषण वक्रता (५) संविति वक्रता (६) प्रत्यय वक्रता (७) वृत्ति वक्रता (८) भाव वैचित्र्य वक्रता (९) लिंग वैचित्र्य वक्रता (१०) क्रिया वक्रता।

आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार 'आधुनिक हिन्दी कविता में लाक्षणिक शब्दों का जो अत्यधिक व्यवहार है, प्रतीकात्मकता है, नराकृति कल्पना है उन सबका अन्तर्भाव 'उपचार वक्रता' में हो जा सकता है।'

उदाहरण के लिए—

(१) प्रतीक विधान—

जानउं सदा भरत कुल दीपा। बार बार मोहि कहेउ महीपा॥

(२) लाक्षणिक मूर्तिविधन—

सुनि अघ नरकहु नाक सकोरी

(३) अध्यवसान—

सीलु सनेहु सकल दुहुं ओरा। द्रवहिं देखि सुनि कुलिस कठोरा॥

---

१. यद्यपि आचार्यों ने इसे चारुत्व प्रवाह के भीतर लिया है पर अनुभूति में बिना इसमें मार्मिकता एवं तीव्रता नहीं आ सकती।

२. अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिलंकृतिः
अलंकार्यतयातेषां किमन्यदवतिष्ठते
शरीरं भेदलंकारं विमलं कुरुते परम्।
आत्मैवनात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति॥ वाङ्मय विमर्श १७४ पृ०।

किसी का दुःख देखकर पसीजना चेतन का धर्म है अचेतन कठोर कुलिस का नहीं। यहाँ 'कुलिस कठोर' से तात्पर्य है कठोर हृदय मनुष्य।

(४) मूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत—

जनु कठोर पन धरे सरीरू। सिखइ धनुष विद्या वर वीरू॥
डगै न संभु सरासन कैसे। कामी वचन सती मन जैसे॥
गमन निठुरता निकट किय जनु धरि देह सनेह
प्रेम पंक जनु गिरा समानी

(५) अगोचर प्रस्तुत का गोचर अप्रस्तुत—

रैहे राखि सेवा पर भारू। चढ़े चंग जनु खेंच खेलारू॥
पीपर पात सरिस मन डोला
भरत दशा तेहि अवसर कैसी। जल प्रवाह जल अलि गति जैसी॥

(६) अध्यवसित रूपक—

खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रवीना।

गोस्वामी जी ने दो तीन स्थलों पर वक्रोक्ति की व्याख्या की है। यथा—

गति क्रूर कविता सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की।
वक्र उक्ति धनु बचन सर हृदय दहेउ रिपु कीस।
प्रति उत्तर सड़सिन्ह मनहु काढ़त भट दस सीस॥
'जारउ जाय जननि कहि काकू'

है-कविता की गति टेढ़ी होती है। वक्र उक्ति ही धनुष है। जिस पर वचनशर (अभिधा)[1] का संधान करके सहृदय हृदय का वेध किया जाता है।

भाव प्रेरित वक्रता में काकु का भी स्वयमेव प्रवेश हो जाता है। वक्रोक्ति जहाँ एक ओर हृदय को तिलमिला देती है—अन्तस्तल को मर्माहत कर देती है, वहीं दूसरी ओर प्रत्युत्तर की संड़सी से हृदय में चुभे शब्दशरों को निकालती भी है। दहकती हुई कोपाग्नि को शान्त भी करती है—

लखन उतर आहुति सरिस भृगुवर कोपु कृसानु।
बढ़त देखि जल सम बचन बोले रघुकुल भानु॥

वक्रोक्ति हमेशा तीखे तीर ही नहीं छोड़ती, स्नेह सुर तरु के फूल बरसाती है—

जनु सनेह सुरतरु के फूला

कामदेव की भांति पुष्पधन्वा है वह। और कभी कभी तो इसकी इतनी अद्भुत वाणी होती है कि पकड़ में नहीं आती—

---

१. 'सोऽयमिषोरिव दीर्घतरोऽभिधा व्यापारः'।
(वाण की तरह अभिधा व्यापार सीधा होता है)।

ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी। गहिन जाइ अस अद्भुत बानी।।

औचित्य[१]

काव्य की आत्मा रस है और रस का जीवन प्राण औचित्य है।[२] महिम भट्ट के अनुसार यह काव्य निरूपण सामर्थ्यसिद्ध है।[३] प्रसिद्ध औचित्य का वर्णन करना ही रस की सबसे बड़ी उपनिषद् है।[४] जैसे सुन्दर से सुन्दर शरीर को श्वेत कुष्ठ का एक धब्बा दुर्भग बना देता है, वैसे ही सुन्दर रसात्मक काव्य के आस्वाद में, अनौचित्य उद्वेग पैदा कर देता है।[५] यही उद्वेग ही दोष है—उद्वेग जनको दोषः। दूसरे शब्दों में रसादि की प्रतीति में व्यवधान उपस्थित होना ही दोष है। जिस प्रकार शर्बत आदि किसी तरल वस्तु में कंकड़ गिर जाने से वह खटकने लगता है उसी प्रकार रस के अनुभव में खटकने को रस का भंग कहते हैं।[६] अनौचित्य दोष का सामान्य लक्षण ही है।[७] चारुत्व प्रवाह में जो स्थान वक्रोक्ति का है वही स्थान अनुभूति प्रवाह में औचित्य का है। औचित्य का निर्द्धारण लोक व्यवहार से होता है।[८] पर पंडितराज लोक के साथ साथ शास्त्र को भी युगपत् स्वीकार करते हैं—'योग्यताचयुक्तभिदं लौकिक व्यवहारं गोचरता'। अनुचित होने का अर्थ है जिन जिन जाति, देश, काल, वर्ण आश्रम, अवस्था, स्थिति, व्यवहार आदि सांसारिक पदार्थों के विषय में जो जो लोक और शास्त्र से सिद्ध एवं उचित द्रव्य, गुण अथवा क्रिया आदि है उनसे भिन्न होना।

क्षेमेन्द्र ने काव्य के निम्नीय २७ अंग बताते हुए औचित्य को उनका प्राण सिद्ध किया है:—

---

१. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत्। उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।
—औचित्य विचार चर्चा श्लोक ७।
जो पदार्थ जिसके सदृश। (अनुरूप) होता है उसे प्राचीन आचार्यों ने उचित कहा है। उचित के भाव को औचित्य कहते हैं।

२. औचित्यस्य चमत्कार कारिणश्चारु चर्वणे। रसजीवित भूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।
—औचित्य विचार चर्चा श्लोक ३।

३. देखिए वाङ्मय विमर्श पृ० १८७।

४. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणं।
प्रसिद्धौचित्य बन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा।। ध्वन्यालोक

५. स्याद्वपुः सुन्दरमपिश्वित्रेणैकेनदुर्भगम्।

६. दे० रस गंगाधर पृ० १२३।

७. एतस्य विवक्षित रसादि प्रतीति विघ्न विधायित्वं नाम सामान्य लक्षणम्।

८. लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोक स्वभावजम्।
तस्मान्नाट्य प्रयोगेतु प्रमाणं लोक इष्यते।।—नाट्यशास्त्र

(१) पद (२) वाक्य (३) प्रबंध (४) गुण (५) अलंकार (६) रस (७) क्रिया (८) कारक (९) लिंग (१०) वचन (११) विशेषण (१२) उपसर्ग (१३) निपात (१४) काल (१५) देश (१६) कुल (१७) व्रत (१८) तत्व (१९) सत्व (२०) अभिप्राय (२१) स्वभाव (२२) सारसंग्रह (२३) प्रतिभा (२४) अवस्था (२५) विचार (२६) नाम (२७) आशीष।

गोस्वामी का भी औचित्य सम्बन्धी दृष्टिकोण प्राचीनों के समान ही है—मुनि उद्वेग न पावै कोई।

वे कहते हैं—

विधु बदनी सब भांति संवारी। सोह न वसन बिना वर नारी॥

अर्थात् 'लावण्यामृत चन्द्रिका' भी अनावरण स्थिति में अशोभन हो जाती है। गोस्वामी जी के कुछ औचित्य प्रयोग देखें।

पदौचित्य—

राम सखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥

यहाँ 'लुठन' 'सनेह' और 'समेटा' शब्द दोहरे अर्थों के वाचक बन कर कितने व्यंजक हो रहे हैं। स्थिति यह है कि वसिष्ठ जी निषाद को बरबस भेंट रहे हैं। 'बरबस' से यह ध्वनित हो रहा है कि वह स्वयं भेंटने में हिचक रहा है—हटता जा रहा है। कारण स्पष्ट है—

यहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ वसिष्ठ सम को जग माहीं॥

यही नहीं बल्कि निषाद के बारे में इतना और जान लें—

'जासु छांह छुइ लेहउलीचा' इतना है वह अस्पृश्य। इस स्थिति पर गोस्वामी जी उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो भूमि पर लुठते। तैल पक्ष में लड़ाये, प्रेम पक्ष में लौटते हुए सनेह (प्रेम : तेल) को वशिष्ठ जी समेट (प्रेम पक्ष में खींचना एवं तेल पक्ष में इकट्ठा करना) रहे हैं। रसात्मक काव्यों में श्लेष यमकादि वर्जित हैं पर कवि कौशल को धन्य है जिसने दूषण को भी भूषणभूत बना दिया।

अलंकारौचित्य—

चले जहां रावन ससि राहू॥

यहाँ रावण को शशि और राम को राहु से उपमित किया है। आपाततः तो यह उपमा अनुचित प्रतीत होती है पर विचार करने पर कवि की लेखनी चूम लेने का जी करता है। रावण सीता हरण का कुविचार लेकर आया है और चन्द्रमा भी गुरुपत्नीगामिता

के कलंक से दुष्ट है। आगे चल कर राम रूप राहु का चन्द्रमा रूप रावण पर ग्रहण लगने-वाला है। इस प्रकार के साधर्म्य को लक्ष्य करके कवि ने रावण को चन्द्रमा स्थानीय और राम को राहु स्थानीय कहा है—रावण पर चन्द्रमा और राम पर राहु का आरोप किया है।

(२) दूसरी उपमा है 'जिन्हहि विस्व कर-बदर समाना' वसिष्ठ जी के लिए कहा गया है कि उन्हें विश्व हाथ पर रखे हुए बेर के समान ज्ञात है। यहाँ आँवले के समान न कह-कर बेर के समान कहने में कवि का गूढ़ उद्देश्य निहित है। बात यह है कि आँवला आयु-र्वेद में पथ्य माना गया है और बेर कुपथ्य। यतः वसिष्ठ जी ब्रह्मवादी हैं अतः उन्हें संसार वेरवत् लखाई पड़ना उचित ही है।

प्रबंधोचित्य

तुलसीदास के अनुसार साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही राम रूप में अवतरित हुए हैं, और इसी रूप में उनको जान कर कभी 'सुत विषयक रति' बन नहीं सकती है। अतः मनु वरदान मांगते हैं कि 'आपके प्रति मुझे सुतविषयक रति हो चाहे इसके लिए कोई मुझे बड़ा मूढ़ ही क्यों न कहे। वे कहते हैं कि जैसे सर्प का जीवन मणि के अधीन और मीन का जीवन जल के अधीन है वैसे ही मेरा जीवन तुम्हारे अधीन हो। भले ही मुझे इसके लिए लोग बड़ा मूढ़ क्यों न कहें। गोस्वामी जी के प्रबन्ध कौशल की बलिहारी है जो दशरथ का वात्सल्य इतना स्वाभाविक और मार्मिक ढंग से चित्रित हो सका है।

गोस्वामी जी श्रृंगार की व्यंजना में भी काफी संयत दीखते हैं। न तो वे जगत के मातापिता शिवपार्वती के श्रृंगार का वर्णन करते हैं और न सीता के नखशिख का ही प्रत्यक्ष वर्णन करते हैं। पर वन में सीताहरण के उपरान्त नखशिख की योजना बड़े ही मर्यादित ढंग से, राम के मुँह से करा देते हैं। जहाँ काव्यरसिक रूपकातिशयोक्ति के चमत्कार और व्यतिरेक की ध्वनि से चमत्कृत रह जाते हैं और भक्तजन भगवान् की माधुर्य लीला समझ कर तल्लीनता अनुभव करते हैं।

वाल्मीकीय रामायण में तो महर्षि को सीता के सतीत्व की सफाई देनी पड़ी है पर गोस्वामी जी ने इस प्रसंग की योजना न करके भी बड़े सशक्त ढंग से सीताजी के सतीत्व की निर्मलता प्रदर्शित की है। शंकर के धनुष की अडिगता की उपमा 'सतीमन' से दी गई है। इस धनुष को डिगाया ही नहीं अपितु तोड़ा भी राम ने। फलतः 'त्रिभुवन जय समेत वैदेही' राम की हो गई। लंका में रावण के भय प्रदर्शित करने पर सीता दृढ़तापूर्वक कहती हैं—'सौ भुज कंठ कि तव असि घोरा' अपने पति के प्रति यह लोकोत्तर प्रेम देखकर रावण मन ही मन सीता को प्रणाम करता है—'मन महं चरन बंदि सुख माना'

'मानस' की कविता-सरिता वाले प्रकरण में भी कवि सीता के सतीत्व को उक्त सरिता के अमल अनूप जल का गुण कहता है। कवितावली में तो उसने यहाँ तक कहा—

'तीय सिरोमनि सीय तजी जेहि पावक की कलुषाई दही है'।

काव्य और इतिहास में स्पष्टतः दृष्टिभेद है। इतिहास सत्य घटना को इतिवृत्ता-

त्मक ढंग से रख देता है। रस संचार, वृत्ति परिष्कार और सद्यः परिनिर्वृति से उसका कोई सरोकार नहीं अनौचित्य अथवा रस भंग की ओर भी वह मुड़ कर देखने नहीं जाता और न साधारणीकरण की परवाह करता है। वह उस विचारित सुस्थ के अन्तर्गत आता है, चारुत्व प्रवाह एवं अनुभूति प्रवाह के साथ जिसका छत्तीस का सम्बन्ध है। दूसरी ओर काव्य अविचारित रमणीय है। हजार बार की देखीसुनी और समझी वस्तु भी इसमें आकर नई और आकर्षक लगने लगती है। जैसे वृक्ष वसन्तागम में नई कोपलों से लद कर नए हो जाते हैं।

जैसे तरुणी के शरीर के नेत्र नासिकादि के अतिरिक्त उसका लावण्य अपने में एक लोकोत्तर वैभव समेटे रहता है वैसे ही काव्य भी। हाँ तो मैं निवेदन कर रहा था कि काव्य इतिहास नहीं है। पर इतिहास से सर्वथा पृथक् काव्य रह भी नहीं सकता। क्योंकि उसे प्रख्यात चरित्र लेना आवश्यक है जो मिल सकता है एक मात्र इतिहास से ही। साथ ही यह भी शर्त है कि ऐतिहासिक वृक्ष में कवि मनमाना तोड़ मरोड़ कर भी नहीं सकता। हाँ, एक अवस्था ऐसी अवश्य है जिसमें इतिवृत्त में परिवर्तन करने का अधिकार कवि को दिया गया है। वीरोदात्तादि नायक के शीलस्वरूप में बट्टा लगाने वाली कोई घटना या प्रसंग हो तो कवि को चाहिए कि उसे हटा दे क्योंकि उसे रखने से रस भंग हो सकता है—अनौचित्य उपस्थित हो रसास्वाद में व्याघात पैदा कर सकता है। साथ ही नायक के शील स्वरूप में उत्कर्ष लाने के लिए वह रसानुमोदित प्रसंगों की कल्पना भी कर सकता है। पर यह ध्यान रहे कि यह सारा जोड़-तोड़ रसानुमोदित ही हो।

गोस्वामी जी ने मानस की कथावस्तु का संघटन कहाँ-कहाँ से सामग्री लेकर किया है, यह बताया जा चुका है और उनके रसानुसारी प्रसंगों की उद्भावना और रस विरोधी प्रसंगों की बहिष्कार प्रक्रिया पर भी प्रकाश डाला जा चुका है। कवि की इस स्वतंत्रता की थोड़ी और चर्चा अनुचित न होगी। वाल्मीकीय रामायण में राम विवासन के समय लक्ष्मण ने बड़ा उग्र रूप धारण किया है—पितृ-वध तक करने को तत्पर दीखते हैं। पर गोस्वामी जी अयोध्या की तत्कालीन परिस्थिति में, लक्ष्मण की उक्त उग्रता का प्रदर्शन उचित नहीं समझते। उसके प्रदर्शन के लिए उन्होंने कुछ स्थान चुने हैं। यथा जनकपुर में परशुराम संवाद में। पर वहाँ भी लक्ष्मण ने जो कुछ किया उसे 'अनुचित कहि सब लोग पुकारा'। और राम से भी उक्त कृत्य का औचित्य सिद्ध करते नही बना। 'बाल दोष गुन गनहिं न साधू' कहकर ही वे लक्ष्मण के अपराधों के लिए परशुराम से क्षमा-याचना करते हैं। बड़ों के मुँह छोटों का लगना सामाजिक शिष्टता के विरुद्ध है। गोस्वामीजी इसका संकेत कर देते हैं। दशरथ के प्रति लक्ष्मण के दिल के फफोले फूटते हैं 'मानस' में शृङ्गवेरपुर में सुमन्त के विदा होते समय- 'लखन कही कछु अनुचित बानी'। राम ने इस पर लक्ष्मण को चुप ही नहीं कराया अपितु सुमन्त से भी अपनी शपथ दिलाकर पिता से इस घटना की चर्चा न करने की प्रार्थना की। लक्ष्मण के इस व्यवहार को लड़कपन की संज्ञा दी गई। औद्धत्य या उद्दंडतावाची कोई शब्द रख सकते थे पर पूज्य पात्र के प्रति ये शब्द उचित न होते।

चौदह वर्ष वन में पूरा करके राम अयोध्या को लौट रहे हैं। अयोध्या से कुछ दूर प्रयाग में वे भरद्वाज के आश्रम पर ठहर जाते हैं और वहाँ से हनुमान को अयोध्या का हाल एवं भरत की गतिविधि का विवरण लेने भेजते हैं। वे कहते हैं कि 'तुम भरत की मुखाकृति को ध्यान से देखना। मेरे वन से लौटने के समाचार से वे कहीं चिन्तित तो नहीं हो रहे हैं आदि'। पर मानस में इस प्रकार की शंका को राम जैसे महापुरुष के हृदय में स्थान देना कवि की भावना के प्रतिकूल था अतः इस शंका को मानसकार ने उठाकर जनक के हृदय में बैठा दी है।[१]

वाल्मीकीय रामायण काव्य के साथ ही इतिहास भी है। इसलिए उसमें नीरस और सरवर घटनाएँ भी अविकल वर्णित हैं—महर्षि ने दोषों का मार्जन करके उन्हे 'मंजु मनोहर मंगलकारी' बनाने की आवश्यकता नहीं समझी। वा० रामायण में सीता परित्याग वाली कठोर घटना भी निगदित है। इसी कारण गोस्वामी जी ने उसे 'सरवर' कहा है।[२] हम समझते हैं गोस्वामी जी ने सीता परित्याग वाली घटना को रस विरोधी ही समझकर 'मानस' में स्थान नहीं दिया है। कोमलता का उन्हें यहाँ तक ध्यान है कि भरत की बिदाई के प्रसंग में वे कहते हैं—राम भरत का वियोग वर्णन सुनकर लोग (सहृदय सामाजिक) कवि (तुलसीदास) को कठोर समझेंगे।[३] शंबूक का वध भी वे नहीं कराते और न राम को साकेत में 'निजधाम' ही जाने देते हैं। दोषों को ढँकने और गुणों को उद्घाटित करने की प्रवृत्ति कवि में इतनी है कि वह सीता के 'मर्म वचन' का विवरण नहीं खोलता, संकेत मात्र कर देता है।[४]

सीता स्वयं हरण के बाद अपनी गलती अनुभव करती हैं :

हा लछिमन तुम्हार नहिं दोषू

इस प्रकार इतिहास का भी निर्वाह हो गया और औचित्य की भी रक्षा हो गई।[५] इसी प्रकार वाल्मीकीय रामायण के राम में प्राकृत मनुष्यों सी अनेक दुर्बलताएँ दिखाई पड़ती हैं, यथा—

---

१. नृपहिं धीर धरि हृदय विचारी। पठए अवध चतुर चर चारी॥
बूझि भरत सति भाऊ कुभाऊ। आएहु बेगि न होइ लखाऊ॥

२. बन्दौ मुनि पद कंज रामायन जेहि निरमयउ।
सरवर सुकोमल मंजु दोष रहित दूषन सहित॥

३. वरनत रघुवर भरत वियोगू। सुनि कठोर कवि जानिहि लोगू॥

४. मर्मवचन जब सीता बोला। हरि प्रेरित लछिमन मन डोला॥

५. नहि कवेरितिवृत्त मात्र निर्वहणेन किंचित् प्रयोजनम्,
इतिहासादेव तत्सिद्धेः॥ —ध्वन्यालोक। भारतीय काव्यशास्त्री की परंपरा पृ० १३७।

'राम वनवास का दुःसंवाद सुनाने जब राम कौशिल्या के पास जाने लगे हैं तब वाल्मीकि ने उनके दीर्घनिःश्वास और कंपित स्वर का उल्लेख किया है, सीता के अयोध्या में रहने के लिए समझाते समय उन्होंने कहा है कि भरत के सामने मेरी प्रशंसा न करना। इसी प्रकार मृग को मारकर लौटते समय आश्रम पर सीता के न रहने की आशंका उन्हें होने लगी है तब उनके मुँह से निकल पड़ा है कि कैकेयी अब सुखी होगी।' पर इतिहास का यह बिम्ब मानकर अपने शीलसिन्धुनायक में कैसे प्रतिबिम्बित देख सकता है जिसके बारे में वह कहता है—

जिन्हहिं निरखि मग सांपिन बीछी। तजहि विषम विष तामस तीछी॥

यही सब तो रामचरित के उपजीव्य इतिहास की सरवरता एवं दूषण है जिसे हटाकर गोस्वामी जी ने राम के चरित को 'मधुर मनोहर मंगलकारी' बनाया है।

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। वेद पुरान उदधि घन साधू॥
बरसहिं राम सुजस बरवारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥

वे कहते हैं कि राम चरित के उपजीव्य ग्रंथ। बा० रामायण, पुराणादि। तो समुद्र की भांति खारे हैं। अतः समुद्र का जल जैसे अपेय है वैसे ही वेद पुराण भी सबके उपयोग के नहीं। वेद पुराणों में कितनी रहस्यमय कथाएं आती हैं यथा ब्रह्मा अपनी पुत्री के पीछे कामोन्मत्त हो दौड़ पड़े। विषयी जीव ऐसे आख्यानों से, भले ही वे गहनतम दार्शनिक रहस्यों को व्यंजित करने वाले रूपक मात्र हों, अनर्थकारी प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं। निदान, ऐसी कुरुचिपूर्ण घटना को त्याग कर अथवा उनके दोषों का मार्जन करके कवि समाज के संमुख रखता है ताकि सबका मंगल हो—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई॥

चमत्कारवाद

काव्य में चमत्कार का विधान मुख्यतः मनोरंजन के लिए किया जाता है। हृदय को स्पर्श करने अथवा किसी भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिये भी उसका विधान सहृदय कवि करते देखे जाते हैं, पर बहुत कम।

चमत्कार के भीतर उक्तिवैचित्र्य तो रहता ही है, वस्तु-वैचित्र्य को भी रख सकते हैं। निर्गुण-निराकार के प्रति विरह-निवेदन प्रेम-प्रदर्शन आदि की उक्तियां जो रहस्यवादी रचनाओं में पुष्कल परिमाण में मिलती हैं, हम वस्तुवैचित्र्य के भीतर ही ले सकते हैं। वैसे चमत्कारवाद का क्षेत्र प्रायः उक्तिवैचित्र्य के भीसर ही समझना चाहिए। उक्ति-वैचित्र्य के भीतर 'वर्ण' विन्यास की विशेषता। जैसे अनुप्रास में (शब्दों की क्रीड़ा) जैसे श्लेष, यमक आदि में (वाक्य की वक्रता या वचन भंगी) जैसे काव्यार्थापत्ति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति इत्यादि में तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ

उनके सादृश्य या सम्बन्ध की अनहोनी या दूरारूढ़ कल्पना, (जैसे उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में) इत्यादि बातें आती हैं।'[१]

'बहुत सी ऐसी उक्तियाँ हैं जिनका सम्बन्ध उक्ति के अन्तस (अर्थ) में इतना नहीं है जितना वाह्य (शैली) से उनके द्वारा उत्पन्न चमत्कार उक्ति का ही चमत्कार होता है—उनसे भाव में इतनी तीव्रता नहीं आती। संस्कृत साहित्य के विरोध, विषय, विशेषोक्ति विभावना अदि का नाम इन्हीं के अन्तर्गत आता है।'

आचार्य शुक्ल ने काव्य और चमत्कार में भेद करते हुए बताया है कि जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचनावैचित्र्य, चमत्कार कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति या चमत्कार।

गोस्वामी जी चमत्कार को 'प्रौढ़ि' संज्ञा देते है। काव्योक्ति के साथ इस प्रौढ़ोक्ति का मध्यकाल में इतना गहरा मेल हो गया था कि गोस्वामी जी को जगह-जगह यह बताना पड़ा है कि कहां चमत्कारक उक्ति है और कहां रसात्मक उक्ति।

जैसे (१) सुनि अति उकुति पवन सुत केरी
(२) प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की।
कहौं प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥

कुछ उदाहरण—

राम के यह पूछने पर जानकी जी लंका में अपने प्राणों की रक्षा किस प्रकार कर रही हैं, हनुमान का चमत्कारी रूपक में उत्तर सुनिए—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रिका जाहिं प्रान केहि बाट॥

आगे देखिए जानकी जी भीषण विरहाग्नि की उग्र ज्वालमाल में भी किस युक्ति से अपने शरीर को सुरक्षित रख पाने में समर्थ हो रही हैं—

विरह अगिनि तनु तूल सरीरा। स्वांस जरइ छन माहिं सरीरा॥
नयन स्त्रवहिं जलु निज हित लागी। जरै न पाव देह विरहागी॥

---

१. रस मीमांसा, पृ० २७।

षष्ठ अध्याय

मानस में दोषाभास

मुख्यार्थ का अपकर्ष जिससे होता है उसको दोष कहते हैं और वह मुख्य अर्थ रस है अर्थात् रसास्वाद में बाधा उपस्थित करने वाले तत्व दोष हैं ।[1] रसास्वाद में बाधा उपस्थित होती है अनौचित्य से—

अनौचित्यादृते नान्यत् रसभंगस्य कारणम् ।[2]
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।।

अतः अनौचित्य रस भंग का सबसे बड़ा कारण सिद्ध हुआ । कहना न होगा कि उत्कृष्टतम रचना भी—भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ—दोष का रंचमात्र भी निवेश होने से उसी प्रकार दुर्भग हो जाती जिस प्रकार सुन्दर शरीर श्वेतकुष्ठ के एक छोटे से दाग से दुर्भग हो जाता है ।[3] काव्य के उक्त सिद्धान्त पक्ष पर पीछे हम पर्याप्त विचार कर आये हैं । अतः यहां उदाहरण मात्र प्रस्तुत करना समीचीन होगा ।

च्युति संस्कृति—'खेलत खेल बालकन्ह मीला' में मिला का 'मीला' रूप खटकता है । इसी प्रकार 'प्रश्न' को मानस भर में सर्वत्र स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त किया है ।

अप्रयुक्त—'रामकथा कलि पन्नग भरनी' में 'भरनी' शब्द अप्रयुक्त है । टीकाकार इसके अनेक अर्थ करते हैं—

(१) एक प्रकार का जन्तु जो सर्पभक्षी होता है । (२) मोरनी, (३) भरणी नक्षत्र (४) विषनाशक मंत्र आदि । हिन्दी में 'भरनी' ढरकी या नक्षत्र विशेष के अर्थ में तो प्रसिद्ध है पर उक्त शेष अर्थों में नहीं । अतः इसमें अप्रयुक्त दोष है ।[4]

---

१. उद्वेग जनको दोषः—अग्निपुराण
रसापकर्षकाः दोषाः—वाक्यं रसात्मकं काव्यं दोषास्तस्यापकर्षकाः ।
—सा० द० ८-१।१।३।

२. अनौचित्य ही रस के नाश का सबसे बड़ा कारण है और औचित्य का समावेशन ही रस का परम गुह्य रहस्य है । —ध्वन्यालोक

३. 'स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्' ।—रसमंजरी-३४५ ।

४. यदि विजयानन्द जी के अनुसार भरणी का अर्थ 'विषनाशक मंत्र विशेष में लें तो यहां

इसी प्रकार 'बाउ कृपा मूरति अनुकूला' में प्रयुक्त शब्द है 'बाउ' । अभी तक 'बाउ' का अर्थ 'वायु' समझा जाता था पर पंडित अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने इस पर नई रोशनी डाली है ।[१] वे कहते हैं कि बंगला में 'बाउ' वाह, क्या बात है अथवा क्या खूब के अर्थ में अब भी बोला जाता है । अतः यह बंगला का शब्द है और इसी अर्थ में व्यवहृत भी हुआ है । यदि वाजपेयी जी की व्याख्या सही है तो उक्त अर्थ में यह शब्द हिन्दी के लिये सर्वथा-अप्रयुक्त है ।[२] वाजपेयी जी ने 'साका' का भी बिलकुल नया अर्थ किया है । अभी तक कोशों और टीकाओं द्वारा हम साका को 'कीर्ति', 'कीर्तिस्मारक' आदि अर्थ में जानते रहे हैं । राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त भी इसी अर्थ में अपने प्रसिद्ध 'साकेत' महाकाव्य में इसका व्यवहार करते है—

"साका सांका यही आज साका है वीरो ।"

पर वाजपेयी जी के अनुसार साका का अर्थ—

सब्र-सबूरी वा धीरज होता है । यह अर्थ स्वीकर करने पर 'साका' को भी अप्रयुक्त मानना पड़ेगा । यही गति 'कुठारी' की भी है—'दसन गहहु तिन कंठ कुठारी' ।

टीकाकारों के अनुसार अंगद रावण से कहते हैं कि दांत से तिनका ग्रहण कर और कंठ में कुठार लटका कर·········राम की शरण में जाओ पर आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद जी यहां कुठार का अर्थ 'पगड़ी' लेते हैं । उनका आधार शार्गंधर का एक पद्य है ।[३] यदि प्रस्तुत पंक्ति में शार्गंधर का अनुधावन मानें तो यह भी मानना पड़ेगा कि सम्प्रति 'दसन गहहु तिन' मुहावरा तो चलता है पर 'कंठ कुठारी' (गले में पगड़ी) प्रयोग गांधी टोपी के आगे 'आउट आफ डेट' हो गया है । गांव-गांव में अब भी पत्थर के भीमकाय कोल्हू उपेक्षा और तिरस्कार की ठोकरें खाने के बावजूद अपना अस्तित्व बनाए अडिग खड़े हैं कभी उनकी बड़ी उपयोगिता रही होगी । किस प्रकार कभी वे ऊख पेरने के काम आते रहे होंगे, इसे आज का 'नोछिटियां' नहीं समझ पाता । ठीक वैसे ही शार्गंधर वाले प्रयोग से लोग अपरिचित हो गए हैं ।

निहतार्थ दोष होगा क्योंकि 'भरनी' भरणी नक्षत्र के अर्थ में एक प्रकार से योग रूढ़ हो गया है ।

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान : 'मेरे संस्मरण' शीर्षक लेख ।

२. भरत मुनि कहते हैं कि अप्रचलित पदों का प्रयोग काव्य या नाटक में उसी प्रकार 'हास्यास्पद' होता है जिस प्रकार वेश्या के घर में कमंडलु धारण करने वाले संन्यासी हँसी के पात्र होते हैं—

३. चेक्रीडिताद्यैः शब्दैस्तु काव्यबन्धाः भवन्ति ये ।
वेश्या इव न शोभन्ते, कमंडलुधरैः द्विजैः ॥ नाट्यशास्त्र २१।१३१-३२ ।

अनुचितार्थ

[1]किसी पात्र के लिए जो उपमान लाया जाय वह उस भाव के अनुरूप हो जो कवि ने उस पात्र के सम्बन्ध में अपने हृदय में भी प्रतिष्ठित किया है और पाठक के हृदय में भी प्रतिष्ठित करना चाहता है ।

राम की सेवा करते हुए लक्ष्मण के सम्बन्ध में गोस्वामी जी कहते हैं—

सेवत लषन सिया रघुबीरहिं । जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं ॥

अविवेकी पुरुष से किए गए प्रस्तुत सादृश्य में सेवा का आधिक्य तो प्रकट होता है पर लक्ष्मण के प्रति प्रतिष्ठित भाव में व्याघात पड़ता है । यद्यपि कवि ने लक्ष्मण के सेवा कर्म का सादृश्य अविवेकी के सेवाकर्म से लिया है—कुछ लक्ष्मण का सादृश्य अविवेकी से नहीं । पर अविवेकी का कर्म निन्द्य है और लक्ष्मण का कर्म श्लाघ्य । अतः कहना चाहें तो कह सकते हैं कि 'कवि के अभिप्रेत विषय में तो सादृश्य है, पर शेष विषयों में इतना अधिक असादृश्य है कि उपमान की हीनता खटकती है ।

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहिं राम ॥

पर यहां उपमानगत हीनता को अपने ऊपर लेकर गोस्वामी जी ने उसका सारा दोष हर लिया है ।[2]

---

१. रसमीमांसा ।

२. विचार करने पर पता चलता है कि 'जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं' जैसे उपमान भी सगर्भ सहेतु हैं। बात यह है कि कामादि विषय न केवल मनुष्य मात्र अपितु मनुष्येतर प्राणियों के लिए भी सहज संप्रेषणीय हैं। कलियुग के जन साधारण की तो छोड़िए कवियों तक के लिये, उदात्त सात्विक कल्पनाएं वैसे ही अगम कही गई हैं जैसे ब्रह्मसुख अहंता ममता से मलिन प्राणियों के लिए अगम्य हैं ।
कविहिं अगम जिमि ब्रह्म सुख अह सम मलिन जनेषु
अतः गोस्वामी जी ने प्रायः ऐसे ही उपमान सामने रखे हैं। जिनसे प्रस्तुत के प्रति भावोद्दीपन में सहायता मिले। बौध वृत्ति में सहायक उपमान भी उन्होंने रखे हैं पर अपेक्षाकृत वे न्यून परिमाण में हैं।
विनय पत्रिका में वे कहते हैं—
राम कबहिं प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को
सुख जीवन ज्यौं जीव को, जैसे धन लोभलीन को
ज्यौं सुभाव प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को

इसी प्रकार की हीनोपमा का एक उदाहरण और है जिसका मार्जन भी कवि ने कर दिया है—

वन दिसि देव सौंपि सब काहू। चले जहां रावने ससि राहू ।।

यहां कवि ने रावण को चन्द्रमा से और राम को राहु से उपमित किया है जो सरसरी तौर पर देखने में तो खटकता है पर गंभीरतापूर्वक विचार करने पर कवि की सूझबूझ का कायल होना पड़ता है। कहना न होगा कि रावण ने जानकी का हरण पाप बुद्धि से किया था:

'पुरोडास चह रासभ खावा'

और उधर चन्द्रमा गुरु पत्नीगामी के रूप में कुख्यात है। अतः रावण से उसका बावन तोले तो पाव रत्ती साधर्म्य बैठ जाता है।

रहे राम सो—

जैसे चन्द्रमा पर राहु का ग्रहण लगना पुराण सिद्ध बात है वैसे ही रावण का राम के हाथ बध भी—रावण सदंभ पर रघुकुल राज है—इतिहास सिद्ध घटना है। एतवता यहाँ दोष-गुण हो गया है—दोसउ गुन सम कह सब कोई।

नेयार्थ—जले पर नमक छिड़कना उतना कष्टकारी नहीं होता जितना कटे पर नमक छिड़कना। अतः यह प्रयोग अशुद्ध है। इसी प्रकार 'परे कठिन रावन के पाले' प्रयोग भी असमीचीन है। कोई किसी के पाले नहीं पड़ता अपितु किसी से पाला पड़ता है।

एक स्थल पर वे कहते हैं—

सुत ज्यौं प्रीति प्रतीति मीत ज्यौं नृप डर ज्यौं डरिहौं

ऊपर के सभी उपमान हमारी अनुभूति के अंग हैं, संप्रेषणीय हैं, लोक सामान्य हैं। उन्हें समझने के लिए हमें दिमागी कसरत नहीं करनी पड़ती और न योगियों की समाधि लेनी पड़ती है। अतः 'सरल कवित कीरति सरल' के आदर्श वाले गोस्वामी जी ऐसे ही उपमान लाए हैं जो सर्वानुभूत है। साहित्य शास्त्रों के भी वचन हैं—

अ. शृंगार रस समस्त सांसारिक पुरुषों के अनुभव का बिषय अवश्य होता है, अतः सौन्दर्य की दृष्टि से प्रधानतम है।

शृंगार रसोहि संसारिणां नियमेनानुभव विषयत्वात् सर्वरसेभ्यः कमनीय तथा प्रधान भूतः।

आ. शृंगार रस के अंगों से प्रवृत्त हुए शिष्यगण सदाचार के उपदेशों को आनन्दपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं।

शृंगार रसांगे रुन्मुखी कृताः सन्तोहि विनेयाः सुखं विनयोपदेशान्

३. तदेवं लोकभावनां प्रसमीक्ष्य बलाबलम्।
मृदु शब्दं सुखार्थं च कविः कुर्यात्तु नाटकम्। नाट्यशास्त्र २१।१३१।

क्लिष्ट—'सिव प्रिय मेकल सैल सुता सी' में नर्मदा से भेंट लम्बी अर्थ—यात्रा के अनन्तर हो पाती है।

निर्हेतु— भगति करत बिनु जतन प्रयासा॥
संसृति मूल अविद्या नासा॥
भोजन करिअ तृपिति हित लागी। जिमि सो असन पचवै जठरागी॥

इसमें भोजन का हेतु तो दिया गया है पर भक्ति का हेतु नहीं दिया गया है अतः निर्हेतु दोष है।

अप्रतीतत्व दोष—सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा।

में गूढ़ दार्शनिक शब्द प्रयुक्त हैं। पर एक तो यहां दार्शनिक मीमांसा प्रकरण प्राप्त है, दूसरे श्रोता वक्ता दोनों पंडित हैं[1]—

'ते स्रोता वक्ता समसीला'

ग्राम्यत्व—मन्थरा की भाषा ठेठ अवधि की चलती भाषा है। उसमें 'कपार' जैसे ग्राम्य शब्द भी प्रयुक्त हैं—

'फोरे जोगु कपारु अभागा'

पर 'ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु, गुण इत्येव'[1] के अनुसार ऐसे प्रयोग गुणाधायक हो जाते है।[2]

सन्दिग्धत्व—'सन्तत सुरानीक हित जेही'

व्याज निन्दा का प्रसंग होने के कारण 'सुरानीक' का संदिग्धत्व दोष निवृत्त हो गया है।

कष्टत्व या अप्रतीतत्व—सरिस स्वान मघवान जुवानू

यहाँ व्याकरण का अर्थ गूढ़त्व कष्टतत्व का जनक हो गया है। यहाँ बौद्धत्व वैशिष्ट भी नहीं है कि जिससे प्रस्तुत दोष का परिहार हो सके।

---

१. साहित्यदर्पण ७।२१।

२. नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
तस्मात् लोक प्रमाणं हि कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः॥ नाट्यशास्त्र २६।११९
व्यपेतंवाक्यशेषैस्तु लक्षणाढ्यं गुणान्वितम्।
स्वरालंकार संयुक्तं पठेत् काव्यं यथाविधि॥ नाट्यशास्त्र १९।७५।
अनुकरणभावमविकलमसमर्थादि स्वरूपतो गच्छन्।
न भवति दुष्टमतादृक् विपरीत क्लिष्ट वर्ण च॥ काव्यालंकार ५।४७।
ग्राम्यत्वमनोचित्यं व्यवहाराकारवेषवचनानाम्।
देशकुल-जाति विद्या वित्तवयः—स्थान पात्रेषु॥ काव्यालंकार ११।९।

समाप्त पुनरात्तत्व—

संकर चापु जहाजु सागर रघुवर बाहुबलु ।
बूड़ सो सकल समाजु चढ़ा जो प्रथमहिं मोह बस ॥

चतुर्थ चरण, वाक्य के समाप्त होने पर जोड़ा गया सा लगता है पर समाप्त पुनरात्त दोष यहाँ नहीं है क्योंकि यहां विशेषण मात्र का पुनः उपादान नहीं अपितु साकांक्ष वाक्य का पुनः उपादान है। समाप्त पुनरात्त विशेषण के उपादान में होता है। पर हम इसे यहां गुण भी नहीं मान सकते![5]

स्वशब्दवाच्यत्व—

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहंसे करुना ऐन चितै जानकी लखन तन॥

यद्यपि यहाँ 'विहंसे' द्वारा हास्य का स्पष्ट नामोल्लेख हुआ है पर दोष नहीं है। कारण किसी अनुभव द्वारा हास्य की व्यंजना निर्भ्रान्त रूप से सूचित नहीं की जा सकती थी।[6]

रस-विरोध——श्रृंगार और वीर परस्पर विरोधी रस हैं। इनका साथ वर्णन होने में दोष है। पर एक ही आश्रय में, आलंबन भेद से ये विरोधी भाव रह सकते हैं, उसमें दोष नहीं होता। यथा 'भवन चलेउ निरखत भुज बीसा' को ले लीजिए। राम की सेना के सुवेल गिरि पर पड़ाव डाल देने पर भी रावण तनिक भी विचलित या भीत नहीं हुआ। वह रनवास में मन्दोदरी से मिलने जा रहा है। यहां उत्साह (निरखत भुज बीसा) और रति (भवन चलेउ) दोनों विरोधी रसों का सन्निवेश यद्यपि है एक ही आश्रय में, एक ही समय, पर उत्साह का आलंवन राम की सेना और रति का आलंबन मन्दोदरी होने से दोष नहीं है।

---

३. इस प्रकार की कुछ रूप-योजनाएं प्राचीन आख्यानों में रूढ़ होकर पौराणिक हो गई हैं और मनुष्य की नाना जातियों के विश्वास से सम्बन्ध रखती हैं। जैसे, सुमेरु, पर्वत, सूर्य-चन्द्र के पहियों वाला रथ, समुद्र-मंथन, समुद्र-लंघन, सिर पर पहाड़ लादकर आकाश-मार्ग से उड़ना इत्यादि। इन्हें काव्यगत अत्युक्ति या कल्पना की उड़ान के अन्तर्गत हम नहीं लेंगे—गो० तु० आ० शुक्ल।

४. कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यात विरुद्धता। सा० द० ७।२२।

५. जो, सो ये दोनों शब्द परस्पर साकांक्ष हैं, अतः एक के बिना दूसरा निराकांक्ष नहीं हो सकता। निराकांक्ष नहीं हो सकता। इसीलिए उत्थित यच्छब्द की आकांक्षा के प्रशमन के लिए तच्छब्द का वाक्य उपात्त है—श्री महेश्वरानन्द सरस्वती जी

६. क्वचि दुक्तो स्वशब्देन न दोषो व्यभिचारिणः
अनुभाव विभावाभ्यां रचना पत्र नोचिता॥ साहित्यदर्पण ७।२९

आश्रय भेद से रस-विरोध का परिहार—भयानक और वीर परस्पर विरोधी रस हैं। पर भय और उत्साह की व्यंजना आश्रय भेद से एक साथ (युगपत) होने में दोष नहीं है।

कर जोरे सुरदिसिप विनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥
देखि प्रताप न कपि मन संका। जिमि अहिगन महुं गरुड़ आसंका॥

यहाँ भय के आश्रय देवता एवं निर्भयता या उत्साह के आश्रय हनुमान हैं।

नैरन्तर्य विरोध परिहार—शृंगार और करुण में परस्पर नैरन्तर विरोध है पर बीच में किसी तटस्थ रस के आ जाने से विरोध शान्त हो जाता है। इसी प्रकार साम्य विवक्षित होने, किसी रस या भाव का अंग हो जाने, विरोधी रस के बाधित होने आदि के कारण भी नैरन्तर विरोध का परिहार हो जाता है।

रस का अंग होना—कैकेयी का कोप भवन प्रसंग[1] आपाततः 'कामकौतुक' ही लगता है पर वह है वस्तुतः श्रृङ्गार-रसाभास जो आगे चल कर करुण रस का जनु करुना रस कटकई उतरी अवध बजाइ-अंग हो गया है।

स्मर्यमाण विरोधी रस के कारण परिहार—

तव बल नाथ डोल नित धरनी। तेजहीन पावक ससि तरनी॥
सो तव भुज सिर जंबुक खाहीं। राम विमुख कछु अनुचित नाहीं॥

वीर और शान्त परस्पर विरोधी रस हैं पर यहाँ मन्दोदरी विलाप में रावण के अतीत के वीर दर्पपूर्ण कार्यों का स्मरण किया गया है और फिर जगत् की क्षणभंगुरता की वास्तविकता देख दिखाकर राम के प्रति देव विषयक रतिभाव व्यंजित किया गया है।

विरोधी रस का बाधित होना—

नारद मोह का प्रकरण इसका अच्छा खासा उदाहरण है जिसमें श्रृङ्गार शान्त से दब गया है—

बड़ी बार मुनि रहे निहारी।............
जप तप कछु न होइ तेहिकाला। हेबिधि मिलइ कवन बिधि बाला ।

आदि अनुभावों और संचारियों से शृंगार की व्यंजना होती है और अन्ततः

जब हरिमाया दूरि निवारी। नहिं तहं रमा न राजकुमारी॥
तब मुनि अति सभीत प्रभु चरना। गहे पाहि प्रनतारति हरना॥

---

१. जाइ निकट नृपु कह मृदु बानी। प्रान प्रिया केहि हेतु रिसानी।
केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहि नेवारई।
बार बार कह राउ सुमुखि सुलोचनिपिक बचनि।
कारन मोहि सुनाउ गज गामिनि निज कोप कर॥
कपट सनेहु बढ़ाइ बहोरी। बोली बिहंसि नयन मुहु मोरी॥

विरोधी रस में शृङ्गार का समावेश विरोधी नहीं है।

साम्य विवक्षा—शृंगार और वीर परस्पर विरोधी रस हैं। पर इन दोनों की समान रूप से व्यंजना होने पर दोष नहीं होता। उदाहरण के लिए राम वन-गमन और भरताभिषेक का संवाद पाकर कोसल्या की विचित्र मनोदशा होती है—

राखि न सकइ न कहि सक जाहू। दुहूँ भांति उर दारुन दाहू॥
धरम सनेह उभयमति घेरी – भइ गति सांप छुछूंदरि केरी॥
राखउं सुतहि करउं अनुरोधू। धरमु जाइ अरु बंधु विरोधू॥
कहउं जात बन तौ बड़ि हानी। संकट सोच विवस भइ रानी॥

यहाँ पुत्र विषयक रति। जिसे शृङ्गार के भीतर एक भाव मानते हैं। और वीर रस (धर्मवीरता) के स्थायी भाव उत्साह की व्यंजना है। अतः दोष नहीं है।

देवनिन्दाभास (अर्थवाद)

कर जोरे सुरदिसिय विनीता। भृकुटि विलोकत सकल सभीता॥

में कवि का उद्देश्य देव-निन्दा से नहीं है अपितु रावण के ऐश्वर्य का उत्कर्ष दिखाना मात्र है। अतः दोष नहीं है। इसी भाँति 'बोले देव सदा स्वारथी' और 'काक समान पाक-रिपु रीति' में भी देवों और इन्द्र की निन्दा से तात्पर्य नहीं है। वरन् वहाँ राम के लोकोत्तर और लोक पावन व्यक्तित्व की प्रशंसा से तात्पर्य है कथन को प्रभविष्णु बनाने की यह एक शैली विशेष है जिसे अर्थवाद कहते हैं।

एक विद्वान् लिखते हैं कि मानस में देवताओं को मानों एक ही काम है 'राम के हर एक काम पर फूल बरसाना'। पर उन्हें समझना चाहिए कि गोस्वामी जी ने राम के प्रत्येक कर्म को ऐसे व्यापक प्रभाव का चित्रित किया है जिस पर तीनों लोकों की दृष्टि लगी रहती थी और जो 'मधुर मनोहर मंगलकारी' होता था।

अंगी का अननुसंधान—भी एक दोष माना गया है। कुछ लोगों का कहना हैं कि गोस्वामी जी पग-पग पर राम की ईश्वरता का जो स्मरण कराते चलते हैं उससे सहृदय सामाजिक में एक प्रकार की अरुचि सी उत्पन्न हो जाती है। पर आक्षेपकों को यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि मानस का 'कार्य' क्या है। यही न कि राम ईश्वर थे।[1] और शास्त्र

---

१. रामचरित मानस की कथा के वक्ता तीन हैं—(१) शिव (२) याज्ञवल्क्य और (३) कागभुशुंडि, श्रोता हैं पार्वती, भरद्वाज और गरुड़। इन तीनों श्रोताओं ने अपना यह मोह प्रकट किया था कि राम कहीं मनुष्य तो नहीं हैं। तीनों वक्ता जो कथा कह रहे हैं वह इसी मोह को छुड़ाने के लिए। इस लिए कथा के बीच में ईश्वरता की याद दिलाते जाना बहुत आवश्यक था। गोस्वामी जी ने भूमिका में ही इस बात को स्पष्ट करके शंका की जगह नहीं छोड़ी है।

दूसरे 'रामचरित मानस एक प्रबन्ध काव्य है जिसमें कथा का प्रवाह अनेक घटनाओं को

का नियम है—अनुसन्धिर्हि सर्वस्वं सहृदयतायाः अर्थात् प्रधान पात्र का सदा अनुसंधान करते रहना ही सहृदयता का रहस्य है। सहृदय सामाजिकों में रुचि जगाने के लिए कवि काव्य में नाना प्रकार के रमणीय प्रसंगों की योजना करता है। क्योंकि केवल मात्र मूल कथानक का वर्णन इतिवृत्तात्मक हो जाता है जो सहृदयों के लिये अनुरंजनकारी नहीं होता अतएव अवान्तर घटनाओं के द्वारा मुख्य इतिवृत्त की पुष्टि करते हैं जिससे वह रसिकों के लिए हृदयावर्जक बन जाता है। पर कभी-कभी प्रासंगिक कथावस्तु का जाल इतना फैल जाता है कि उसमें अधिकारिक वस्तु अन्तर्हित सी हो जाती है। उदाहरण के लिए रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में वाभ्रव्य के आगमन के वर्णन में कवि इतना आसक्त हो जाता है कि वह नाटक की नायिका सागरिका को ही भूल जाता है।[1] साहित्य की पारिभाषिक शब्दावलि में इस दोष को 'अंगी का अननुसंधान' नाम से अभिहित करते हैं।[2] यही कारण है जो गोस्वामी जी बारबार राम की ईश्वरता का स्मरण दिलाते चलते हैं। प्रतिपाद्य का अनुसन्धान करते चलते हैं।

एहि महं आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥

प्रकृति विपर्यय—परात्पर ब्रह्म के साक्षात् अवतार राम का जिनके लिए स्वप्न में भी योग वियोग संभव नहीं है, महाविरही और कामी के रूप में चित्रित किया जाना कुछ लोगों को खटक सकता है पर यह सब साधु उद्देश्य की सिद्धि के लिए हुआ है—

ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥
चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु

बालि को छिपकर मारना कुछ लोगों की दृष्टि में (धीरोदात्त नायक) मर्यादा पुरुषोत्तम राम के शील में बट्टा लगता है। एतावता कतिपय नाटकों में से यह घटना या तो निकाल दी गई है या बदल दी गई है। पर गोस्वामी जी ने इसे ज्यों का त्यों रखा है गोस्वामी जी ने राम के इस दूषण को भक्तवत्सलता रूप भूषण के रूप में लिया है—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बन्धु अति मृदुल सुभाऊ॥

लेता हुआ लगातार चला चलता है। इस दशा में कथा प्रवाह में मग्न पाठक या श्रोता को असल बात की ओर ध्यान दिलाते रहने की आवश्यकता समय समय पर उस कवि को अवश्य मालूम होगी जो नायक को ईश्वरावतार के रूप में ही दिखाना चाहता है। फुटकर पद्यों में इसकी आवश्यकता न प्रतीत होगी।'—भ्रमरगीतसार की भूमिका—आ० शु०

१. इसके विपरीत 'तापस वत्सराजनायक नाटक के छहों अंकों में कथा के प्रभाव से वासवदत्ता विषयक प्रेम के विच्छेद होने की आशंका होने पर भी कवि ने उसका सदा अनुसन्धान रखकर अपनी सहृदयता का पूरा परिचय दिया है।

२. दे० भारतीय साहित्य शास्त्र खंड २—पृ० ६५।

वे स्पष्ट कहते हैं—

जेहि अघ बधेउ व्याध जिमि बाली। सोइ सुकंठ पुनि कीन्ह कुचाली॥
सोइ करतूत विभीषन केरी। सपनेहुं सो न राम हिय हेरी॥

इस प्रकार मानव सुलभ दुर्बलताओं को राम में दिखाकर गोस्वामी जी ने उनके चरित्र में यथार्थता का जो पुट मिलाया है उससे वे (राम) केवल दंड प्रणाम के योग्य ही नहीं बल्कि हमारे काम के भी हो गए हैं। गो० राम के चरित्र में स्वप्नलोक के गुणों का आधान कर सकते थे पर ऐसे चरित्र से कुतूहल मात्र जगता।[1] असत्यत्व प्रतिपादक अनौचित्य की सृष्टि होती। उससे 'गाइ गाइ नर भव तरिय संकृति सागर सेतु' का उद्देश्य पूरा न होता और न सुरसरिसम सबकर हित होई वाले आदर्श ही की सिद्धि होती। उससे 'रसोवै सः' की निष्पति भी न होती।[2] शील, शक्ति सौन्दर्य की केन्द्रीयभूत चिन्मय सत्ता के रूप में हम राम को पाकर निहाल हो जाते हैं। वे अटल नियमों के यन्त्र मात्र नहीं हैं। बल्कि प्रेम से कहीं भी प्रकट किए जा सकते हैं—'प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि जागी'। वे शीलसागर कहे जाते हैं। वे भाई की खातिर छाती पर पत्थर रखकर पिता की आज्ञा का उल्लंघन करने को भी तैयार हो जाते हैं—

पिता बचन मेंटत संकोचू। तेंहि तें अधिक तुम्हार संकोचू।
जौं जनतेउं वन बन्धु विछोहू। पिता बचन मनतेउं नहिं ओहू॥

अतः साहित्य का सुमन रूपी वनमाली अपने नेत्रों के सनेहजल से आज तक उस 'पुलक बाटिका नाग बन' को सींचता जा रहा है।

अनंग वर्णन—चित्रकूट, पंचवटी, किष्किन्धा प्रभृति प्रकृति के रमणीय अंचलों में गोस्वामी जी रामलक्ष्मण को ले गए हैं पर उनके रामलक्ष्मण में हम प्रकृति के नाना

---

१. ध्यान रहे, मानस 'रस तात्पर्य' महाकाव्य है, 'कथा तात्पर्य' काव्य नहीं—कथामात्र तात्पर्य वृत्तिष्वपि कामचारः कथा तात्पर्ये सर्गबन्धो यथा भट्टजयन्त कस्य कादम्बरी कथासारम्। रस तात्पर्यं तु यथा रघुवंशादि। लोचन पृ० १४२ काव्य का प्रयोजन ही है—
'काव्यस्य प्रयोजनं हि रसास्वादमुखपिंड दान द्वारा वेदशास्त्र विमुखानां सुकुमार मतीनां राजपुत्रादीनां विनेयानां 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत् इत्यादि कृत्याकृत्य प्रवृत्ति निर्वत्युपदेश इति चिरन्तनैरत्युक्तत्वात्। तथा चाग्नेयपुराणे' प्युक्तम्—
'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्'—सा० द० प्र० परिच्छेद।

२. देखिए, अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
पुलक बाटिका बाग बन सुख सुविहंग विहारु। माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चारु।
राम० च० मा०
सुनि सीतापति सील सुभाऊ......विनयपत्रिका।

रूपों और व्यापारों के प्रति वह हर्षोल्लास नहीं देखते जो वाल्मीकि के राम लक्ष्मण में दिखाई पड़ता है।[1] मानस के लक्ष्मण राम से ज्ञान, वैराग्य, माया और भक्ति की बात पूछते हैं और राम उन्हें समझाते हैं—

गो गोचर जहं लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई।

इसी प्रकार गरुड़पुराण के आदर्श पर 'जे नर सबकर निन्दा करही ते चमगादर होइ अवतरहीं' जैसे रूखे उपदेशात्मक वचन मुख्य रस के अनुपकारक से लगते हैं पर ग्रन्थ के उपक्रम उपसंहार, अपूर्वता और अभ्यास का मनन करने और आरंभ के मानसरूपक वाले प्रसंग को देखने पर भ्रम दूर हो जाता है—

भनति निरूपन विविध विधाना। छमा दया दम लता विताना।।
सम जम नियम फूल फल ग्याना। हरिपद रति रस वेद बखाना।।

गिरिजा का प्रश्न भी है—

पुनि प्रभु कहहु सो तत्व बखानी। जेहिं विज्ञान मगन मुनि ग्यानी।।
भनति ग्यांन विग्यान विरागा। पुनि सब बरनहु सहित विभागा।।

अतएव सिद्ध हुआ कि ये विवेचन काव्य के प्रकरणगत विषय हैं, इनसे काव्य का स्वारस्य नष्ट नहीं होता। यदि थोड़ी देर को यह मान भी लें कि इन रूखी व्याख्याओं और आगे चले बहुरि रघुराई जैसी इतिवृत्तात्मक उक्तियों से मुख्य रस का अनुपकार होता है और इसी कसौटी पर दुनिया भर के काव्यों को परख डालें तो शायद एक भी काव्य खरा नहीं उतरेगा। मम्मट की कठोर काव्य कसौटी पर व्यंग्य करते हुए इसीलिए तो महिम भट्ट ने उन्हें काव्यावली रूपी कुलांगना की दुर्दशा करने वाला यवन कहा है—

काव्य प्रकाशो यवनो काव्याली च कुलांगना।
अनेन प्रतिभाकृष्टा कष्टामेषा श्नुते दशाम्।। —व्यक्ति विवेक

इसीलिए रसात्मक वाक्य को काव्य मानने वाले विश्वनाथ को उदार दृष्टिकोण अपनाना पड़ा है[2]—

---

१. मज्जन पुष्पावचय सन्ध्या चन्द्रोदयादिवाक्यमिह।
सरस मपि नाति बहुलं प्रकृतरसान्वितं रचयेत्तु।।
यस्तु सरिदाद्रिसागर पुरतुरगरथादि—वर्णने यत्नः।
कवि शक्ति ख्याति फलः विततधियां नौ मतः सइह।।
भारतीय साहित्य शास्त्र, भाग २—पृ० ५०।

२. "ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिनां केषांचिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं न स्यादिति चेत् २. न, रसवत्पद्यान्तर्गत नीरस पदानामिव पद्य रसेन, प्रबन्धरसेनैव तेषां रसावत्तांगीकारात्। यत्तु नीरसेष्वपि गुणाभिव्यंजक वर्ण सद्भावाद्दोषा भावादलंकार सद्भावाच्च काव्य व्यवहारः स रसादिमत्काव्य बन्ध समयाद गौण एव"। साहित्यदर्पण प्रथम परिच्छेद।

और आचार्य शुक्ल भी मानते हैं कि "अब हम इन कोरे और नीरस उपदेशों को काव्य क्षेत्र के भीतर समझें या बाहर ? भीतर समझने के लिए यही एक शास्त्रीय युक्ति है कि जैसे समूचे प्रबंध के रस से बीच-बीच में आए हुए 'आगे चले बहुरि रघुराई' ऐसे नीरस पद्य भी रसवान् हो जाते हैं, वैसे ही इस प्रकार के कोरे उपदेश भी।"

ध्वन्यार्थ विषयक दोष—निम्नलिखित पंक्तियों में गोस्वामी जी ने बड़े उच्चकोटि के व्यंग्य का प्रयोग तो किया है पर कवि ने अंगद के उत्तर का ठाट बांधने के चक्कर में पड़कर सारा रहस्य खोल दिया है, जिससे सब गुड़ गोबर हो गया है।

> अंगद तुही बालि कर बालक। उपज्यो बंस अनल कुल घालक॥
> गर्भ न खस्यो व्यर्थ तुम जाये। निज मुख तापस दूत कहाये॥
> अब कहु कुसल बालि कहं अहई। बिहंसि बचन तब अंगद कहई॥
> दिन दस गए बालि पहं जाई। बूझेउ कुसल सखा उर लाई॥

अर्थ स्पष्ट है। रावण को बालि का राम द्वारा निहत होना मालूम हो चुका है। दूसरी, तीसरी, चौथी पंक्ति स्पष्ट कर देती है। रहा वालि वानर मैं जाना इस उद्धरण के पहले ही रावण कह चुका है—अंगद तुही बालिकर बालक ? इसकी ध्वनि में दूसरी, तीसरी और चौथी पंक्ति का भाव निहित है। जब रावण कहता है अंगद तुही बालिकर बालक ? तब एक साथ ध्वनि के अर्थ खुल पड़ते हैं, जिसने तेरे बाप को मारा, उसी का दूत बन कर तू आया ? तूने अपने कुल की मर्यादा नष्ट कर दी आदि-आदि। अंगद जो पहले लंका में रह चुका है, मन्दोदरी का मातृ स्नेह प्राप्त कर सका है। अंगद कहा जाहुँ मैं पारा। जिय संसय कछु फिरती बारा। में आया आप्त संशय प्रकट करते यह सब आता है। यह मतलब भी 'तू ही बालिकर बालक' की ध्वनि में छिपा है। ध्वन्यात्मक काव्य में ध्वनि का मर्म यदि कवि स्वयं जाहिर करे तो यह कमजोरी कही जाती है, विशेषतः कवित्व चौपट होता है। पाँचवी पंक्ति में रावण कहता है "अब कहु कुशल बालि कहँ अहई" यह पहली पंक्ति का विरोध है, अब जैसे रावण को बालि का हत होना भूल गया। यह अंगद को चिढ़ाने को उद्देश्य नहीं न कवित्वपूर्ण प्रसंगान्तर है। यह अंगद के जवाब के लिये बांधा ठाठ है, जिसके अनुसार अंगद कहता है, दस रोज बाद दोस्त के पास चलकर उसे गले लगाकर खैरियत पूछना। अस्तु, इस तरह पहली ध्वनिपूर्ण अच्छी चौपाई का भेद खोल कर गोसाई जी ने यहाँ का सारा भाव सौन्दर्य नष्ट कर दिया है। पढ़ कर भी देख लीजिए, पहली ही लाइन साफ बोलती है, फिर जिस तरह अत्याचार किया गया है, उसी तरह पढ़ने वालों के शरीर, मन और जीवन पर अकवित्व का बुरा प्रभाव पड़ता है।[1]

अपार्थ दोष

दशरथ जैसे महापुरुष की निम्नीय स्त्रैणता खटकती है—

---

१. दे० निराला कृत 'प्रबन्ध प्रतिमा' ग्रन्थान्तर्गत 'मेरे गीत और कला' शीर्षक लेख।

अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जम चह लीन्हा॥
सकउं तोर अरि अमरउ मारी। काह कीट बपुरे नर नारी॥

पर काम मोहित होने के कारण वे अस्वस्थ हैं जिससे उक्त दोष का बहुत कुछ परिहार हो जाता है अत्यन्तासक्ति में भी अपार्थ दोष नहीं होता।[1]

पुनरुक्ति—

(१) राम राम हा राम पुकारी। मम दिसि देखि दीन्ह पट डारी॥
(२) राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
अस कहि तनु त्यागत भए राउ गए सुरधाम॥

आदि उक्तियों में पुनरुक्ति दोष नहीं है। क्योंकि वक्ता भय शोकादि के आवेश में बोल रहा है। अवस्था विशेष में पुनरुक्ति दोष न होकर गुण हो जाती है।[2]

इसके अतिरिक्त अनुकरण भी अनेक दोषों को अनायास हर लेता है। जैसे मूर्ख अथवा गँवार की उक्तियों के वर्णन में असम्बद्धता, अवाचकत्व, च्युति संस्कृति आदि दोषों को दोष न माना जाकर गुण माना जायगा।[3]

ऐतिहासिक दृष्टि की न्यूनता—आचार्य शुक्ल कहते हैं कि इस दोष से तो शायद ही कोई बच सकता हो। किसी की रचना हो, उसके समय का आभास उसमें अवश्य रहेगा। इसी से ऋषियों के आश्रमों और विभीषण के दरवाजे पर गोस्वामी जी ने तुलसी का पौधा लगाया है और राम के मस्तक पर रामानन्दी तिलक। राम वैदिक समय में थे, उनके समय में न तो रामानन्दी तिलक की महिमा लोगों को मालूम हुई थी और न तुलसी की। राम के सिर पर जो चौगोशिया टोपी रखी है, उसका तो कोई ख्याल ही नहीं।

---

१. समुदायार्थ शून्यं यत्तद् अपार्थमितीष्यते
उन्मत्त मत्त बालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति॥ काव्यादर्श ४।५
इदमस्वस्थ चित्तानामभिधान मनिन्दितम्। काव्यादर्श ४।६
अस्तिकाचिदवस्था सा, साभिषंगस्य चेतसः।
यस्यां भवेदभिमता विरुद्धार्थापि भारती॥ काव्यादर्श ४।१०

२. वक्ता हर्ष भयादिभि—
राक्षिपृमनास्तथा स्तुवन निन्दम्
यत् पदम सकृत ब्रूयात्
तत् पुनरुक्तम् न दोषाय॥ काव्यालंकार ६।२९।

३. अनुकरण भावर्भावकलमसमर्थादि स्वरूपतो गच्छम्।
न भवति दुष्ट मतादृक् विपरीत क्लिष्ट वर्णं च॥
रुद्रट काव्यालंकार ५।४७।

शुक्ल जी का उक्त आक्षेप विचारणीय है। जहाँ तक रामानन्दी तिलक और चौगोशिया टोपी की बात है दोनों की प्राचीनता पर सन्देह किया जा सकता है पर तुलसी की प्राचीनता तो निर्विवाद है। पुराणों में तुलसी की कड़ी महिमा गाई है। जैसे गोस्वामी जी ने पुराणों से विष्णु शिव की अभेदमूलकता ग्रहण की, नाम महिमा और भक्ति माहात्म्य स्वीकार किया वैसे ही तुलसी की गुणगरिमा भी ली। मूल स्रोत इन सबका पुराण ही रहा। जो पुराणों को अर्वाचीन अथवा कल्पित मानते हैं वे श्रद्धा विश्वास रूप हमारी संस्कृति एवं साहित्य पर कुठाराघात करते हैं। उनका कोई उपचार नहीं है।

'फूलहिं फरहिं न बेंत जदपि सुधा बरिसहिं जलद'

आचार्य शुक्ल जी जैसे गम्भीर और सुसंस्कृत विद्वान् ने जो गोस्वामी जी की 'नाम महिमा' की टीका की है[1] वह मार्क्सवादी आलोचना का प्रभाव जान पड़ता है। यदि नाम माहात्म्य का अत्युक्तिपूर्ण गान अपराध है तो इनके लिए भागवतादि ग्रन्थ उत्तरदायी हैं न कि उनकी छाया का अनुसरण करने वाले तुलसीदास। महात्मा गांधी जी तो कर्मयोगी थे पर इस विज्ञानवाद के युग में भी उनकी नित्य नियमित रूप से प्रार्थना सभा जुड़ती जिसमें 'रघुपति राघव राजा राम' का रामधुन होता था। गांधी जी को तो छापा मारने वाले धनो महंतों में नहीं रखा जा सकता पर पंडित नेहरू ने इस प्रकार की प्रार्थनाओं में भी आस्था प्रकट नहीं की। इसके लिए किसी को दोष नहीं दिया जा सकता। दोनों अपनी भावनाओं और संस्कारों के अनुसार ठीक थे। गोस्वामी जी ने भी जो कुछ कहा है यों ही आँख मूँद कर नहीं, प्रौढ़ि मात्र नहीं वरन् अपने मन की प्रतीति, प्रीति और रुचि उन्होंने कही है।

प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की। कहौं प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥

कथन को प्रभविष्णु बनाने के लिए कवि, लेखक वक्ता आदि 'अर्थवाद' का उपयोग करते हैं। अर्थवाद बावन तौले पाव रत्ती भले ही सत्य न हो पर उसे सर्वथा असत्य भी नहीं कह सकते। कहना ही चाहें तो उसे काव्य सत्य कह सकते हैं। बात यह है कि काव्य विचारित सुस्थ नहीं, अविचारित रमणीय है, सहृदय हृदय संवेद्य है—

'वह चितवन औरै कछू जेहिं बस होत सुजान'

---

१. इसी नाम-प्रताप को राम के प्रताप से भी बड़ा कहने का (रामतें अधिक राम कर नामा) प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। सच्ची भक्ति से कोई मतलब नहीं, टीका लगाकर केवल 'राम राम' रटना बहुत से आलसी अपाहिजों का, काम हो गया। एक धनाढ्य महंत जिस गांव में छापा डालते हैं, वहां के मजदूरों को बुलाकर उनसे दो तीन घंटे राम राम रटाते हैं और जितनी मजदूरी उन्हें खेत में काम करने से मिलती, उतनी गांव वालों से वसूल करके वे देते हैं।

—गो० तुलसीदास, पृ० १८९ आचार्य शुक्ल।

तर्क, अनुमान मूँड़ मारकर भी उसके बारे में कुछ इदमित्थम् नहीं जान पाते 'तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।' यहाँ मैं कहना चाहता हूँ कि जैसे जनकपुर वासियों ने तुलसी के राम को 'विदुषन प्रभु विराटमय दीसा' आदि रूपों में देखा और आज का भक्त पाठक उसे भगवद्विभूति के रूप में ग्रहण करता है एवं साहित्यिक उल्लेख (प्रथम) अलंकार का रमणीय विधान देखकर प्रसन्न होता है और जिस प्रकार राम के 'हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी' वाले विलाप प्रकरण को साधारण पाठक खग मृगादि से जानकी का पता पूछने के अर्थ में लेता है और काव्यरसिक रूपकातिशयोक्ति का मनोरम उदाहरण देखकर फूला नहीं समाता उसी प्रकार नाम माहात्म्य को भी हम अपने संस्कार और भावना के अनुसार या तो अर्थवाद मान लें या सिद्धान्त कथन। टंटा टूटा।

वस्तु परिहार—वाल्मीकीय रामायण जैसे प्रमुख ऐतिहासिक महाकाव्य में तो सरस्वती द्वारा मंथरा की मति के फेरे जाने का उल्लेख नहीं मिलता पर गोस्वामी जी 'गई गिरा मति धूति' की दुहाई देते हैं। यह मनमाना परिवर्तन क्या उचित कहा जा सकता है? निवेदन है कि एक तो यह गोस्वामी जी की स्वतंत्र उद्भावना नहीं है वरन् आनन्द रामायण, बाल रामायण का आधार लिए हुए है दूसरे भरत की मां को वे इस अपजस से बचाना चाहते थे। वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि कैकेयी की कुटिलता आकस्मिक थी, स्वभावगत नहीं।[1]

नाम का अनौचित्य—

तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भयउ जरि छारा॥

प्रस्तुत अवतरण में शिव नाम उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि शिव का अर्थ होता है कल्याण। पर शिवजी ने संहार रूप उलटा कार्य किया है।[2] अतः रुद्र नाम अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त होता।

वैसे गोस्वामी जी ने नामौचित्य का बराबर ध्यान रखा है, यथा 'सबके हृदय मदन अभिलाखा। लता निहारि नवहिं तरु शाखा' में मदन का बड़ा उपयुक्त प्रयोग हुआ है। 'मदन' का अर्थ है आनन्द उत्पन्न करने वाला। इसी प्रकार कोपे उजबहिं वारिचर केतू। छन महुँ मिटे सकल स्रुति सेतू। में कामदेव का 'वारिचरकेतू' नाम सेतू के योग से

---

१. कथावस्तु में इस प्रकार के परिवर्तन के विशेषाधिकार, शास्त्रों ने कवियों को बहुत पहले से दे रखे हैं—

वाक्य वच्च प्रबन्धेषु रसालंकार संकरान्।
निवेषयन्त्यनौचित्य परिहारेण सूरयः॥
सरस्वती कंठाभरण ५।१२६।

२. यहां हम क्षेमेन्द्र के शब्दों को कुछ इस प्रकार बदल कर कह सकते हैं—
'संहारावसरे रुद्रस्य शिवाभिधानमनुचित मेव।'

बड़ा चमत्कारक और सार्थक हो गया है। प्रगटेउ विषमवान झख केतू भी अच्छा प्रयोग है। रुद्र का कितना उपयुक्त प्रयोग बन पड़ा है रुद्रहिं देखि मदन भय माना। दुराघरष दुर्गम भगवाना। कहना न होगा कि प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप नाम के सुनते ही सहृदयों के हृदय विकसित हो जाते हैं। इसी में कवि की कला देखी जाती है।

नाम्ना कर्मानुरूपेण ज्ञायते गुणदोषयोः।
काव्यस्य पुरुषस्येव व्यक्तिः संवाद पातिनी॥

न केवल लोकव्यवहार अपितु शास्त्रीय विषयों सम्बन्धी शब्दों का भी गोस्वामी जी उचित प्रयोग करते हैं। जैसे

जेहि जाने जग जाइ हेरांई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥

में 'हेराई' पद ध्यान देने योग्य है। आपने वेदान्त के जटिल सूत्र का खुलासा सा 'हेराई' के द्वारा खोल दिया है और साथ ही उक्त पद सूत्र का सूत्र बना भी रहता है। कितना अर्थगूढ़ शब्द है 'हेराई'।[1]

रहस्यमय और अस्पष्ट व्यक्तित्व—अयोध्या कांड में प्रयाग से चित्रकूट जाते हुए राम जब जमुना पार करते हैं तब एकाएक एक तापस[2] आता है। कब आता है, कौन है, इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं। 'सरल कविता कीरति सरल' के क्षेत्र में 'रहस्य' और 'गुह्य' का यह अनधिकार प्रवेश अकांड कथन-सा लगता है पर ध्यानपूर्वक देखने पर 'कवि अलुषित' की कुंजी मिलेगी जो गुप्त तापस का रहस्य खोल देगी। और तब पाठक अनुभव करेगा कि उसे दोहरे लाभ हुए—मानसकार को भी तापस वेष में पहचाना और उसकी विवादग्रस्त जन्म-भूमि की भी। कवि ने यहाँ अपने को राम की संनिधि में रहने की ओर संकेत भक्त पद्धति[3]

---

१. किमस्तं किं ध्वस्तं किमु विलुलितं किन्नुगलितं। विशीर्णं वा जीर्णं ननु सपदि गीर्णं किमथवा। अमन्दे स्वच्छन्दे निरुपम निजानन्द जलधौ मपि स्वान्ते शान्ते जगदिदम् शेषं न कलये। अर्थात् क्या अस्त हो गया, क्या नष्ट हो गया, क्या मसल दिया गया या गल गया या छितरा गया या सड़ गया या किसी ने इसे निगल लिया? अत्यन्त स्वच्छन्द निरुपम निजानन्द के समुद्र में मेरे अन्तःकरण के शान्त होने पर इस पूरे संसार का पता नहीं चलता।—विजया-टीका—बालकांड पृ० २१२।

२. तेहि अवसर एक तापस आवा। तेज पुंज लघु बयस सुहावा॥
कवि अलुषित-गति वेष बिरागी। मन क्रम वचन राम अनुरागी॥
सजल नयन तन पुलक निज इष्ट देउ पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनि तल दसा न जाइ बखानि॥

३. दे० हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल) पृ० १५८-५९।

पर किया है। काव्य में भी गूढ़ता होनी ही चाहिए।[१] इसके रसात्मकता में बाधा नहीं पड़ती—

'अरघ ढंके छबि लहतु हैं कवि अच्छर कुचकेस

अथवा

'घन आनंद बूझनि-अंक बसै विलसै रिझवार सुजान घनी'

दूसरा अस्पष्ट व्यक्तित्व गुह और केवट का है। रामायणियों में इस पर बड़ा तर्क-वितर्क चलता है। कोई दोनों को भिन्न-भिन्न बताता है और कोई एक ही। पर ध्यान पूर्वक मनन करने पर यहां भी शंका निर्मूल हो जाती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों दो व्यक्ति थे।[२]

---

१. तंत्री नाद कवित्त रस सरस राग रति रंग। अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग॥

२. उतरि ठाढ़ भए सुरसरि रेता। सीय राम गुह लखन समेता॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहिं सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा॥

सप्तम अध्याय

अधीत सामग्री में परम्परा का योग

भारतीय संस्कृति में परम्परा का बड़ा महत्व है। कहते हैं भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास ने चारों वेदों को अपने चार मुख्य शिष्यों को पढ़ाया। उन शिष्यों ने भी अपनी अपनी शिष्य-परम्परा में उन ग्रंथ-रूप वेदों का प्रचार किया। यों क्रमशः फैलती हुई गुरु-शिष्य परंपरा में जो कहीं-कहीं पाठभेद वा ब्राह्मणों के क्रम-भेद हो गए हैं, वे आजकल शाखा भेद के नाम से कहे जाते हैं।[1]

भगवद्गीता भी परम्परा प्राप्त है। भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि 'हे अर्जुन मैंने इस अविनाशी योग को कल्प के आदि में सूर्य से कहा था और सूर्य ने अपने पुत्र मनु तथा मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा था। इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षियों ने जाना—

'एवं परंपरा प्राप्तमिमं राजर्षयो बिदुः'

परन्तु हे अर्जुन, वह योग बहुत काल से इस पृथ्वी लोक में लुप्त हो गया था। वही यह पुरातन योग अब मैंने तेरे लिए वर्णन किया है। गोस्वामी जी का 'मानस' भी परम्परा प्राप्त है। इस मानस की रचना सर्वप्रथम शिवजी ने की और फिर समय पाकर उन्होंने इसे गिरिजा को सुनाया। कुछ दिनों बाद शिवजी ने ही इस कथा को रामभक्ति का अधिकारी समझकर कागभुशुंडि को दिया जिससे याज्ञवल्क्य ने प्राप्त किया और उन्होंने भरद्वाज से कहा तदनन्तर इस कथा को सुजान हरिभक्त नाना प्रकार से कहते सुनते और समझते रहे। आगे चलकर यही कथा गोस्वामी जी ने सूकरखेत में अपने गुरु मुख से सुनी—

संभुकीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। राम भगति अधिकारी चीन्हा॥
तेहि सन जागबलिक मुनि पाया। तिन मुनि भरद्वाज प्रति गावा॥

\+ + +

औरोजे हरि भगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं विधि नाना॥

---

१. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति पृ० ७३।
—म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी।

मैं पुनि निज गुर सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउं अचेत ।।

यही नहीं, नाना पुराण निगमागम सम्मत भी बनाया उन्होंने अपने मानस को और कुछ अनयत्र से सामग्री लेकर कथा प्रबन्ध को विचित्र बनाकर भाषा में विस्तृत किया। वे कहते हैं कि मुनियों ने जो पहले हरि कीर्ति गायी है, उसी मार्ग पर चलना मेरे लिए सुगम है। जैसे अत्यन्त अपार नदी पर राजा द्वारा पुल बनवा दिया जाने पर चींटी भी सरलता पूर्वक उसे पार कर लेती है वैसे ही मुझे भी वाल्मीकि, व्यास आदि मुनियों एवं कविपुंगवों के द्वारा निगदित रामचरित को ही आधार मान लेने में सुविधा प्रतीत हो रही है। कलियुग के संस्कृत प्राकृत कवियों के प्रति भी उन्होंने समष्टि रूप से आभार प्रदर्शित किया है। कारण, सामग्री का चयन इन कविवरेण्यों की कृतियों से भी किया है। अपभ्रंश और भाषा के कवियों से भी प्रेरणा ग्रहण की है। अतः सबके प्रति सादर कृतज्ञता ज्ञापन किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रुतियों[1] से लेकर भाषा काव्यों तक, एवं शिव से लेकर 'गोस्वामी जी के गुरुदेव तक राम कथा की जो अविच्छिन्न परम्परा दिखायी पड़ती है, रामचरित मानस का वही आधार है।

आज के वैज्ञानिक प्रगतिशील युग में भी परम्परा का अन्यून महत्व है। इंगलैंड जैसे उन्नत देश का संविधान अलिखित एवं परम्परागत है। भारतीय संविधान भी परम्परा का आदर करता है। आज भी न्यायालयों में नजीरें देखी जाती हैं। कांग्रेस आदि पार्टियाँ भी अपने कार्यों के समर्थन में महात्मा गाँधी आदि की उक्तियाँ आए दिन उद्धृत करती हैं। अधिक क्या, परम्परा को प्रगतिवादी और पुराणपन्थी दोनों स्वीकार करते हैं, यह निर्विवाद है। हमारी आप्त वाणियाँ आज भी त्रिकालबाधित हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत् द्वेवेतरोजनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।। ३।२१। गीता।
महाजनो येन गतः स पन्थाः

कथावस्तु के उपजीव्य

गोस्वामी जी ने वेदों की भी पदे पदे चर्चा की है।[2] अतः सर्वप्रथम वेदों से उन सूत्रों को ढूंढकर यहाँ उद्धृत कर देना समीचीन होगा जिनको गोस्वामी जी ने अपने मानस का उपजीव्य बनाया। राम तापनीय उपनिषद् को कुछ विद्वान् वेद का एक भाग मानते हैं पर कतिपय विद्वानों के अनुसार राम तापनीय उपनिषद् प्रामाणिक नहीं है। अतः हम यहां वेदों

---

१. एहि मह रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुराण श्रुति सारा।।
२. बंदौ चारिउ वेद, भववारिधि बोहित सरिस।
जिन्हहि न सपनेहुं खेद वरनत रघुवर विसद जस।।

के वे अंश उद्धृत करेंगे जो व्यापक रूप से प्रामाणिक और सर्वमान्य हैं। निम्नीय राम-चरित सम्बन्धी वैदिक अवतरण पुराण दिग्दर्शन से लिए गए हैं—

(१) **अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या, तेषां हिरण्यमयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।**
—अथर्व १०।२।३१।

अर्थ—आठ चक्र (गोल बाजार) और नव दरवाजों वाली साक्षात् देव पुरी अयोध्या नगरी है जिसमें सुवर्ण पूरित कोश स्वर्गीय ज्योति से प्रकाशित था।

(२) **सरयूः सिन्धुरूर्मिभिर्महो मही रव सायन्तु वक्षणि।**
—ऋग्वेद १०।५।६४।८।

अर्थ—सरयू नदी अपनी महती तरंगों से हमारे यज्ञ की रक्षा के अर्थ यहां उपस्थित हो।

(३) **चत्वारिंशद् दशरथस्य शोणाः।—ऋग्वेद २।१।११।**

महाराज दशरथ के चालिस शोष। लाल रंग के विचित्र घोड़े थे।

(४) **अर्वाची सुभगे भव सीते। वन्दा महेहत्वा। —ऋग्वेद ३।८।९।**

हे सुभगे सीते ? हम आपको प्रणाम करते हैं। आप हमारे अनुकूल हों।

(५) **अह रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवाउ। ऋग्वेद १२५।६।**

भगवान् कहते हैं। मैं ही ब्रह्मद्वेषी राक्षसों का विनाश करने के लिए रामावतार धारण करके महादेव के धनुष को ज्या से युक्त करता हूँ।

(६) **इन्द्रः सीतां विगृह्णातु तां पुषानु यच्छतु। ऋग्वेद ३।८।९।**

राम सीता को ग्रहण करें और जनक जी उसे प्रदान करें।

(७) **विश्वामित्रो यदवहत् सुदासम्। —ऋग्वेद ३।३।२२।**

विश्वामित्र जी सुदासा गोत्रोत्पन्न रामजी को लिवा ले गए।

(८) **भद्रोद्रया सचमान आगात्। —साम० उत्तरार्थिक १५।२।१।३।**

सेवनीय रामचन्द्र जी पुण्यश्लोका सीता सहित वन में गए।

(९) **जारो न्भ्येति पश्चात्। —साम० उत्तरार्त्रिक १५।२।१।३।**

रामचन्द्र जी के चले जाने पर मायावी रावण जारबुद्धि से आया।

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्ण दशास्यः।
स सोमं प्रथमं ययौ स चक्रोरार संविषम्॥ —अथर्व ४।६।१।

पहले एक दशमुख और दश शिर वाला ब्राह्मण उत्पन्न हुआ। उसने प्रथम तो यज्ञानुष्ठान तपश्चर्या रूप अमृत पान किया, पश्चात् वर प्राप्त हो जाने पर उसे विष बना दिया अर्थात् शक्ति का दुरुपयोग किया।

सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निवितिष्टन्नुषद्भिर्वर्णैरभिराम मस्थात्। —साम उत्तरार्त्रिक १५।२।१।३।

सुन्दर चिह्नों से और दीप्तिमान् वर्णों से उपलक्षित द्युलोक की साधन-भूत रामपत्नी सीता सहित अग्निदेव रामचन्द्र के सन्मुख उपस्थित हुए।

अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्यभव्यस्य सम्राडेको विराजति । —यजु० १२।११७।

तेजो विवृद्ध रामचन्द्र जी भूत और भविष्यत् कालवर्ती राजाओं में अद्वितीय सम्राट् हुए, जो अपनी प्रिय प्रजा की समस्त कामनाओं को पूरा करते थे ।

वेदों के बाद वाल्मीकीय रामायण का नम्बर आता है । वेदों की रामकथाओं का उपबृंहण इसी रामायण में सर्वप्रथम हुआ गोस्वामी जी ने आदिकवि से इतिवृत्त और ढांचा दोनों लिए पर उसमें रंग अपना भरा अर्थात् जहां महर्षि राम की माधुर्य लीलाओं का गान करते हैं वहां गोस्वामी जो ऐश्वर्य की ओर भी इंगिन कराने से नहीं चूकते—

"प्राकृत जन अनुरूप"

ऊपरी ढांचा तो अविकल ले लिया । जैसे वाल्मीकीय रामायण में सात कांड हैं वैसे ही मानस में सात सोपान हैं , जबकि लौकिक काव्यों में नियमतः कम से कम १२ सर्ग होने चाहिए ।

'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई' के अनुसार चरित भी लिया है । 'तापस अन्ध साप सुधि आई' वाला संकेत रामायणानुसारी ही है। रामायण के बाद जाते हैं पुराण । अष्टादश पुराणों के कर्ता भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास माने जाते हैं । इन्हीं अष्टादश पुराणों में ब्रह्मांड पुराण भी है जिसका एक भाग मात्र अध्यात्म रामायण है । इस रामायण के वक्ता शिवजी और स्रोता पार्वती जी हैं । इस रामायण का प्रभाव मानस के ढांचे और कथा तक पर तो पड़ा ही, काव्य के नामकरण में भी गोस्वामी जी ने प्रेरणा ग्रहण की जैसे अध्यात्म अन्तर्जगत् का बोधक है वैसे ही मानस भी—

'रचि महेस निज मानस राखा'

अपने मानस में गोस्वामी जी ने इसी 'अध्यात्म' के प्रपत्ति रूप मंजिष्ठ रंग को घोला हैं । इसके अतिरिक्त प्रायः सभी पुराणों और महाभारत में भी रामकथा वर्णित है । भागवत और महाभारतान्तर्गत गीता से मानस में प्रभूत भाव लिए गए हैं । भक्ति निरूपण कलिवर्णन, वर्षा शरद् वर्णन आदि प्रसंग तो प्रायः अविकल भागवत से लेकर रख दिए गए हैं । भगवद्विभूतियों के वर्णन में तथा भक्ति-ज्ञान-वैराग्य की विवेचना में गीता से सहायता ली गई है । वस्तु संघटन और प्रसंग-योजना की दृष्टि से गोस्वामी जी पर सबसे अधिक उपकार आनन्द रामायण का है । इसके कर्ता भगवान् व्यास और वक्ता भगवान् शंकर बताए गए हैं । कहते हैं व्यास जी ने सौ करोड़ रामायणों की रचना की थी । प्रस्तुत आनन्द रामायण उक्त शत कोटि रामायणों का सारांश है—

'रामायन सत कोटि मह लिय महेस जिय जानि'

विभिन्न रामकथाओं में परस्पर भेदों का समाधान करते हुए आनन्द रामायणकार कहते हैं—

'कल्पभेद से राम के कितने ही अवतार हुए हैं और उन अवतारों में कुछ न कुछ भेद पड़ ही गया । यद्यपि राम की लीलाएँ प्रत्येक रामायण में वर्णित हैं, किन्तु उन सबों में कुछ न

कुछ भेद है ही स्वयं वाल्मीकि जी ने जो शतकोटि श्लोकात्मक रामायण बनायी है, उसमें भी अन्तर विद्यमान है। इस कारण हे शिष्य ! तुम किसी प्रकार का सन्देह न करके मैंने जो कुछ कहा है, उसे सच मानों।[1] गोस्वामी जी ने इसी को यों कहा है--

नाना भांति राम अवतारा। रामायन सतकोटि अपारा॥
कलप भेद हरि चरित सुहाये। भांति अनेक मुनीसन्ह गाए॥
करिअ न संसय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रति मानी॥

मानस के कितने ही प्रसंग और उक्तियाँ, जो गोस्वामी जी की स्वतन्त्र उद्‌भावनाएं एवं मौलिक रचनाएं जान पड़ती हैं, इस रामायण से आश्चर्यजनक रूप से साम्य रखती हैं। उदाहरणार्थ केवट पैर धोने के लिए राम से आग्रहपूर्वक कहता है—

आदावहं क्षालयित्वा पादरेणं स्तवप्रभो॥२४॥
पश्चान्नौकां स्पर्शयामि तव पादौ रघूद्वह। नोचेत्वत्पादरजसा स्पष्टनारी भविष्यति॥२५॥
क्षालयामि तव पादपंकजं नाथ दारु दृषदः किमंतरम्।
मानुषीकरण चूर्णमस्ति ते इति लोके हि कथा प्रथीयसी॥२६॥
अस्ति मे गृहिणी गेहे किं करोम्यपरांस्त्रियम्। इति तद्वाक्यमाकर्ण्य विहस्य रघुनंदनः॥२७॥[2]

इसी का रूपान्तर गोस्वामी जी करते हैं—

मांगी नाव न केवट आना। कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना॥
चरन कमल रज कहुं सबु कहई। मानुष करनि भूरि कछु अहई॥
छुवत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउं मुनि घरिनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई॥
एहिं प्रतिपालउं सबु परिवारू। नहि जानउं कछु अउर कबारू॥
जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

—०— —०— —०—

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे। विहँसे करुना ऐन चितइ जानकी लखन तव॥

मेरी राय में इसके अतिरिक्त गोस्वामी जी ने निम्नीय अवतरण और प्रसंग आनन्द रामायण के सार कांड से लिए हैं :—

(१) देव एकु गुन धनुष हमारे। नव गुन परम पुनीत तुम्हारे।
(२) देत चापु आपुहि चलि गयऊ। परसुराम मन विस्मय भयऊ॥
(३) छल करि टारेउ तासु व्रत प्रभु सुरकारज कीन्ह
(४) राम जन्म कर हेतु.....वाला प्रसंग

---

१. दे० आनन्द रामायण पूर्व कांड पृ० ७८३-८४, प्रका० पंडित पु० काशी।
२. आनंद रामायण सारकांड संभउ।

(५) असन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउं चरित भगत सुखदाता।।
(६) सेस सहस्त्र सीस जग कारन। सोइ अवतरेउ भूमि भय तारन।
(७) भई गिरा मति धूति
(८) दुइ वरदान भूप सन थाती। मानहु आज जुड़ावहु छाती।
सुतहि राजु रामहि बनवासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू।।
(९) सीता चरन चोंच हति भागा।
(१०) विधि विस्मय दायक विभय मुनिवर तप बल कीन्ह।
(११) बीतें अवधि जाउं जौं जिअत न पावउं वीर
(१२) अहै कुमार मोर लघु भ्राता
(१३) तुम पावक महं करहु निवासा। जब लगि करौं निसाचर नासा।।
(१४) रामानुज लघु रेख खंचाई। सोनहिं लाघेउ असि मन साईं।।
(१५) चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु।
(१६) विष्नु जो सुरहित नर तनु धारी। सोउ सर्वग्य जथा त्रिपुरारी।।
खोजइ सोकि अग्य इवनारी। ग्यान धाम श्रीपति असुरारी।।
(१७) पुनि पुनि हृदयं विचारु करि धरि सीता कर रूप।
आगे होइ चलि पंथ तेहिं जेहि आवत नर भूप।।
(१८) धरि बटु रूप देखु तें जाई। कहे सुजानि जियँ सयन बुझाई।।
(१९) एक रूप तुम भ्राता दोऊ। तेहिं भ्रम ते नहिं मारेउं तेऊ।।
(२०) मेली कंठ सुमन की माला
(२१) कह बाली सुनु भीरुप्रिय समदरसी रघुनाथ।
जौं कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउं सनाथ।।
(२२) विटप ओट देखहिं रघुराई
(२३) गहि बांह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिए।
(२४) सुनु हनुमंत संग ले तारा। करि विनती समुझाउ कुमारा।।
(२५) जेहि सापक मारा मैं बाली।
तेहि सर हतौ मूढ़ कहं काली।।
(२६) पदुम अठारह जूथप बन्दर।
(२७) वानरों का विवर प्रवेश एवं स्वयं प्रभा से भेंट—
दीखजाइ उपवन वर सर विगसित बहुकंज।
मंदिर एक रुचिर तहं बैठि नारि तप पुंज।।
नयन मूंदि पुनि देखहिं वीरा। ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा।।
सो पुनि गई जहां रघुनाथा.....।
(२८) सुनिसंपाति बंधु के करनी....मोहि लै जाहु सिंधुतट

देउं तिलांजलि ताहि....मैं देखहुं तुम नाहीं गीधहिं दृष्टि अपार

(२९) मुनि एक नाम चंद्रमा ओही

(३०) निज निज बल सब काहू भाखा। पार जाय कर संसय राखा।

(३१) जस जस सुरसा वदन बढ़ावा....वदन पैठि पुनि बाहर आवा

(३२) कह मैनाक होहु श्रमहारी।

(३३) निसिचर एक सिन्धु महं रहई....।

(३४) नाम लंकिनि एक निसिचरी। सो कह चलेसि मोहि निंदरी..

(३५) तरु पल्लव मंह रहा लुकाई

(३६) तेहि अवसर रावन तह आवा। संग नारि बहु किए बनावा।

(३७) तृन धरि कोट कहत बैदेही....पुरो डास चह रासभ खावा।

(३८) उलटा होइहि कह हनुमाना

की उक्ति गोस्वामी जी को आनन्द रामायण की निम्नीय पंक्तियों से सूझी होगी—

तथा यास्यत्युच्चै विपद मनुजेनाऽजटिलोजयः।

श्रीरामेस्यान्न मम बहुतो षोडत्रतु भवेत् ॥८१॥

तद् रावण क्वः श्रुत्वा जानकी प्राहतं पुनः षष्ठाक्षर पराण्येव चतुर्षु च रणेष्वपि।

अर्थात् जानकी ने कहा चारों चरणों में छठें अक्षर तथा आगे वाले चारों सप्तम अक्षरों का लोप करके तुम इसी श्लोक को फिर से पढ़ो। कहने का तात्पर्य यह है कि ८१ वें श्लोक में से चारों चरणों के चि न वि और न चार अक्षर निकल जाने से यह अर्थ होगा कि लंका में दशवदन रावण के ऊपर शीघ्र ही विपत्ति आयेगी। ....आदि

(३९) त्रिजटा का स्वप्न—यह सपना मैं कहौं विचारी.....।

(४०) स्रवनामृत जेहिं कथा सुहाई। कही सौ प्रगट होति किन भाई।

(४१) सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुन्दर फल रूखा।

(४२) रहा न नगर बसन घृत तेला....।

(४३) जौन न होत सीता सुधि पाई। मधुवन के फल सकइ को खाई।

(४४) प्रति उपकार करौं का तोरा....।

(४५) संधानेउ प्रभु विसिख कराला। उठी उदधि उर अंतरज्वाला।

(४६) करिहौं इहां संभु थापना। मोरे हृदय परम कल्पना।

(४७) बूड़हिं आनहिं बोरहिं जेई। भए उपल बोहित सम तेई।

महिमा यह न जलधि कह बरनी। पाहन गुन न कविन की करनी।

श्री रघुवीर प्रतापते सिंधु तरे पाखान।

ते मति मंद जे राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन॥

(४८) शुक प्रसंग

(४९) माल्यवान निष्कासन

(५०) मेघनाद सम कोटि सत जोधा रहे उठाइ।
जगदाधार सेष किमि उठै चले खिसिआइ॥
(५१) नहिं अघाउं थोरे जल
(५२) सर पैठत कपि पद गहा मकरीं तब अकुलान....
(५३) कह कपि मुनि गुर दछिना लेहू....।
(५४) परेउ मुरुछि महिलागत सायक।
सुमिरत राम राम रघुनायक॥
(५५) नारद मुनि मोहि ग्यान जो कहा। कहतेउं तोहि समय निरबहा॥
(५६) मेघनाद तप करइ अपावन। खल मायावी देव सतावन॥
(५७) तेहि कारन करुना निधि कहे कछुक दुर्वाद।
(५८) सुधा वृष्टि भइ दुहुं दल ऊपर।
(५९) अमित रूप प्रकटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कपाला।

स्वर्गीय बा० रामदास गौड़ ने अपने 'हिन्दुत्व' में अगस्त्य रामायण और मंजुल रामायण की भी चर्चा की है और मानसगत भानुप्रताप की कथा का उद्‌गम वे इन्हीं रामायणों को बताते हैं पर मानस राजहंस पं० विजयानन्द त्रिपाठी उक्त रामायणों के अस्तित्व में सन्देह करते हैं।

'कलि के कविन करौं परनामा' से कालिदास, भवभूति, दामोदर मिश्र, जयदेव आदि संस्कृत कवियों और नाटककारों का ग्रहण होगा। इनमें जयदेव के 'प्रसन्नराघव' से गोस्वामी जी ने बहुत प्रभाव ग्रहण किया है। जनक की वाटिका में, विवाह के पूर्व, राम और सीता का मिलन करा कर गोस्वामी जी ने जी पूर्व राग की योजना की है, वह प्रसन्नराघव की देन है। अनेक ललित उक्तियां गोस्वामी ने इस ग्रंथ से लेकर मानस में समाविष्ट की हैं। रघुवंशादि का भी अनुसंधान किया है। उन सबको उद्‌घृत करने से व्यर्थ ही 'बाढ़इ कथा पार नहीं लहई' की स्थिति खड़ी होगी। अतः जिज्ञासु जन तत्तत ग्रंथों को देखकर अपना कुतूहल शान्त करें।

प्राकृत और भाषा के कवियों का भी उल्लेख आपने किया है, सो प्राकृत में सेतुबन्ध काव्य से तात्पर्य हो सकता है और भाषा में केशवदास, सूरदास आदि महाकाव्यों से। कुछ सनसनीखेज खोजों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि अपभ्रंश के प्रसिद्ध जैन कवि स्वयंभू के पद्‌मचरित या रामचरित से तुलसीदास ने और मामला तो उड़ाया ही नाम तक उड़ा लिया।[1] अर्थात् 'सम्भु कीन्ह यह चरित सुहावा' से उक्त स्वयंभू कवि की ओर ही संकेत है। पर यहां यह बात ध्यान रखने की है कि जब कबीर के राम को गोस्वामी जी नहीं अपना सके तब जैन और बौद्ध रामायणों के राम को तो भला वे अपना ही कैसे सकते थे। जैनों के बारे में वे लिखते हैं—

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्रथम भाग) पृ० २४१।

ईस सीस बिलसत विमल तुलसी तरल तरंग।
स्वान सरावग के कहें लघुता लहै न गंग॥

बुद्ध के बारे में तो निम्नीय दोहा प्रसिद्ध है—

तुलसी महिमा वेद की तुलसी किए विचार।
जेहिं निंदत निंदित भयो विदित बुद्ध अवतार॥

अस्तु, गोस्वामी जी ने उन्हीं कृतियों से सहायता ली है जिन्होंने भगवान् का सादर गान किया है—'जिन सादर हरिचारितबखाने'

दक्षिण के प्रसिद्ध तमिल कवि कंब की रामायण से भावापहरण करने का आरोप भी कुछ लोग गोस्वामी जी पर करते हैं। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना अलम् होगा कि 'मुख-मस्तीति वक्तव्यं'

भाषा में काव्य रचना की प्रेरणा

जैन और बौद्ध आचार्य, सर्वसाधारण में अपने-अपने मतों के प्रचार और संस्कार के लिए स्वकीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन संस्कृत के साथ प्राकृत और अपभ्रंश में भी करते थे।[1] प्राकृत से बिगड़ कर जो रूप बोलचाल की भाषा ने ग्रहण किया, वह भी आगे चलकर कुछ पुराना पड़ गया और काव्य रचना के लिए रूढ़ हो गया। अपभ्रंश नाम उसी समय से चला। जब तक भाषा बोलचाल में थी तब तक वह भाषा या देश भाषा ही कहलाती रही, जब वह भी साहित्य की भाषा हो गई तब उसके लिए अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा। अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी में रचना होने का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी में मिलता है। पीछे वज्रयान शाखा के सिद्धों की कृतियों में उक्त प्राकृताभास हिन्दी के नमूने मिलते हैं। सं० ९९० वि० में दोहों में लिखी एक देव सेन नामक जैन कवि की 'श्रावकाचार' नाम की पुस्तक मिलती है। इन्हीं की 'दव्व-सहाव प्रयास' नामक दोहों में ही लिखी एक और पुस्तक बतायी जाती है। इसके बाद श्रुतिपंचमी कथा, योगसार, जसहर चरिउ, प्रणयकुमार चरिउ आदि अनेक रचनायें प्रकाश में आयीं। ध्यान रहे कि ये सब चरित काव्य हैं और इनमें दोहे चौपाइयों का व्यवहार किया गया है। पुष्पदंत के आदित्यपुराण और उत्तरपुराण भी चौपाइयों में हैं।[2]

यह पहले बताया जा चुका है कि जैनों और बौद्धों का लक्ष्य धर्म प्रचार करना था। वे यह अच्छी तरह समझते थे कि पढ़े-लिखे वेदशास्त्रज्ञ विद्वानों के बीच उनकी दाल गल नहीं

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ७।
२. चौपाई-दोहे की यह परंपरा हम आगे चलकर सूफियों की प्रेम-कहानियों में, तुलसी के रामचरित मानस में तथा छत्र प्रकाश ब्रजविलास, सबलसिंह चौहान के महाभारत इत्यादि अनेक आख्यान-काव्यों में पाते हैं। हिन्दी साहित्य का इतिहास—आ० शुक्ल, पृ० ९।

सकती। इसलिए अपढ़ जनता में, जो संख्या में बहुत अधिक थी, वे घुसे। बोलचाल की भाषा में बातें ठीक ढंग से समझायी जा सकती हैं। अतः उन्होंने उसी सर्वमान्य व्यापक काव्य भाषा को अपने प्रचार का माध्यम बनाया जो उस समय गुजरात, राजपूताने और ब्रजमंडल से लेकर बिहार तक लिखने-पढ़ने की शिष्ट भाषा थी। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि वज्रयानी सिद्ध देश के पूरबी भाग में और नाथपंथी जोगी पच्छिमी भाग में अपने अड्डे जमाये हुए थे। पुरानी हिन्दी की व्यापक काव्य भाषा का ढांचा शौरसेनी प्रसूत अपभ्रंश अर्थात् ब्रज और खड़ी बोली (पच्छिमी हिन्दी) का था। सिद्धों का यद्यपि प्रचार क्षेत्र देश का पूर्वांचल था जहां मागधी प्राकृत का बोलबाला था फिर उनके उपदेश की भाषा पुरानी टकसाली हिन्दी (काव्य भाषा) है, पर गीत की भाषा पुरानी बिहारी या पूरबी बोली है। यही भेद आगे चलकर कबीर की साखी और रमैनी की भाषाओं में लखाई पड़ता है।

हिन्दी में भक्ति के क्षेत्र में जो निर्गुण धारा बही उसकी भाषा, भाव और संस्कार सभी उक्त अभारतीय तत्वों से प्रभावित हुए। बाह्य पूजा, जाति पांति, तीर्थाटन इत्यादि के प्रति उपेक्षा बुद्धि का प्रचार करना सिद्धों, योगियों आदि की विशेषता थी। वे पूरे रहस्यदर्शी बनकर शास्त्रज्ञ विद्वानों का तिरस्कार करते थे एवं मनमाने रूपकों के द्वारा अटपटी बानी में पहेलियां बुझाते थे। घर के भीतर चक्र, नाड़ियां शून्य देश आदि मानकर साधना करने की बात फैलाई और नाद, बिंदु, सुरति, निरति ऐसे शब्दों की उद्धरणी करना सिखाया। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य क्षेत्र में अवतीर्ण होने पर गोस्वामी जी को काव्य भाषा के दो रूप और रचना की पांच मुख्य शैलियां मिलीं। भाषा के दो रूप-ब्रज और अवधी थे और शैलियां निम्नीय पांच थीं—(१) वीरगाथाकाल की छप्पय पद्धति, (२) विद्यापति और सूरदास की गीत पद्धति, (३) गंग आदि भाटों की कवित्त सवैया पद्धति, (४) कबीरदास की नीति सम्बन्धी बानी की दोहा पद्धति जो अपभ्रंश काल से चली आती थी, और (५) ईश्वरदास की दोहे चौपाई वाली पद्धति। दंभी जनता पर कैसे संस्कार डाल रहे थे, यह गोस्वामी जी के ही शब्दों में सुनिये—

सुति संमत हरि भक्ति-पथ संजुत बिरति बिवेक।
तेहि परिहरहिं बिमोहबस कल्पहिं पंथ अनेक॥
साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।
भगत निरूपहि भगति कलि निंदहिं वेद पुरान॥
बादहिं शूद्र द्विजन सन हम तुमतें कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर आंखि देखावहिं डांटि॥

ऐसी अवस्था में, जनसाधारण के बीच, अपनी वाणी का संचार कर शुद्ध भारतीय संस्कृति और लोकधर्म का उद्धार करना गोस्वामी जी को आवश्यक प्रतीत हुआ! संस्कृत व्यावहारिक और बोधगम्य भाषा नहीं रह गई थी।[1] दूसरे उसमें बहुत विधि निषेध भी

---

१. **का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए सांच।**
काम त आवे कामरी काह करै कमांच। दोहावली।

थे।[१] इसीलिए 'सुरसरिसम सब कर हित होई' का सिद्धान्त उससे चरितार्थ नहीं हो पा रहा था। अगत्या गोस्वामी जी को ग्राम्य गिरा में 'सिया राम' के यश का गान करना पड़ा। उन्होंने विधि निषेधयुक्त संस्कृत रूपी कपिला की अपेक्षा सर्वजन सुलभ भाषारूपी श्यामा को उत्तम ठहराया--

स्याम सुरभि पय बिसद अति गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस गावहिं सुनहिं सुजान।।

उपयोगिता की दृष्टि से भाषा का व्यतिरेक भी सिद्ध किया।[२] इसके अतिरिक्त 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' तो होता ही है।

गोस्वामी जी रामानुजाचार्य जी के श्री संप्रदाय से संबंधित बताये जाते हैं। रामानुजाचार्य जी की सारी रचनाएं संस्कृत में मिलती हैं और उनके संप्रदाय में दीक्षा केवल द्विजातियों को दी जाती थी। पर आपके परवर्ती आचार्य रामानन्द जी की हिन्दी रचनाएं भी मिलती हैं। प्रसिद्ध है कि ये समाज के लिए वर्ण और आश्रम की व्यवस्था मानते हुए भिन्न कर्तव्यों की योजना स्वीकार करते थे। कर्म के क्षेत्र में इन्हें शास्त्र मर्यादा मान्य थी, पर उपासना के क्षेत्र में किसी प्रकार का लौकिक प्रतिबंध ये नहीं मानते थे। भक्ति के क्षेत्र में इनकी उदारता का भी कुछ प्रभाव पड़ा ही। यद्यपि शुद्ध भारतीय भक्ति मार्ग में, भागवत, महाभारत काल से ही वर्ण व्यवस्था कभी बाधक नहीं हुई--समता भारतीय भक्ति मार्ग का ऋक्थ रही है। फलतः "राम भक्ति का वह परम विशद साहित्यिक संदर्भ इन्हीं भक्त शिरोमणि (गो० तुलसीदास) द्वारा संघटित हुआ जिससे हिन्दी काव्य की प्रौढ़ता के युग का आरम्भ हुआ।"[३]

दार्शनिक प्रभाव

गोस्वामी जी की दार्शनिक मान्यता क्या थी, इस पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। म० म० पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी स्व० पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी, स्वामी करपात्री जी महाराज, श्री नगेन्द्रनाथ वसु प्रभृति विद्वान् एक स्वर से गोस्वामी जी को अद्वैतवादी सिद्ध करते हैं।[४]

बा० श्यामसुन्दर दास जी के अनुसार गोस्वामी जी अद्वैतवादी अवश्य थे पर उनका

---

१. स्त्री शूद्रों के लिए यह भाषा निषिद्ध थी।
२. देखिए--का भाषा का संस्कृत......
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास--आचार्य शुक्ल।
४. देखिए तुलसी ग्रन्थावली तृतीय खंड पृ० १२७, हिन्दी विश्वकोई भाग ९ पृ० ६८६, कल्याण जुलाई ३७-गो० तुलसीदास के दार्शनिक तत्व।

अद्वैत शंकराचार्य के अद्वैत से भिन्न प्रतीत होता है। कारण शंकराचार्य माया की सत्ता कतई स्वीकार नहीं करते जबकि तुलसी राम के बल पर उसकी सत्यता का उद्घोष करते है।[1]

आचार्य पं० केशव प्रसाद मिश्र की दृष्टि में तुलसीदास द्वैतवाद के अधिक निकट हैं। वे कहते हैं 'यों तो गोस्वामी जी की समन्वय बुद्धि सभी दार्शनिक सिद्धान्तों में अविरोध देखती है, सभी को यथास्थान महत्व देती है और सभी पक्षों का समर्थन करती है, पर उनके प्रस्थान के अनुरोध तथा ग्रंथ के उपक्रम और उपसंहार के विचार से द्वैतसिद्धान्त और भक्ति में ही उसका (दार्शनिक दृष्टिकोण) पर्यवसान प्रतीत होता है।[2]

गोस्वामी जी विशिष्टाद्वैतवादी थे, ऐसा मत रखने वालों में जयरामदास दीन, डा० बलदेव प्रसाद मिश्र[3] और आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल हैं। मुझे आचार्य शुक्ल के विचार सर्वाधिक सुसंगत लगते हैं। उन्होंने ठीक ही लिखा है कि 'परमार्थ दृष्टि से—शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से—तो अद्वैत मत गोस्वामी जी को मान्य है, पर भक्ति के व्यावहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं।'

कहीं तो वे ईश्वर और जीव में भेद बताते हुए कहते हैं—

माया-वस्य जीव अभिमानी। ईसबस्य माया गुन खानी।।
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता।।

पर तुरंत पारमार्थिक दृष्ट्या अद्वैत पक्ष पर लाते हुये कहते हैं कि ये भेद यद्यपि मायाकृत हैं—परमार्थतः सत्य नहीं हैं—पर इन्हें मिटाने के लिए ईश्वर को स्वामी मानकर भक्ति करनी पड़ेगी।

मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया।

निम्नीय पंक्ति से अद्वैत के प्रति असंतोष व्यंजित होता है—

जे मुनि ते पुनि आपुहि आपुको ईस कहावत सिद्ध सयाने।।

यहाँ एक बात ध्यान रखने की है कि गोस्वामी जी भक्त थे और भक्ति के लिए विशिष्टाद्वैत अधिक अनुकूल पड़ता है।[4] वह द्वैत और अद्वैत का माध्यम है। माधवाचार्य जी ने अपने क्यों, (उत्तरार्द्ध पृ० ४१५) में गंगा नदी के दृष्टान्त से इस तत्व को समझाया है। वे कहते हैं कि जैसे गंगा के दोनों तट एक दूसरे से सर्वथा भिन्न जान पड़ते हैं परन्तु ब्रह्मद्रव रूप गंगा का प्रवाह युगपद् एवं एक समय में ही उन दोनों तटों का समान रीति से स्पर्श

---

१. गो० तुलसीदास अध्याय १३—श्यामसुन्दरदास।
२. कल्याण मानसांक, खंड २ पृ० ९७०।
३. देखिए गोस्वामी श्री तुलसीदास और अद्वैतवाद—मानसरहस्य—जयरामदास दीन
तुलसी दर्शन पृ० २१३, पं० बलदेव प्रसाद मिश्र।
४. दे० गोस्वामी तुलसीदास—आचार्य शुक्ल।

करता हुआ अबाध गति से आगे बढ़ता-बढ़ता अन्त में महासागर में विलीन हो जाता है। ठीक उसी प्रकार द्वैत और अद्वैत ये दोनों ब्रह्म विचारधारा के महातट हैं जो एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्व में सिर ऊँचा किए सदैव अपने-अपने स्थान पर अडिग रूप से खड़े रहते हैं। ब्रह्म की विचारधारा उक्त दोनों तटों से कभी बाहर जा ही नहीं सकती।

यहाँ यह बताना इष्ट है कि जैसे गोस्वामी जी ने पूर्व कथित अनेक बातों में परम्परा का ध्यान रखा है, वैसे ही उनका दार्शनिक मतवाद भी परम्परा संमत है। उन्होंने किसी नए पंथ का प्रवर्तन नहीं किया अपितु 'श्रुति संमत हरिभक्ति पथ'—जो विरति और विवेक से युक्त था— के अनुयायी बने रहे। उन्हें इस बात का दुःख था कि सर्वथा निर्दोष भारतीय भक्ति मार्ग के रहते हुए कुछ दंभियों ने नए नए मतों की कल्पना कर अनेक पंथ क्यों चलाए। यहां सम्प्रदाय और पंथ में अंतर समझ लेना चाहिए। सम्प्रदाय किसी सिद्धान्त की अविच्छिन्न परम्परा को कहते हैं जबकि पन्थ स्वयंभू होने का दावा करता है। पन्थ वेदादि शास्त्रों में विश्वास नहीं करता।

विशिष्टाद्वैतवाद की परम्परा श्रीमन्नारायण भगवान् से आरम्भ होती है—

लक्ष्मीनाथ समारंभां नाथ मामुनमध्वमाम्।
अस्मदाचार्य पर्यन्तां वन्दे गुरु परम्पराम्॥

भगवान् ने सर्व प्रथम इस बात की दीक्षा लक्ष्मी जी को दी। इसीलिए विशिष्टाद्वैतवाद को श्री सम्प्रदाय भी कहते हैं।

रसादि की मर्यादा

ज्ञानबोध वृत्ति के भीतर आता है और भक्ति रागात्मिकावृत्ति के भीतर। इसलिए भक्ति काव्य का विषय है। ज्ञान सबके लिए सहज संप्रेषणीय नहीं पर भक्ति हृदय रखने वाले मात्र की निज संपत्ति (रिक्थ) है।[1] भक्ति सहृदय हृदय संवेद्य है। गोस्वामी जी कहते हैं कि उनका हृदय पत्थर है जो भक्ति नहीं करते—

जीवन मुक्त ब्रह्म पर चरित सुनहिं तजि ध्यान।
जे हरि कथा न करहिं रति तिन्ह के हिय पाखान॥

वे डंके की चोट कहते हैं—

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृहत्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥

---

१. प्राणिमात्रस्य भक्तावधिकारः, ब्रह्म विधा यान्तु साधन चतुष्टय सम्पन्नस्य परमहंस परिव्राजकस्य भक्ति रसायन, प्रथम उल्लास, पृ० २६।
अर्थात् प्राणिमात्र का भक्ति में अधिकार है यानी प्राणिमात्र भगवान् की भक्ति कर सकता है किन्तु ब्रह्मविद्या का अधिकारी वही है जो साधन चतुष्टय सम्पन्न परमहंस परिव्राजकाचार्य हो।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान और भक्ति ये दोनों भगवत्प्राप्ति के प्राचीन साधन हैं[1] और साध्य की दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं—

ग्यानहिं भक्तिहिं नहि कछु भेदा। उदय हरहिं भव संभव खेदा।।

पर ज्ञान-निर्गुण निराकार ब्रह्म-काव्य का विषय नहीं हो सकता। काव्य का विषय तो भक्ति ही हो सकती। सगुण साकार भगवान् ही भक्ति के आलंबन हो सकते हैं।[2] भक्ति और ज्ञान का स्वरूप लक्षण मधुसूदन सरस्वती ने बड़ा सुन्दर किया है—'चित्त का द्रवीभाव हो जाने पर सविकल्पक वृत्ति रूप से मन का भगवदाकार होना ही भक्ति है और चित्त का द्रवीभाव हुए बिना ही अद्वितीय आत्मपात्र का साक्षात्कार होकर निर्विकल्पक वृत्ति ब्रह्मविद्या (ज्ञान) कहलाती है।' आचार्य शुक्ल ने 'काव्य में रहस्यवाद ग्रंथ में इस विषय को बड़े विद्वत्तापूर्ण ढंग से स्पष्ट किया है। यहाँ कहना यह है कि गोस्वामी जी ने प्रकृत भारतीय भक्ति मार्ग के अनुसार अपने काव्य का आलंबन सगुण साकार ब्रह्म को बनाया—ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा'

गोस्वामी जी की भक्ति भारतीय रस सिद्धान्त की कसौटी पर खरी उतरती है और 'रसोवैसः' को चरितार्थ करती है।

परम्परा और साहित्यिक मर्यादा की रक्षा का प्रयत्न गोस्वामी जी पदे-पदे करते दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने त्रिविध शैलियों में मंगलाचरण किया है। अपनी सम्प्रदायगत मान्यताओं और आग्रहों का विसर्जन करके कहीं-कहीं उन्होंने अपनी विशाल हृदयता का परिचय दिया है और इस प्रकार अपने समान धर्माओं के संमुख एक अनुकरणीय आदर्श रखा। ग्रंथारंभ में इष्टदेव राम की वन्दना न करके वाणी ओर विनायक की वन्दना जो उन्होंने की है वह उनका कोई क्रान्तिकारी कदम नहीं वरन् उसे उनकी परम्परा प्रियता ही सूचित होती है।

पुराने अप्रस्तुतों, विश्वासों, साहित्यिक रूढ़ियों और कवि समय सिद्धियों का व्यवहार उन्होंने पूरी-पूरी रसात्मकता के साथ एवं समीचीन ढंग से किया है। उनके द्वारा अंकित वस्तु व्यापार योजना इसी जगत् की है और भाव उसी रूप में व्यंजित होते हैं जिस रूप में उनकी अनुभूति जीवन में होती है या हो सकती है। उनके गीत भी सबकी अनुभूति के मेल में है फिर प्रबन्धगत अनुभूति की संप्रेषणीयता का तो कहना ही क्या। उन्होंने अपने समय की लोक-रुचि और साहित्यिक रूढ़ियों का सन्निवेश यद्यपि मानस में किया है, यथा जयदेव के प्रसन्न-राघव नाटक की देखादेखी प्रेमाख्यानी रंग देने के लिए 'फुलवारी' की योजना की है पर इससे

---

१. **लोकेस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।**
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।। ३।३।। गीता।

२. **बिनु अधार मन तोष न सांती**
साधन कठिन न मन कहं टेका

मर्यादा का रंचमात्र भी अतिक्रमण नहीं हुआ है। यद्यपि सीता और राम एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हैं पर दोनों अपने को अपने-अपने गुरुजनों के अधीन पाते हैं। सीता गौरी पूजन के लिए माता द्वारा भेजी जाने पर फुलवारी में पधारती हैं[1] और राम गुरु की आज्ञा से फूल लेने आते हैं। इस प्रकार इन लोगों का मिलन आकस्मिक होता है और होता है उच्च कुल की उस मर्यादा के साथ जो जीवन गांभीर्य लिए हुए हैं। आवारा आशिक माशूकों-सा यह मिलन नहीं है। दोनों में लज्जा संकोच है और साथ ही यह भय भी कि गुरुजन देर का कारण पूछेंगे तो क्या उत्तर दिया जायगा।

'रासों' नाम से प्रचलित वीरकाव्यों में वीर नायक अपने विरोधियों को परास्त करने के उपरान्त नायिका को ले जाता था। वीर गाथा काल के पहले से ही वीर-काव्यों की यह परिपाटी चली आती थी कि नायिका को प्राप्त करने के पहले नायक के मार्ग में अनेक प्रकार की बिघ्न-बाधायें खड़ी होती थीं जिन्हें नायक अपना अद्‌भुत पराक्रम दिखाता हुआ दूर करता था। कहना न होगा कि गोस्वामी जी ने उक्त काव्यगत परिपाटी की रक्षा के लिए, वाल्मीकीय रामायण के विरुद्ध, विवाह से पहले ही परशुराम संवाद की योजना कर दी है।[2] इसे रसात्मकता की मात्रा बढ़ाने की काव्ययुक्ति समझना चाहिए।

शकुनादि के विचार जो हमारे श्रद्धाविश्वास से संपृक्त हो गए हैं, मानस में खूब मिलते हैं।

हंस, चकोर, चातक वाली कवि समय सिद्धियां तो पूरे ग्रन्थ में यहां से वहां तक फैली हुई हैं।

अब रही रसों की मर्यादा। कतिपय विद्वानों के मतानुसार रसों की सीमा निश्चित नहीं की जा सकती। उनकी संख्या बढ़ भी सकती है। नौ की संख्या तो उपलक्षण मात्र है। पर रस गंगाधरकार इस मामले में भरत मुनि को प्रमाण मानते हैं। वे कहते हैं कि भरत मुनि ने जो संख्या नियत कर दी है, उससे कमवेश नहीं हो सकता। भक्ति को अनेक कवियों ने स्वतंत्र रस माना है पर पंडितराज उसे देवविषयक रतिमात्र मानते हैं, स्वतंत्र रस नहीं। कहना न होगा कि गोस्वामी जी ने इस मर्यादा के संमुख अपने को नतमस्तक घोषित किया है—'नवरसजपतपजोग विरागा'

कुछ रसों को लेकर उन्होंने अप्रस्तुत योजना भी की है।

'आस्रम सागर सान्त रस पूरन पावन पाथ'।
जनु करुना महं वीर रस

---

१. बाल्मीकीय रामायण : लंका कांड में मर्यादा पुरुषोत्तम राम पर्दे की मर्यादा निश्चित करते हुये कहते हैं कि 'यज्ञ में 'धार्मिक उत्सव में, विवाह में विपत्ति में और पति के साथ बाहर निकलने में स्त्री को दोष नहीं है।'

२. गोस्वामी तुलसीदास : पृ० ८३-८४ आचार्य शुक्ल।

गोस्वामी जी एक स्थान पर दबी जबान 'भक्ति रस' की स्वतंत्र सत्ता सूचित करते से लगते हैं।

'राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समय गनेस'

किन्तु उसके लिए कोई विशेष आग्रह नहीं करते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोस्वामी जी ने न कहीं कल्पना के विश्वामित्र बनने का जोश दिखाया है और न अगुआ या प्रवर्तक होने की साध प्रदर्शित की है फिर भी जैसे वसन्त में पुराने वृक्ष भी नवकोपलों से युक्त हो नयनाभिराम लगते हैं, समुद्र का खारा जल मेघों द्वारा बरसे जाने पर सुस्वादु और मंगलकारी हो जाता है और युवती का लावण्य हाथ पांव आदि अंगों से भिन्न अलग ही अपनी सुषमा दिखाता है, वैसे ही तुलसी का मानस भी सम्प्रति समाज के लिए 'मधुर मनोहर मंगलकारी' सिद्ध हो रहा है। वह 'सुखद सीत रुचि चारु चिराना है, उसमें सन्देह नहीं।

सूर सूर तुलसी ससी उक्ति का रहस्य—

उक्त उक्ति सर्वथा निरर्थक नहीं है वरन् कहना चाहें तो कह सकते हैं कि सूर, तुलसी और केशव की त्रयी रीतिकाव्य-धारा की प्रेरणास्रोत रही है। भक्ति काव्य से रीति काव्य अवश्य प्रभावित हुआ। वर्ण्य, आलंबन तो उसने कृष्ण भक्ति वालों का लेकर उसे सामाजिक औचित्य के भीतर रखा, अन्यथा परकीया की उक्तियां बाजारू हो जातीं और काव्य का सामाजिक महत्व नष्ट हो जाता। ....परकीया की उक्तियां उन्हें कहनी पड़ीं फारसी काव्य के जोड़ तोड़ में, राज सभाओं में बड़प्पन के लिए। भाषा का आदर्श मिला-जुला हुआ। ब्रजी अवधी का पूरबी-पछाहीं का मेल करना पड़ा। सूरदास ने परवर्ती हिन्दी साहित्य को आलम्बन दिया पर भाषा इनकी नहीं ली गई। परवर्ती हिन्दी साहित्य में जो भाषा सर्व सामान्य हुई वह ब्रजी और अवधी से मिश्रित खिचड़ी है। ढाँचा ब्रजी का होने पर भी अवधी के केवल शब्द ही नहीं प्रयोग भी उसमें बेखटके रखे जाने लगे। इन पश्चिमी (ब्रजी) और पूर्वी (अवधी) दोनों भाषाओं को मिश्रित किया तुलसीदास ने। इस प्रकार परवर्ती शृङ्गार काल की भाषा उन्हीं की देखा देखी उन्हीं के आदर्श पर मिश्रित हुई। तुलसीदास की भाषा का आदर्श स्वीकार करने पर भी शैली उनकी नहीं ली गई। उन्होंने अनेक प्रकार की शैलियों में निर्माण किया, उन शैलियों में कवित्त सवैयों की भी एक शैली है, जिसमें कवितावली लिखी गई है। यह उनकी प्रमुख शैली नहीं है। उनकी प्रमुख शैली दोहे चौपाइयों वाली है जिसमें रामचरित मानस का निर्माण हुआ रामायण की यह शैली रामायनी या रमैनी हो गई। इसी से कबीर जैसे संतों की दोहे चौपाई की रचना का नाम ही रमैनी पड़ गया। पर परवर्ती साहित्य उस शैली को ग्रहण नहीं कर सका। सूर की पदों की शैली भी गृहीत नहीं हुई। केशवदास की प्रधान शैली कवित्त सवैयों की है। परवर्ती साहित्य ने प्रधान रूप से यही शैली स्वीकृत की। अलंकार चमत्कार की वृत्ति भी साथ ही गृहीत हुई। निष्कर्ष यह कि शैली की देन केशवदास की है। काव्य

विषय से कम महत्व काव्य भाषा का और काव्य भाषा से भी कम महत्व काव्य शैली का होने से इन तीनों कवियों से प्राप्त प्रभाव में तारतम्य रखा गया है।

सूर सूर तुलसी ससी............

शौरसेनी प्राकृत संस्कृत शब्द का आकलन अधिक करती है। यही विशेषता शौरसेनी अपभ्रंश या नागर अपभ्रन्श की है। इसके विपरीत अर्धमागधी प्राकृत और अर्ध-मागधी अपभ्रन्श में प्राकृत की, जनप्रचलित शब्दों की, ठेठ शब्दों की प्रवृत्ति अधिक थी। जैनों के अर्ध मागधी अपभ्रंश या अवधी भाषा में ठेठ का ग्रहण अधिक है। अवधी की प्रकृति ठेठ शब्दों की है। तुलसीदास ने संस्कृत का शौरसेनी या ब्रजी का मेल करके उसे सर्वसामान्य ब्रजभाषा की प्रतिद्वन्द्विता में खड़ा किया। रीतिकाल के कवियों ने इसी खिचड़ी भाषा को ग्रहण किया।

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार॥

केवल ब्रजी की कर्मणि कर्तरि प्रवृत्ति बनी रही, अवधी की भांति केवल कर्तरि नहीं हुई तथा ब्रजी के कृदन्तों के ओकारान्त रूप भी जहां-तहां आते रहे। ब्रजी के प्रसिद्ध कवि रत्नाकर जी तक तुलसी से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे, जिनकी रचनाओं में अनेक पूर्वी प्रयोग आ ही गए।[1]

आचार्य मिश्र के लंबे अवतरण से यह सिद्ध होगया कि गोस्वामी जी ने ब्रजभाषा की प्रतिद्वन्द्विता में किस प्रकार काब्य भाषा का एक स्थिर एवं शिष्टसंमत स्वरूप निर्द्धारित किया। यही नहीं वरन् विभिन्न भाषाओं, विभाषाओं एवं आवश्यकता पड़ने पर विदेशी भाषाओं तक से शब्द संकलन का एक उदार दृष्टिकोण उन्होंने प्रस्तुत किया। उन्होंने अपने समय की सभी प्रमुख काव्य प्रणालियों का सन्निवेश अपनी रचनाओं में किया और प्रचलित काव्य भाषाओं संस्कृत, प्राकृत, ब्रजी, अवधी में अपनी पटुता प्रदर्शित की। भाषा और साहित्य दोनों में उन्होंने उपयोगितावाद का माहात्म्य स्वीकार किया 'का भाषा का संस्कृत' 'कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सबकर हित होई' 'उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं आदि उक्तियों से उनका भाषा और साहित्य सम्बन्धी दृष्टिकोण बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। ऐसी भाषा जो शाबरमंत्र की भाँति दुर्बोध हो, जपादि में भले ही उपयोगी हो सकती है पर व्यवहार में नहीं। व्यवहार में तो 'सरल कविता कीरति सरल' का ही आदर्श मान्य होना चाहिए। विदेशी शब्द भी लोकभाषा की सुरसरि धार में पड़कर पावन और ग्राह्य बन जाते हैं।

---

१. **हिन्दी साहित्य का अतीत खंड २, पृ० ४१४**
—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

गोस्वामी जी ने लोक रुचि का ध्यान करके ही रामललानहछू, रामकलेवा, पार्वती मंगल, जानकी मंगल जैसी रचनाओं का सर्जन किया। ये रचनाएँ कवि की उस स्वाभाविक उमंग में रची जान पड़ती हैं, जिस उमंग में ग्राम बालाओं के कंठ से भावपूर्ण लोक गीत फूट पड़ते हैं। नागर कवि की रचना यदि उपवन है तो लोकगीत वन। पहले में बनाव सिंगार यद्यपि अधिक रहता है, पर स्वाभाविकता के दर्शन नहीं होते जबकि दूसरे में छोटे-बड़े सभी लता, तृण, गुल्म, वीरुध और वृक्ष सभी स्वाभाविक निर्बंध विकास पाते हैं स्वाभाविक सौन्दर्य का जो प्रसार हम लोकगीतों में पाते हैं वह नागर गीतों में नहीं। अतः कहना चाहें तो कह सकते हैं कि गोस्वामी जी ने स्वच्छन्दतावादी काव्य धारा बहाकर लोकजीवन के साथ अपने कवि हृदय का सामंजस्य स्थापित किया। उनकी उक्त रचनाएँ सर्वथा निरुद्देश्य अथवा गड्डलिका प्रवाह की झोंक में नहीं रची गई अपितु उसका भी उद्देश्य था और वह उद्देश्य था जो रुचि का मार्जन लोक-जीवन में भी संयम मर्यादा और सुरुचि की प्रतिष्ठा।

उन्होंने परंपरा से गृहीत काव्य शैलियों को नई धज से अलंकृत किया एवं वर्तमान शैलियों का करीने से समाहार किया।

गार्हस्थ्य जीवन की दैनन्दिन रीति नीतियों, संस्कारों आदि का आदर्श और रमणीय चित्र उपस्थित करके जन जीवन का परिष्कार किया पुरुषार्थ चतुष्टय, वर्णाश्रम व्यवस्था एवं कर्तव्य कर्मों को कान्तासंमित उपदेशों द्वारा सुकुमार मति वालों के लिए भी हृदयग्राह्य बनाया।

मानव अन्तःकरण की सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियों तक अपनी पहुंच दिखाकर कविकर्म की सार्थकता सिद्ध की। साथ ही यह भी जताया कि दूर की उड़ान मात्र को कविता नहीं कहते—

भनिति विचित्र सुकविकृत जोऊ।
राम नाम विनु सोह न सोऊ॥

और न नायिका भेद के निरूपण और आश्रयदाताओं के प्रति "नमोस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये" वाली उक्ति ही को कविता कहते हैं। भगवान् कभी करुणाप्लुत होकर जीव को नरदेह प्रदान करते हैं और उन मनुष्यों में किसी किसी पर कृपा कर उसके उर-अजिर में सरस्वती का नर्तन कराते हैं। कवि उमंग में आकर जब रचना करना चाहता है तब स्मरण करते ही सरस्वती पतिलोक छोड़कर दौड़ी चली आती है। इतना श्रम करके इतनी दूर से आने वाली सरस्वती को उस समय बड़ा कष्ट होता है जब उससे प्राकृत जनों का गुणगान कराया जाता है। वह सिर धुनकर पछताने लगती है कि व्यर्थ ही आई, सारा श्रम व्यर्थ गया। उसका श्रम तो तब दूर होता है जब राम चरित सर में उसे स्नान कराया जाता है। इसका मतलब यह नहीं कि काव्य का

आलंबन केवल भगवान् ही हो सकते हैं, कोई लौकिक पुरुष नहीं। हां, कुछ विधि-निषेध अवश्य हैं।[1]

कविता तो आये दिन होती है, जैसे बरसात में प्रायः रोज ही वर्षा होती है। पर जैसे भूमि पर पड़कर पानी गंदला हो जाता है वैसे ही सरस्वती का प्रसाद रूप काव्य भी अयोग्य एवं अनधिकारी आलंबनादि का समाश्रय लेकर व्यर्थ हो जाता है। कविता का सदुपयोग तो तब संभव है 'अस संजोग जब देइ विधाता'—

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना॥
जौ बरषइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकता मनि चारू॥

कहने का तात्पर्य यह कि कविता को खेलवाड़ न बनाकर आदर्शोन्मुख और लोकोपयोगी बनाना चाहिए।[2]

काव्य का लक्ष्य इन्होंने डिमडिम घोष के साथ निनादित किया

वर्णानामर्थ संघानां रसानाम् छन्दसामपि मंगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ

वाल्मीकि जी जैसे धर्म, दर्शन, ज्योतिष, कर्मकांड आदि से काव्य को पृथक् कर-शोक को श्लोक बनाकर—अदि कवि कहलाए वैसे ही तुलसीदास भी—वाल्मीकि तुलसी भए।

हिन्दी साहित्य में साखी, सबदी, दोहरा, किहनी उपाख्यान कहने वालों ने अटपटी बानियों द्वारा जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं के विरुद्ध अनधिकार चर्चा शुरू की, अकांड कथन का बोलबाला हो गया साहित्य का ऋजु मार्ग रुद्ध हो गया। ऐसी अवस्था में गोस्वामी जी की 'नीर छीर विवरन गति हंसी' रूपी वाणी ने साहित्य के प्रकृत राजपथ को प्रशस्त किया।

---

१. आचार्यों ने यह भली भांति स्पष्ट कर दिया है कि किस प्रकार के इतिवृत्त काव्य के विषय हो सकते हैं। जैसे उत्पाद्य और मिश्र वृत्त काव्य के विषय नहीं हो सकते, वैसे ही किसी वर्त्तमान वृत्त को भी काव्य वस्तु के रूप में अंगीकार करना दोषावह कहा गया है। चरित तो उसे कहते हैं जो भूत में आचरित हो चुका हो। इस प्रकार उत्पाद्य वृत्त (कल्पित आख्यान) चरित होने से रहा।
वर्तमान को नेता या वस्तु बनाने पर तो तत्कालीन प्रसिद्धि के बाधित होने से रस की हानि होगी अर्थात् रागद्वेष माध्यस्थ आदि होने से न तो सामाजिक का मनोरंजन होगा और न शिक्षा ही मिलेगी। इसी कारण आश्रयदाता के चरित को भी कथा या नाटक की वस्तु बनाने की वर्जना आचार्यों ने की है। —नाट्य दर्पण प्रथम विवेक पृ० १९।

२. जुगुति बेधि पुनि पोहि अहिं राम चरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अतिअनुराग॥
कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुर सरि सम सबकर हित होई॥

सोक कनक लोचन मति छोनी। हरी विमल गुन गन जग जोनी।।
भरत विवेक बराह विसाला। अनायास उघरी तेहि काला।।

वेद में शब्द की प्रधानता होती है, अर्थ गौण होता है। पुराण और इतिहास में अर्थ प्रधान होता है और शब्द गौण, पर काव्य में दोनों की प्रधानता होती है—"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" इसी को गोस्वामी जी ने "गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न" कहा है। पद, पदार्थ, रस और छन्द ये ही प्रमुख काव्यांग हैं। मंगल का प्रयोजन है। इन सबके कर्त्ता हैं वाणी और विनायक—सरस्वती वाक् हैं और गणेश वाङ्मय—"त्वं वाङ्मयस्त्वं चिन्मयः"। अतः इनमें स्वभाव साम्य है।[1] 'गणपति सहस्र होम पद्धति'[2] में गणेश का स्वरूप निर्देश किया गया है जिससे वे काव्य तत्व के देवता से जान पड़ते हैं। इस प्रकार गोस्वामी जी ने अपनी साम्प्रदायिक संकीर्णता का परित्याग कर मंगलाचरण में साहित्यिक उदारता अपनायी है। कवीश्वर और कपीश्वर दोनों की वन्दना उन्होंने की। यह पद्धति उन्हें सारस्वत पहले और भक्त तथा सामाजिक वाद में सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।[3] उन्होंने अपने परवर्ती समान-धर्माओं के लिए यह आदर्श उपस्थित किया कि साहित्य सभी प्रकार के मतवादों, संकीर्णताओं और मूढ़ाग्रहों से ऊपर की चीज है। उससे मन की मैल कटती है। साहित्य के परिशीलन से हृदय मुक्तावस्था को प्राप्त होता है—'सहज बैर विसराइ रिपु सादर करहिं बखान'

गोस्वामी जी के अनुसार भाषा भदेस हो सकती है पर 'वस्तु' तो हमेशा भली ही रहनी चाहिए।[4] और राम कथा से बढ़कर और दूसरी 'वस्तु' हो ही कौन सकती है। कारण 'राम चरित जीवन की सब दशाओं की समष्टि है, इसका प्रमाण 'रामाज्ञाप्रश्न' है, जिससे लोग हर एक प्रकार की आने वाली दशा के सम्बन्ध में प्रश्न करते और उत्तर निकालते हैं। जीवन की इतनी दशाओं का पूर्ण मार्मिकता के साथ जो चित्रण कर सका, वही सबसे बड़ा भावुक और सबसे बड़ा कवि है, उसी का हृदय लोक हृदय स्वरूप है।'[5] इस प्रकार 'मनुष्य की संपूर्ण भावात्मक सत्ता' पर अपना अखंड अधिकार प्रदर्शित करके गोस्वामी जी ने 'रस राशिमयी कविता के प्रसाद पै राखी मनो तुलसी तुलसी'[6] की उक्ति चरितार्थ की।

---

१. विजया टीका।

२. पंचाशान्मात्रिकालयाय स्वाहा। सप्त छन्दो निधये नमः स्वाहा।
सरस्वत्याश्रयायनमः स्वाहा। गद्य पद्य सुधार्णवायनमः स्वाहा।
अष्टादशलिपि व्यष्टि समष्टि ज्ञान कोविदायनमः स्वाहा इत्यादि—'विजयाटीका।'

३. हिन्दी साहित्य का अतीत, प्रथम भाग पृ० २५१—आ० वि० प्र० मिश्र।

४. भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी।
राम कथा जगमंगल करनी।।

५. दे० गो० तुलसीदास—आ० शुक्ल।

६. "ईश"

राम चरित स्वयं काव्य है—राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है, कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है ।[1]

तुलसी कहते हैं—"सुकवि सरद नभ मन उड गन से"

अब प्रश्न यह है कि जैसे गोस्वामी जी के भाषा सम्बन्धी आदर्श को पिछले खेवे के कवियों ने अपनाया और उनकी दोहे चौपाई वाली शैली की बाद में 'रमैनी' संज्ञा ही पड़ गई वैसे ही क्या उनके अनुज्झिता व्यर्थ सम्बन्ध वाले प्रबंधत्व का भी अनुगमन हुआ और क्या राम काव्य की धारा आगे बढ़ सकी ? उत्तर में निवेदन है कि गोस्वामी जी की उक्त परंपराओं के जीवंत प्रतीक मैथिलीशरण जी को देखकर यह विश्वास दृढ़ होता है कि तुलसी की बहायी धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवहमान है । गोस्वामी जी के 'मानस' से गुप्त जी कितने अनुप्राणित हैं इसे उनकी निम्नीय पंक्तियों से समझा जा सकता है—

'तुलसी यह दास कृतार्थ तभी,
मुख में हो चाहे स्वर्ण न भी,
पर एक तुम्हारा पत्र रहे
जो निज 'मानस' कवि कथा कहे।'[2]

इस घोर शिश्नोदर पर 'जम पुरत्रासन' वाले युग में रामचरित को संभाल कर गाने (मर्यादा के साथ गाने)[3] वाले के रूप में मैथिलीशरण को देखकर प्रत्येक तुलसी भक्त को संतोष होगा जैसे लंका में 'नवतुलसिकावृन्द' देखकर हनुमान जी को हर्ष हुआ था ।[4]

साहित्य एवं समाज की प्रगति में गोस्वामी जी के प्रस्तुत प्रयास का योग

प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्त वृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है । जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला आता है । जनता की चित्त वृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है ।[5]

साहित्यधारा को कोई विचारधारा तभी प्रभावित करती है जब उसमें साहित्य का लोक रसामृत होता है । सहस्र दल की मधुमयी धारा उसे अलोक सामान्य लगती है । सूर तुलसी

---

१. साकेत—मैथिली शरण गुप्त।
२. साकेत—मैथिलीशरण गुप्त।
३. जे गावहिं एहि चरित संभारे।
ते एहिताल चतुर रखवारे।।—मानस
४. रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका वृन्द तहं देखि हरष कपि राइ।।
५. हिन्दी साहित्य का इतिहास —आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

में साहित्य संदीपन का सुप्रकाश प्राप्त है। अतः उसने भी परवर्ती साहित्य को प्रभावित किया सूर्य चन्द्रवत्[1]।

समाज को तुलसी का योगदान

साहित्य का व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ है सहितत्व। अर्थात् वह साहित्य साहित्य नहीं है जो समाज को छोड़कर चले अथवा लोक धर्म से विमुख हो। कर्म, ज्ञान, उपासना के वैषम्य से अथवा इच्छा, ज्ञान, क्रिया के असामंजस्य से ही समाज विश्रृंखल हो जाता है—एकांगदर्शिता बढ़ जाती है। गोस्वामी जी ने देखा कि राजा स्वेच्छाचारी है।[2] उससे कुछ आशा करना दुराशामात्र है। अधीनस्त हिन्दू नरेश मुगल सम्राट् के भय से सूखे जा रहे थे—

कर जोरे सुरदिसिप विनीता। भृकुटि विलोकत सकल सभीता।।

ब्राह्मणों का चिन्ह केवल जनेऊ और यतियों का नंगधड़ंग रहना रह गया था। वाममार्गी औघड़ एवं गोरखपंथी जोगी भारतीय भक्ति मार्ग से लोगों की आस्था हटा रहे थे। साखी, सब्दी, दोहरे कह-कह कर कुछ अभारतीय तत्व वेद पुराण की निन्दा में रत थे। शूद्र द्विजों को आंख दिखा कर डांटते थे। सभी ब्रह्मज्ञानी बन गए थे। अनधिकार चर्चा जोरों पर थी। शैव, वैष्णव और शाक्त परस्पर लड़ते थे। बीच में मुसलमानों से अविरोध प्रदर्शन करने के लिए भी अपढ़ जनता को साथ लगाने वाले कई नए पंथ निकल चुके थे जिनमें एकेश्वरवाद का कट्टर स्वरूप, उपासना का आशिकी रंगढंग, ज्ञान-विज्ञान की निंदा, विद्वानों का उपहास, वेदांत के दो चार प्रसिद्ध शब्दों का अनधिकार प्रयोग आदि सब कुछ था परलोक को व्यवस्थित करने वाली वह मर्यादा न थी जो भारतीय आर्यधर्म का प्रधान लक्षण है। ऐसी परिस्थिति में, गोस्वामी जी ने अपनी सर्वांगदर्शी दृष्टि एवं सामंजस्य बुद्धि के बल पर वर्ण-धर्म, आश्रम धर्म, कुलाचार, वेदविहित कर्म, शास्त्र प्रतिपादित ज्ञान आदि सबके साथ भक्ति का पुनः समन्वय स्थापित करके आर्य धर्म को पुनः छिन्न-भिन्न होने से बचा लिया।[3] उन्होंने इस पुनीत कार्य की सिद्धि के लिए माध्यम बनाया भगवान् राम के लोक पावन चरित को। कहना न होगा कि गोस्वामी जी द्वारा रामचरित का यह समाश्रयण एवं गायन व्यर्थ नहीं गया। लोकविहित आदर्शों की प्रतिष्ठा फिर से हुई, भक्ति के सच्चे सामाजिक आधार फिर से खड़े हुए। लोगों ने धर्म के जीवनव्यापी स्वरूप का साक्षात्कार किया और उस पर मुग्ध हुए। कलि कलुषविभंजिनी राम कथा घर-घर धूमधाम से फैली। हिन्दू धर्म नई शक्ति से संवलित हुआ।

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत पृ० ६ आ० वि० प्र० मिश्र।

२. नृप पाप परायन धर्म नहीं,
करि दंड विलंब प्रजा नितही।

३. गो० तुलसीदास—आ० शुक्ल।

जनता फिर से श्रुतिसंमत हरिभक्ति की ओर उन्मुख हुई। कम से कम उत्तर भारत में सांप्रदायिकता की वह उच्छृंखल लीला देखने को नहीं मिली जिसका अकांड तांडव दक्षिण भारत में, विशेषकर गुजरात में दिखायी पड़ा। यहां शैवों और वैष्णवों के बीच गोस्वामी जी के प्रयत्न से सौहार्द का वातावरण बन सका और यह सामंजस्य बुद्धि तब तक बनी रहेगी जब तक मानस का पठन-पाठन समाज में होता रहेगा। इस प्रकार समाज के सभी वर्गों में सामंजस्य स्थापना के साथ कर्म, ज्ञान-उपासना में समन्वय लाने का स्तुत्य प्रयास तो गोस्वामी जी ने किया ही, विभिन्न उपास्य देवों के कारण दिखाई पड़ने वाले भेदों का भी एक में पर्यवसान किया। गोस्वामी जी की यद्यपि राम के प्रति अनन्य भक्ति थी फिर भी वह (भक्ति) उन्हें सर्वप्रथम गणेश वन्दना के कार्य से विरत नहीं कर सकी। यह उनकी सामाजिकता का उत्कृष्ट निदर्शन है। उनकी भक्ति उन्हें कभी ऐकान्तिक नहीं बना सकी। राम का लोक संग्रही रूप ही उन्हें भाता रहा—

उखी परि कल हीन होइ ऊपर कला-प्रधान।
तुलसी देखु कलाप-गति, साधन घन पहिचान॥

वे राम के उपासक केवल इसलिए नहीं थे कि वे (राम) भगवान् थे अथवा राजकुमार थे, वरन् इसलिए कि वे मेघ की तरह मंगलकारी थे। भूतप्रेतों की उपासना के वे विरोधी थे—

जे परिहरि हरिहर चरन भजहि भूत गन घोर।
तिन्ह के गति मोहि देउ विधि जो जननी-मत मोर॥

उनकी मान्यता के अनुसार श्रद्धा का आलंबन या उपास्य श्रेष्ठ और सात्विक होना चाहिए। वह उपास्य करुणा, दया भी रखता हो। दीनों की पुकार पर नंगे पांव दौड़ पड़ता हो। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि तुलसी के राम ऐसे ही थे—'परम अंकिंचन प्रिय हरिकेरे'

"वन्दौं सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न"

गोरखपंथियों, निर्गुण मार्गियों आदि की अटपटी बानियों ने सामान्य जनता पर थोड़ा आतंक जमाना शुरू कर दिया था कि इसी बीच गोस्वामी जी का मानसावतार होता है।[1] जिसके प्रभाव से हमारा इतिहास भयंकर विनाश से बच गया, हमारी प्रभूत ज्ञान राशि नष्ट नहीं होने पायी, धर्म के लिए संकट का सामना करने वाले[2] महापुरुषों का नामशेष होते-होते बचा। समाज के कुछ चलते पुरजे निठल्ले जीवों की—जो किसी वर्ग के मद, मत्सर को उभाड़ कर अपना नेतृत्व जमाना एवं अपने अहंता की तुष्टि चाहते हैं—दाल नहीं गल पायी।

---

१. **लीला सगुन जो कहहि बखानी।**
सोइ स्वच्छता करै मल हानी॥ मानस।

२. **हरीचन्द बलि भूप सुजाना।**
सहे परम हित संकट नाना॥—मानस।

गोस्वामी जी से पूर्व तीन प्रकार के साधु समाज के बीच लोगों को लोक धर्म से विमुख करने पर उतारू दिखाई पड़ रहे थे। इनमें एक तो थे प्राचीन परम्परा के भक्त जो प्रेम दीवाने होकर संसार को भूल जाने का उपदेश करते थे। दूसरे अनधिकार ज्ञान चर्चाओं से परम्परागत आदर्शों के प्रति उपेक्षा बुद्धि उत्पन्न कर रहे थे और तीसरे हठयोग, रसायन आदि द्वारा अलौकिक सिद्धियों के चाकचक्य में जनसाधारण को उलझाकर उसे मानव जीवन के मुख्य लक्ष्य से पराङ्मुख कर रहे थे। पर गोस्वामी जी इसी बीच ईश्वरीय वरदान के रूप में, धर्मालोक स्वरूप रामचरित लेकर आए जिससे व्यावहारिक जीवन धर्म की ज्योति से एक बार फिर जगमगा उठा। गृहस्थों के लिए तो मानस मानों डाइरेक्टरी हो गया। उन्हें पदे-पदे उससे निर्देश मिलता है जिसके बल पर 'काल स्वभाव करम बरिआई' कुपंथ पर पैर[1] पड़ जाने पर भी वे पतित नहीं होने पाते—

'परेहु कुमग पर परहिं न खाले'

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोस्वामी जी ने अकेले ही राष्ट्रीय उत्थान और समाज संघटन का इतना बड़ा काम किया और साहित्य के क्षेत्र में जहाँ उनकी रचनाओं में समाज का स्पन्दन और धड़कन सुनाई पड़ती है, मानव की दुर्बलताएँ हैं, यथार्थताएँ हैं, वहीं राम रसायन का आदर्श और उन्मुक्त सदावर्त होते हुए भी हम देखते हैं। राम चरित चिन्तामणि को पाकर हिन्दु जाति अयाचमान हो गई। गोस्वामी जी के कर्तृत्व और कृतित्व को अलग-अलग परख लेना ठीक होगा।

राष्ट्रीय उत्थान और समाज संघटन के लिए उन्होंने उत्तर भारत में, गाँव-गाँव में रामलीलाएँ आरम्भ करवाईं,[2] वीर पूजा की क्षीणप्राय परम्परा फिर से जगायी, जिसके

---

१. पितु आपसु सब धरम क टीका
जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहिं विलोकत पातक भारी॥
वृद्ध रोग बस जड़ धन हीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किए अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥
सो पर नारि लिलार गोसाईं। तजहु चौथ चंदा की नाईं॥
सुभ गति पाव कि परतिय गामी
सोचिय गृही जो मोहबस करइ कर्म पथ त्याग

२. मानव यद्यपि श्रव्य काव्य है पर राम लीलाओं में उसका दृश्य काव्य सा उपयोग करते हैं। नाट्यशास्त्र के जटिल विधानों से मुक्त मानस का यह नाट्य रूपान्तर गांव के साधारण पढ़े लिखे लोग सरलता पूर्वक कर सकते हैं। मानसानुसारी रामलीला इतनी लोकप्रिय होती है कि बड़े-बड़े शहरों के सिनेमाघर क्वार भर निर्जनता का अभिषेक करते हैं—
'कर रहे निर्जन का चुपचाप प्रभा की धारा से अभिषेक'
रामलीला के तीन लाभ प्रत्यक्ष सिद्ध हैं—

फलस्वरूप गांव-गांव में अखाड़े खुदे और जय बजरंग बली का जयनाद गूंज उठा। वैरागियों का भी संघटन कुछ सैनिक ढंग से किया। गोस्वामी जी की ही प्रेरणा से दक्षिणापथ में स्वामी रामदास ने महाराष्ट्र शक्ति का अभ्युदय किया जिसके पूंजीभूत तेज छत्रपति शिवाजी थे। पंजाब में सिख-शक्ति के प्रादुर्भाव में भी बहुत कुछ गोस्वामी जी की ही प्रेरणा रही।

हिन्दू संस्कृति में क्षमा वा तितिक्षा का बड़ा महत्व है। साधकों के लिए तो यह वृत्ति साध्य ही है पर समष्टि जीवन में इस वृत्ति का निर्वाह असंभव ही है। मर्यादा पुरुषोत्तम तीन दिनों तक समुद्र को मनाते ही रह गए पर उसके कान पर जूं तक नहीं रेंगी। तब 'विनयन मान खगेस सुनु डांटे पै नौ नीच' की नीति उन्हें अगत्या अपनानी पड़ी। महात्मा गांधी जी ने भी सहिष्णुता की पराकाष्ठा कर दी। सुभाष बाबू के अल्टिमेटम वाले प्रस्ताव की उन्होंने यह कह कर उपेक्षा कर दी थी कि अंग्रेज सम्प्रति जीवन मरण के युद्ध में लगे हैं। अतः यह समय लड़ाई के लिए उपयुक्त नहीं है। पर उन्हीं महात्मा गांधी जी को युद्ध के दौरान में ही अंग्रेजों के विरुद्ध 'करो वा मरो' वाला संग्राम छेड़ना पड़ा। गोस्वामी जी का यह मंत्र संभवतः उन्हें याद आया होगा—

'कबलौं सहित रहिय मन मारे। नाथ साथ धनुवान हमारे॥

जैसे भगवद्गीता पुरातन और अधुनातन एवं अनासक्त योगी तथा गृहासक्त भोगी अथच उग्र राष्ट्रवादी कर्मयोगी सबको समान रूप से प्रेरणाप्रद है वैसे ही मानस भी। जहां स्वामी करपात्री जी अपने पक्ष की पुष्टि में 'मानस' से उद्धरण पेश करते हैं, वहीं डा० राजेन्द्रप्रसाद जी अपने 'खंडित भारत' में आदर के साथ उसकी चौपाई उद्धृत करते हैं।[1] प्रधान मंत्री पं० नेहरू तो 'मानस' को 'करोड़ों दिलों का हिस्सा'[2] कहते हैं। गत द्वितीय महायुद्ध में तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने भारत में, मानसोक्त 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी' जैसी पंक्तियों की, सार्वजनिक व्यवस्था पर, प्रतिबन्ध लगा दिया था। कर्नल टाड

---

(१) वृत्ति परिष्कार (२) रुचि संस्कार (३) कलाप्रचार।

दूसरी ओर व्यास लोग मानस की कथा सुनाकर समाज में सदाचार का प्रचार करते हैं। तीसरी ओर गांव का थका मांदा किसान दोपहरी में मानस का पाठ कर अपनी विश्रांति दूर करता है। संगीत प्रेमी झाल, ढोल हारमोनियम पर मानस का गान कर आनन्द लाभ करते हैं तो मित्रों की गोष्ठियों में उसकी चौपाइयों पर ऊहापोह चलते हैं। अनपढ़ गँवार से लेकर चूड़ान्त पंडित तक बात-बात में इस ग्रन्थ के उद्धरण देते हैं और विलासी श्रीमंत इन्द्रियार्थों को मंगलमय इसी के बूते बना पाते हैं—

विषयिन्ह कहं पुनि हरिगुन ग्रामा। स्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥

१. दे० खंडित भारत—उभय भांति देखा निज मरना।
तब ताकेसि रघुनायक सरना॥

२. १२ जनवरी ६२ को 'राम० च० मा० समर्पन समारोह में दिया गया भाषण'

प्रसिद्ध कवि पृथ्वीराज की कविताओं में दस हजार घोड़ों की शक्ति मानते थे। इधर 'मानस' में उस दिव्य धर्ममय रथ का वर्णन हम पढ़ते हैं, जिसपर आरूढ़ होकर राष्ट्रपुरुष अपराजेय हो जाता है। इस रथ में वह दिव्य आकर्षण है जिससे खिंचकर देवराज इन्द्र का रथ मातलि के साथ स्वयमेव चला आता है। मानस का राष्ट्र पुरुष अपने व्यक्तिगत योगक्षेम को राष्ट्र रक्षण पर न्योछावर किए रहता था—

"चाहिय छेम कुसल रौताई"

राष्ट्रीय मर्यादाओं को पदाक्रान्त करने का साहस किसी दशानन को तभी होता है जब राष्ट्र रथ का सारथी लोभाभिभूत हो किसी माया मृग के पीछे दौड़ता है और देश के पौरुष का प्रतीक हनुमान जब अपने बल को विस्मृत कर देता है। 'तापस वेष विशेष उदासी' रूप में चौदह साल वन-वन मारे-मारे फिरने जैसी उत्कट साधना के उपरान्त ही राम राज्य के सुदिन नसीब होते हैं। राष्ट्र पर आयी विपत्ति में मानवेतर प्राणियों को भी भागीदार बनाना पड़ता है। उनके हृदय में भी देश के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करनी पड़ती है। राम ने जो अपनी सेना संघटित की उनमें ये ही वानर भालू तो थे। राष्ट्र के लिए अपना खून बहाकर उन्होंने सदा के लिए भरत भूमि को अपना ऋणी बना लिया—

ये सब सखा निसाचर मेरे। भए समर सागर कहं बेरे।।
मम हित लागि जनम इन हारे। भरतहुं तें मोहि अधिक पियारे।।

हिन्दू कुल गौरव महाराणा प्रताप को कोल भीलों से सहायता लेने की प्रेरणा संभवतः राम से ही मिली।

इन वानर भालुओं के उत्कट और उग्र देशानुराग की तुलना महात्मा गांधी के नेतृत्व में चलने वाले सन् १९२१ के उस असहयोग आन्दोलन से की जा सकती है, जिसमें भावुक जनता हिंसक हो उठी थी और फलस्वरूप गांधी जी को अपना आन्दोलन स्थगित कर देना पड़ा था।[1] अस्तु,

देशोद्धार में रत राम जहां जहां गए वह स्थल तीर्थ हो गया—

धन्य भूमि बन पंथ पहारा। जहं जहं नाथ पांव तुम धारा।।

---

१. **परम क्रोध मीजहिं सब हाथा। आयसु पै न देहिं रघुनाथा।।**
सोषहिं सिंधु सहित झषव्याला। पूरहिं नत भरि कुधर बिसाला।।
मर्दि गर्दि मिलवहिं दस सीसा। ऐसेइ बचन कहहिं सब कीसा।।
गर्जहिं तर्जहिं सहज असंका। मानहुं ग्रसन चहत हैं लंका।।
सहजसूर कपि भालु सब पुनि सिर पर प्रभु राम।
रावन काल कोटि सम जीति सकहिं संग्राम।।

राष्ट्रीयता का जो उन्मेष हमें मानस में मिलता है वह क्या अन्यत्र कहीं सुलभ है। मानस ने काशी को कैलास, मानसरोवर और हिमालय से जोड़ा एवं अयोध्या की हिन्द महासागर से।[१] तीर्थराज प्रयाग को देखकर सुखसागर राम सुखी होते हैं।[२] और चित्रकूट को अचल अहेरी के रूप में देखते हैं।

लखन दीख पय उतर करारा। चहुं दिसि फिरेउ धनुष जिमिनारा॥
नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना॥
चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठ भेरी॥

आचार्य शुक्ल की शिकायत है कि गोस्वामी जी वाल्मीकि और कालिदास-सा प्रकृति का आलंबन रूप में वर्णन नहीं करते। पर यहां यह बात विचारणीय है कि वाल्मिकि और कालिदास स्वतंत्र भारत में रहते थे। अतः प्रकृति का रमणीय रूप देखने का उन्हें अवकाश था पर गोस्वामी जी पराधीन भारत में रह रहे थे, अतः उन्होंने प्रकृति वर्णन के माध्यम से भी आर्य धमनियों में वीरत्व का संचार किया।

राम ने पंचवटी ऋष्यमूक आदि स्थलों को पवित्र किया। हनुमान को लंका जाते समय हम मैनाक पर्वत का उनके प्रति प्रेम देखते हैं जब वह समुद्र से निकल कर उनसे कुछ देर विश्राम करने का आग्रह करता है। तुलसीदास देश के कण-कण में कितना ममत्व रखते हैं और उसके प्रति रागात्मक सम्बन्ध दृढ़ करने में उन्होंने कितना प्रयास किया है, देश के वन, झील, पहाड़, नदी आदि को वे किस प्रकार राष्ट्र का अंग मानते हैं, यह हम मानस में पदे पदे देख सकते हैं—

"हाथ कंगन को आरसी क्या" फिर भी कुछ उदाहरण देंगे।

गंगा-तुलसी की शपथ खाकर हम अपनी सफाई देते हैं, सधवा स्त्रियों को दिए जाने वाले आशीर्वाद में भी गंगा-यमुना साथ रहती हैं—

अचल होइ अहिवात तुम्हारा। जब लगि गंग जमुन जल धारा॥

---

१. **प्रभु तुम्हार कुल गुरु जलधि।**

२. **सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी। माधव सरिस मीतु हितकारी॥**
चारि पदारथ भरा भंडारू। पुन्य प्रदेस देस अति चारू॥
छेत्रु अगम गढु गाढ़ सुहावा। सपनेहुं नहिं प्रतिपिच्छन्ह पावा॥
सेन सकल तीरथ वर वीरा। कलुष अनीक दलन रनधीरा॥
संगम सिंहासनु सुठि सोहा। छत्रु अखयवटु मुनि मनु मोहा॥
चँवर जमुन अरु गंग तरंगा। देखि होहिं दुख दारिद भंगा॥

इस प्रकार हम राष्ट्र कवि भूषण के शब्दों में गोस्वामी जी के प्रति श्रद्धांजलि प्रकट कर सकते हैं—

राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो,
स्मृति और पुरान राख्यो वेद विधि गुनि में।
हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
कांधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर में।।

•

सेवहिं सुकृति साधु सुचि पावहिं सब मन काम।
बंदी वेद पुरान गन कहहिं बिमल गुन ग्राम।।
को कहि सकइ प्रयाग प्रभाऊ। कलुष पुंज कुंजर मृग राऊ।।
अस तीरथपति देखि सुहावा। सुख सागर रघुवर सुखु पावा।।

परिशिष्ट

समाज का स्वरूप : वर्णाश्रम व्यवस्था

भारत की प्राचीन समाज रचना का आधार वर्णाश्रम व्यवस्था रही है। यह वर्ण विभाग कर्म हेतुक नहीं अपितु जन्म हेतुक है अर्थात् कर्मणा नहीं जन्मना है—ईश्वर कृत है।

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः'

गोस्वामी जी की आदर्श समाज व्यवस्था राम राज्य में देखी जा सकती है। सब लोग वेद सम्मत वर्णाश्रम व्यवस्थानुसार अपने-अपने स्वाभाविक धर्म में निरत थे। फलस्वरूप भय, शोक, रोग उनके पास नहीं फटकता था, सब सुखी थे।

'जथा धर्मसीलन्ह के दिन सुख संजुत जाहिं'

किसी को दैहिक, दैविक और भौतिक ताप नहीं व्यापते थे। नागरिकों में परस्पर मेल जोल था क्योंकि वे श्रुतिसिद्धान्तानुसार स्वधर्म में रत थे। उस समय कुल क्रमागत पेशे थे जिसकी शिक्षा के लिए जनता राज्य की मुखापेक्षी नहीं थी अपितु घर में ही उसकी शिक्षा की व्यवस्था थी। आजकल की भांति एक जाति दूसरी जाति के पेशे में दखल नहीं देती थी। फलतः छीना-झपटी और संघर्ष की नौबत नहीं आती थी।[1] जैसे आज प्रत्येक व्यक्ति को विकास का अवकाश प्राप्त तो है पर संविधान की आधारभूत अधिकार सीमा के भीतर ही, वैसे ही राम राज्य में वैदिक मर्यादाओं के भीतर ही ऐहिक आमुष्मिक उन्नति का अधिकार सबको प्राप्त था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और स्त्रियों के सम्बन्ध में जो उक्तियां मानस में प्राप्त होती हैं, उनसे तत्तत् जातियों के आदर्श स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ता है। पहले अग्रजन्मा ब्राह्मणों को ही ले लीजिए। शास्त्र कहते हैं 'तपः श्रुतंचयोनिश्चयह्येतद् ब्राह्मण कारकम्। तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जाति ब्राह्मण एव सः', अर्थात् तप, श्रुति और जन्म ये तीन ब्राह्मण कारक हैं जो तप और श्रुति से हीन हैं वे केवल जन्म से ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण की मृत्यु का कारण बताते हुए मनु कहते हैं—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्न दोषाच्च मृत्युर्विप्रांजिघांसति ॥

अर्थात् वेदों का अभ्यास न करने से, आचार का पालन न करने से, आलस्य से और

---

१. **पात भरी सहरी सकल सुत बारे-बारे, केवट की जाति कछु वेदना पढ़ाइहौं।**
कवितावली, अयोध्या कांड।

अन्नदोष से मृत्यु ब्राह्मण को मारती है। गोस्वामी जी इन्हीं शास्त्रीय वचनों का आधार ग्रहण करके कहते हैं—

सोचिय विप्र जो वेद-विहीना। तजि निज धरम विषय लय वलीना॥

आदर्श ब्राह्मण का स्वरूप यह था—

छमासील जे पर उपकारी। ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी॥

'विप्र विवेकी वेदविद संभव साधु सुजात' अच्छे ब्राह्मण माने जाते थे।

उनका गर्हित स्वरूप यह था—

विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ वृषली स्वामी॥

गोस्वामी जी की कुछ अर्थवादी उक्तियों को लेकर उन पर ब्राह्मणों के प्रति पक्षपात का आरोप भी किया जाता है। पर ऐसे आरोपों में कोई दम नहीं है। क्योंकि तुलसी के राम तो एक मात्र भक्ति का नाता मानते हैं।[1] दुर्योधन अभिजात ही नहीं, वरन् धर्मपुत्र युधिष्ठिर का भाई एवं भगवान् कृष्ण का सम्बन्धी था। पर श्रीकृष्ण ने उसका आतिथ्य स्वीकार न करके शूद्र कहे जाने वाले विदुर के रूखे-सूखे सागपात पर ही संतोष किया। समाज में सम्मान का हेतु बड़े कुल में जन्म पा जाना मात्र नहीं है अपितु संमान का संबन्ध सदाचार से है। केवट, शबरी, गीध आदि के चरित्र मेरे कथन की पुष्टि करेंगे। केवट के बारे में कहा गया है—

एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं॥

पर ऐसे वसिष्ठ निषाद को अंक में भर लेते हैं। आखिर उस 'निपट नीच निषाद' में ऐसे कौन सुरखाब का पर लगा था? गोस्वामी जी के ही श्रीमुख से सुनिए—

राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभा बड़ आदर तासू॥

सम्मान प्राप्ति का यही सबसे बड़ा साधन और गुर है।[2]

वैसे तो रावण जन्मजात ब्राह्मण था, वेन जन्मजात क्षत्रिय था पर गोस्वामी जी की दृष्टि में उनके प्रति कोई आदर बुद्धि नहीं थी।[3]

राजा या लोकनायक के आदर्श

राजा वंशानुगत होता था—"जेहि पितु देइ सो पावइ टीका"

करतेउ राज त तुम्हहिं न दोसू।

---

१. कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउं एक भगति कर नाता॥
जाति पांति कुल धरम बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल वारिद देखिय जैसा॥

२. "गोस्वामी जी और शूद्र" शीर्षक लेख दैनिक 'आज' १९ अगस्त १९६१।

३. मानहिं मातु पिता नहीं देवा। साधुन सनक करावहिं सेवा॥

क्षात्र शक्ति के विकारग्रस्त होने पर क्रांति का शंख ब्राह्मण फूंकते थे—विपुल वार महि देवन दीन्हीं। राज सत्ता उनसे डरती थी।[1] पर जैसे अंग्रेजी शासन में किसी देशी रियासत को, शासन में खराबी का इलजाम लगाकर अथवा संबंधित नरेश के नाबालिक आदि रहने पर, सरकार कुछ दिनों के लिए अपने नियंत्रण में रख लेती थी और फिर सक्षम उत्तराधिकारी पाकर पुनः उसे शासन सुपुर्द कर देती थी ठीक वैसे ही ब्राह्मण नेता भी शासन को कुशल क्षत्रिय के हाथ सौंप देते थे। जब जनक की सभा में परशुराम को राम का स्वरूप बोध हुआ,[2] राम में योग्य शासक के सभी गुण जब उन्होंने एकत्र देखे[3] तब उनको लोक शासन का दायित्व सौंप कर स्वयं जंगल की राह ली।[4] राम की सर्वप्रियता[5] का रहस्य था—

नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ।।

मुखिया मुख सों चाहिए खान पान कहं एक।
पालइ पोसइ सकल अंग तुलसी सहित विवेक।।

क्षत्रिय को हर समय लोक रक्षण एवं रंजन के लिए सिर को हथेली पर लिए रहना चाहिए—

होइ कि छेम कुसल रौताई

शासन के आदर्श गुणों की ओर ग्रंथ में जगह जगह मार्मिक संकेत मिलते हैं।[6]

जिनके अस आचरन भवानी। ते जानहु निसिचर सम प्रानी।।
"हिंसा पर अति प्रीति तिनके पापहिं कौन मिति"
अलोकधर्म तें विमुख भा अधम को वेनु समान।

१. विप्रबंस की अस मनुसाई। अभय होय जो तुम्हहि डेराई।।

२. देव दनुज भूपति भट नाना। समबल अधिक होउ बलवाना।।
जौ रन हमहिं पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन कालु किन होऊ।।
छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुल कलंकु तेहिं पांवर जाना।।
कहउं सुभाउ न कुलहिं प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुवंसी।।

३. रोष रासि भृगुपति धनी, अहमिति ममता को।
चितवत भाजन करि लियो उपशम समता को।। विनय प०

४. जय रघुवंस वनजबन भानू। गहन दनुज कुल दहन कृसानू।।
जय सुर विप्र धेनु हितकारी। जय मदमोह कोह भ्रमहारी।।
विनय सील करुना गुन सागर। जयति बचन रचना अति नागर।।
सेवक सुखद सुभग सब अंगा।
कहि जय जय जय रघुकुल केतू। भृगुपति गए बनहिं तप हेतू।।

५. प्रानहु ते प्रिय लागहिं सब कहं राम उदार

६. सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना।।

शासक की नैतिक विशेषताओं का अच्छा निरूपण विभीषण के प्रति कह गये भगवान् राम के 'धर्ममय' रथवाले प्रसंग में देखना चाहिए।

राम ईश्वर का अंश माना जाता है। गीता में भगवान् कहते हैं कि "नरों में नराधिप में ही हूँ"। गोस्वामी जी के अनुसार भी—

साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस अंसभव परम कृपाला।।

वह कहा गया है। आचार्य शुक्ल के एतत्संबन्धी विचार मननीय हैं।[1]

यहाँ यह भी विचार कर लेना चाहिए कि गोस्वामी जी किस प्रकार का शासन पसंद करते थे—राजतंत्रात्मक, लोकतंत्रात्मक, अधिनायकवादी वा और कुछ।

विचार करने पर ज्ञात होता है कि वे राजतंत्र चाहते थे पर रावण और बेन जैसा राजतंत्र नहीं।[2]

लोक और वेद विरुद्ध आचरण करने वाले राजा ही नहीं साक्षात् भगवान् तक उनके प्रणम्य नहीं हो सकते थे।[3] अतः हम कह सकते हैं कि गोस्वामी जी राजतंत्र के अन्तर्गत लोकवादी थे पर उनका लोकवाद रूस, इंगलैंड और अमेरिका से विरल था। उनका लोकवाद वह

हम छत्री मृगया वन करहीं। तुमसे खगमृग खोजत फिरहीं।।
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।।

१ "भारतीय सभ्यता के बीच राजा धर्मशक्ति स्वरूप है, पारस और बाबुल के बादशाहों के समान केवल धन बल और बाहुबल की पराकाष्ठा मात्र नहीं। यहां राजा सेवक और सेना के होते हुए भी शरीर से अपने धर्म का पालन करता हुआ दिखाई पड़ता है। यदि प्रजा की पुकार संयोग से उसके कान में पड़ती है, तो वह आप ही रक्षा के लिए दौड़ता है, ज्ञानी महात्माओं को सामने देखकर सिंहासन छोड़कर खड़ा हो जाता है, प्रतिज्ञा के पालन के लिए शरीर पर अनेक कष्ट झेलता है। स्वदेश की रक्षा के लिए रणक्षेत्र में सबसे आगे दिखाई पड़ता है, प्रजा के सुख-दुःख में साथी होता है, ईश्वरांश माने जाने पर भी मनुष्यांश नहीं छोड़ता। वह प्रजा के जीवन से दूर बैठा हुआ, उसमें किसी प्रकार का योग न देने वाला खिलौना या पुतला नहीं है। प्रजा अपने सब प्रकार के उच्च भावों का—त्याग का, शील का, पराक्रम का, सहिष्णुता का, क्षमा का—प्रतिबिम्ब उसमें देखती है—गो० तुलसीदास (आ० शुक्ल) पृ० ४७।

२. करसि पान सोअसि दिन राती
सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी
मंडलीक मनि रावन राज करइ निजमंत्र।
लोक वेद से विमुख भा अधम को बेनु समान।।

३. चौदह भुवन एक पति होई। भूत द्रोह तिष्ठै नहिं सोई।।
तुलसी महिमा वेद की......

लोकवाद नहीं है, जिसका अकांड तांडव चीन में हो रहा है। वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हरण नहीं चाहते जिसमें व्यक्ति इच्छानुसार हाथ पैर भी न हिला सके, अपने श्रम, शक्ति और गुण का अपने लिए कोई फल ही न देख सके। वे व्यक्ति के आचरण का इतना ही प्रतिबन्ध चाहते हैं जितने से दूसरों के जीवन मार्ग में बाधा न पड़े और हृदय की उदात्तवृत्तियों के साथ लौकिक संबन्धों का सामंजस्य बना रहे। राजा, प्रजा, उच्च, नीच, धनी, दरिद्र, 'सबल-निर्बल', शास्य-शासक, मूर्ख-पंडित, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र इत्यादि भेदों के कारण जो अनेक रूपात्मक संबन्ध प्रतिष्ठित हैं, उनके निर्वाह के अनुकूल मन (भाव), वचन और कर्म की व्यवस्था ही उनका लक्ष्य है, क्योंकि इन सम्बन्धों के सम्यक् निर्वाह से ही वे सबका कल्याण मानते हैं। इन सम्बन्धों की उपेक्षा करने वाले व्यक्ति प्राधान्यवाद के वे अवश्य विरोधी थे।[1]

क्षत्रियों के अनन्तर आते हैं वैश्य। उनके कर्तव्य कर्म भी मानस में निर्दिष्ट हैं—

सोचिय बयसु कृपन धनवानू। जो न अतिथि सिव भगति सुजानू॥

धनी वैश्य को अतिथि और शिव सेवी होने के साथ ही सुजान भी होना चाहिए।

---

१. आज की निर्वाचन पद्धति और 'साम्य' पर भी आचार्य शुक्ल ने बड़ा सुन्दर और गंभीर मत व्यक्त किया है—

"ऊंची श्रेणियों के कर्तव्यों की पुष्ट व्यवस्था न होने से ही योरप में नीची श्रेणियों में ईर्ष्या, द्वेष और अहंकार का प्राबल्य हुआ जिससे लाभ उठाकर लेनिन अपने समय में महात्मा बना रहा। समाज की ऐसी वृत्तियों पर स्थित माहात्म्य का स्वीकार और अमंगल का सूचक है। मूर्ख जनता के इस माहात्म्य प्रदान पर न भूलना चाहिए यह बात गोस्वामी जी साफ-साफ कहते हैं—

'तुलसी भेड़ी की धंसनि, जड़ जनता सनमान।
उपजत ही अभिमान भो खोवत मूढ़ अपान॥

जड़ जनता के सम्मान का पात्र वही होगा जो उसके अनुकूल कार्य करेगा। ऐसा कार्य लोक मंगलकारी कभी नहीं हो सकता। जनता के किसी भाग की दुर्वृत्तियों के सहारे जो व्यवस्था स्थापित होगी, उसमें गुण, शील, कला कौशल बलबुद्धि के असामान्य उत्कर्ष की संभावना कभी नहीं रहेगी, प्रतिभा का विकास कभी नहीं होगा। रूस तथा चीन भारी-भारी विद्वानों और गुणियों का भागना इस बात का आभास दे रहा है। अल्पशक्ति वालों की अहंकार वृत्ति को तुष्ट करने वाला 'साम्य' शब्द ही उत्कर्ष का विरोधी है। उत्कर्ष विशेष परिस्थिति में होता है। परिस्थिति विशेष के अनुरूप किसी वर्ग में विशेषता का प्रादुर्भाव ही उत्कर्ष या विकास कहलाता है, इस बात को आजकल के विकासवादी भी अच्छी तरह जानते हैं। इस उत्कर्ष का विरोधी साम्य जहां हो, उसे हमारे यहां के लोग 'अंधेर नगरी' कहते आए हैं।" —गो० तुलसीदास पृ० ५०।

'कृषि गौरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्' अर्थात् खेती, गोपालन और व्यापार ये वैश्य के स्वाभाविक धर्म हैं।

अब रहे शूद्र। इनके दोषों की ओर मानसकार इस प्रकार इंगित करता है—

सोचिय सूद्र विप्र अवमानी। मुखरू मानप्रिय ग्यान गुमानी॥

शूद्रों के बारे में गोस्वामी जी ने जो शास्त्रीय वचनों का जगह-जगह हवाला दिया है, 'आजकल की अव्यवस्था को अपने महत्व का द्वार समझने वाले कुछ लोगों को नहीं सुहाता। समाज में सदैव से ऊँची नीची श्रेणियाँ रहती आयी हैं और रहेंगी। फावड़ा लेकर मिट्टी खोदने वाले और कलम लेकर वेदान्त सूत्र लिखने वाले के कार्य एक ही कोटि के न कभी माने जाते थे और न माने जायेंगे। इस भेद को किसी प्रकार की चिकनी चुपड़ी भाषा या पाषंड नहीं मिटा सकता। शूद्रों के प्रति यदि धर्म और न्याय का पूर्ण पालन किया जाय, तो गोस्वामी जी उनके कर्म को ऐसा कष्टप्रद नहीं समझते थे कि उसे छोड़ना आवश्यक हो।'[1] सच तो यह है कि गोस्वामी जी को किसी जाति विशेष के प्रति न तो राग था और न द्वेष ही। उन्हें चिढ़ थी केवल पाषंडियों से, मर्यादातिक्रमण करने वालों से। हम मानस में कतिपय पूज्य व्यक्तियों को मर्यादाभंग करने के फलस्वरूप आठ आठ आंसू रोते हुए देखते हैं।

'सब नृप भए जोग उपहासी। जैसे बिनु विराग संन्यासी॥"

के अनुसार नारद विवाह के फेर में पड़ कर हास्यास्पद बने। 'चहिय विप्र उर कृपा घनेरी' के विरुद्ध आचरण करने पर परशुराम और दुर्वासा की दुर्दशा हुई। 'मुखरमानप्रिय ग्यान गुमानी' की प्रतिमूर्ति काकभुशुंडि भगवान् शंकर के शाप के शिकार होते हैं :—

महा विटप कोटर महुं जाई। रहु अधमाधम अघ गति पाई॥

सीता का वेश धारण करने का अपराध करने पर सती जैसी नारी का शिवजी परित्याग कर देते हैं—

सिय वेस सती जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरीं।
जौं अब करौं सती सन प्रीती। मिटइ भगति पथ होइ अनीती॥

द्विजराज रावण ने अपनी स्त्री की सीख अनसुनी की—

जौं आपन चाहउ कल्याना। सुजस सुगति सुभगति सुख नाना॥
तौ पर नारि लिलार गोसाईं। तजहु चौथ चंदा की नाईं॥

फलतः 'अब तव भुज सिर जंबुक खाहीं' की दशा को प्राप्त होता है।

जगज्जननी सीता ने लक्ष्मण की खींची रेखा (मर्यादा) का उल्लंघन किया, फलतः उन्हें घोर विपत्ति का सामना करना पड़ा—आठ आठ आंसू रोना पड़ा—

हा लछिमन तुम्हार नहिं दोसा। सो फलु पायउं कीन्हेउं रोसा॥

---

१. देखिए गो० तुलसीदास, (आचार्य शुक्ल) पृ० ५१।

इसके विपरीत 'निज निज धरम निरत स्तुति रीती' के अनुसार जीवन यापन करने वाले लोग सुगति के अधिकारी हुए—

'सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्ह रघुनाथ'

निषाद को गोस्वामी जी ने 'रामसखा' की संज्ञा दी है। रामचन्द्र उसे विदा करते हुए कहते हैं--

जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन क्रम वचन धरम अनुसरेहू॥
तुम मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥

बल, विनय कर्तव्यनिष्ठा का वह सजीवन संघात है।[1]

उसकी अनुकरणीय नम्रता देखिए—

देखि दूरितें कहि निज नामू। कीन्ह मुनीसहिं दंड प्रनामू॥

फिर छोटे बड़ों के व्यवहार में जिस प्रकार की अमायिक शिष्टता एवं हार्दिकता की मनोहर झांकी मिलती है उसमें ऊँच नीच का अन्तर एवं आभिजात्य अहं का कहीं खोजने पर भी पता नहीं चलता। 'कवि की जनु तनु धरे विनय अनुरागू' की उत्प्रेक्षा उचित ही है। ब्राह्मण और शूद्र, छोटे और बड़े के बीच ऐसा ही व्यवहार गोस्वामी जी उचित समझते थे।[2] शूद्रों के बारे में गीता कहती है—

"परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्"

---

१. **होहु संजोइल रोकहु घाटा। ठाटहु सकल मरेइ के ठाटा॥**
सनमुख लोह भरत सन लेऊ। जिअत न सुरसरि उतरन देऊ॥
समर मरन पुनि सुरसरि तीरा। राम काजु छनभंगु शरीरा॥
भरत भाइ नृप मैं जन नीचू। बड़े भाग अस पाइअ मीचू॥
स्वामि काज करिहौं रनरारी। जस धवलिहहु भुवन दस चारी॥
तजउं प्रान रघुनाथ निहोरे। दुहूं हाथ मुद मोदक मोरे॥
साधु समाज न जाकर लेखा। राम भगत महुं जासु न रेखा॥
जाय जियत जग सो महि भारू। जननी जोबन विटप कुठारू॥
विगत विषाद निषाद पति, सबहि बढ़ाइ उछाहु।
सुमिरि राम मांगेउ तुरत, तरकस धनुष सनाहु॥

२. **जानि राम प्रिय दीन्हि असीसा। भरतहिं कहेउ बुझाइ मुनीसा॥**
राम सखा सुनि स्यन्दनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥
गाउं जाति गुह नाउं सुनाई। कीन्ह जोहारु माथ महिलाई॥
प्रेम पुलकि केवट कहिनामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥
राम सखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥

आधुनिक शब्दावली में इसी को 'सेवा संसृति भाग हमारा' कह सकते हैं। इस सेवा धर्म के गर्भ को कोल-किरातों ने समझा था।[1]

श्रुति प्रतिपादित लोक-नीति और समाज के सुख का विधान करने वाली शिष्टता गोस्वामी जी को इष्ट थी। लोक मर्यादा ओर शिष्टता के उल्लंघन से शिव स्वरूप विश्वम्भर प्रलयंकर रुद्र बन जाता है—'अति अघ गुरु अपमानता सहि नहिं सके महेस'।

इस प्रसंग में लोकमत और साधुमत को आमने सामने रखकर गोस्वामी जी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि लोकमत लोक शासन के लिए है और साधुमत का अनुसरण व्यक्तिगत साधन है। इन दोनों का सामंजस्य गोस्वामी जी की धर्म भावना के भीतर है। समाज में मर्यादा की प्रतिष्ठा कर शिवत्व बनाए रखना मानों शिव के ही जिम्मे है। दक्ष को प्रजापति पद प्राप्त कर लेने पर इसी प्रकार उन्माद हो गया था। फलस्वरूप शिव ने उनका यज्ञ विध्वंस करा डाला। यहां यह ज्ञातव्य है कि दक्ष शिव के ससुर थे। कामदेव पर विजय प्राप्त कर लेने पर नारद को भी अभिमान हो गया था जिसके विरुद्ध शिवजी ने उन्हें (नारद को) चेतावनी दी थी। एक बात और ध्यान रखने की है कि निषाद और कोल किरात स्वधर्मानुष्ठान का आचरण करके और देश धर्म के प्रति निष्ठा प्रदर्शित करके ही सबके सम्मान भाजन बने और लोकप्रिय हुए। यही कारण है जो मानस के रामचन्द्र को न तो किसी शंबूक से रण करना पड़ा और न किसी अछूत का उन पर कभी ग्रहण ही लगा—

राजघाट सब विधि सुन्दर वर। मज्जहिं तहां वरन चारिउ नर॥

हमारे यहां 'सर्वहित' इष्ट अवश्य है पर वह सबके सम्मत होना चाहिए और साथ ही धर्मसहित भी।[2] मर्यादा सौन्दर्य का श्रृंगार है—

---

१. हम सब धन्य सहित परिवारा। दीख दरसु भरि नयन तुम्हारा॥
कीन्ह बास भल ठाउं विचारी। इहां सकल रितु रहब सुखारी॥
हम सब भांति करब सेवकाई। करिकेहरि अहि बाघ बराई॥
बन बेहड़ गिरि कंदर खोहा। सब हमार प्रभु पग पग जोहा॥
तहं तहं तुम्हहि अहेर खेलाउब। सर निर्झर भल ठाउं देखाउब॥
हम सेवक परिवार समेता। नाथ न सकुचब आपसु देता॥
कोल किरात भिल्ल बनवासी। मधु सुचि सुन्दर स्वादु सुधासी॥
भारं भरि परन पुटी रुचि रूरी। कंद मूल फल अंकुर जूरी॥
सबहिं देहिं करि विनय प्रनामा। कहि कहि स्वादु भेद गुन धामा॥
देहिं लोग बहु मोल न लेहीं। फेरत राम दुहाई देहीं॥

२. परित्यजेदर्थ कामौ च स्यातां धर्मवर्जितौ।
अर्थात् धर्म विरुद्ध अर्थ काम छोड़ देना चाहिए।
अद्रोहेणैव भूतानामल्प द्रोहेण वा पुनः।

'मैं वह हलकी सी मसलन हूं जो बनती कानों की लाली'

कामशास्त्र के अनुसार तो प्रहरण आदि व्यापार सुरतानन्द को कई गुना बढ़ा देते हैं जबकि ऊपर से वे (प्रहरणादि) व्यापार कष्टकर ही प्रतीत होते हैं। सीत्कार तो कष्ट सूचक ही है न पर 'साकेत'कार क्या साखी भर रहे हैं—

सी सी करती हुई पार्श्व में खड़ी देखकर मुझको।
अपना उपकारी कहते थे मेरे प्रियतम तुझको॥

पर गोस्वामी जी की 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी' वाली पंक्ति में आए 'ताड़न' पर आजकल के सुधारक लाल पीले हो जाते हैं कारण उक्ति के स्वारस्य को उनकी संकीर्ण हृदयता स्वीकार नहीं कर पाती।

नारी

रामराज्य में नारी जाति का बड़ा सम्मान था। वन जाने के लिए आज्ञा मांगते आए हुए राम से कौशल्या कहती हैं कि 'जौ केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥ जौ पितु मातु कहेउ वन जाना। तौ कानन सत अवध समाना। कुछ प्राकृतिक कारणों से स्त्री स्वतंत्र नहीं रह सकती। इस पर कवि ने भी संवेदना प्रकट की है—

कत बिधि सृजी नारि जग माही। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं॥

स्त्री का सबसे बड़ा अभाग्य तो यह है कि जो माता पिता उसे जन्म देते और इतने लाड़ प्यार से पालते पोसते हैं, उन्हीं को छोड़कर उसे सर्वथा अपरिचित एवं अजनबी लोगों के बीच जीवन भर के लिए बस जाना पड़ता है—जन्म भूमि, गौत्रिणी की गोद सदा के लिए छूट जाती है। मासिक धर्म एवं गर्भ धारण का झंझट गले पड़ता है। 'चोर नारि जिमि प्रगट न रोई' की नंगी तलवार तो मानो निरंतर कच्चे धागे में बंधी हुई सिर पर लटकती रहती है। कम से कम इन सब बलाओं से पुरुष दूर ही रहता है। पर इन सब के बावजूद 'यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' के सिद्धान्त में समाज विश्वास करता था। स्त्री अबध्य मानी जाती थी। राम की सुधि विसारने वाले सुग्रीव पर कुपित होकर जब लक्ष्मण किष्किन्धा में पहुँचे हैं तब सुग्रीव को त्राण का एक ही उपाय सूझता है—

सुनु हनुमंत संग लै तारा। करि विनती समुझाउ कुमारा॥

अंगद भी रावण को विश्वास दिलाते हैं कि यदि तुम सीता जी को सादर आगे करके और उनके पीछे अपने परिजनों एवं रानियों को लेकर राम की शरण में जाओगे तो निश्चय

अर्थात् द्रव्योपार्जन वा आत्मोन्नति ऐसी हो जिससे किसी से द्रोह न हो अथच अल्पद्रोह हो।
—वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति (म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी)।

ही 'सब अपराध छमिहि प्रभु तोरा' । मृगया में भी मर्यादा थी कि मांदे पर प्रहार नहीं किया जाता था।[1]

सतियों का तो विशेष आदर मान था राम राज्य में । चारित्रिक दृढ़ता के लिए वे ख्यात थीं—'डगे न संभु सरासन कैसे । कामी बचन सती मन जैसे' । इस आदर्श की चरितार्थता भी हम देखते हैं—

हारि परा खल बहुविधि भय अरु प्रीति देखाई।
तब असोक पादप तर राखिसि जतन कराइ ॥

सीता के इस लोकोत्तर पातिव्रत्य को देखकर परम कामी रावण की कुटिलता भी थोड़ी देर के लिए ही सही—तिरोहित हो जाती है । वह मन ही मन सती के चरणों प्रणत हो जाता है—

'मन महं चरन वंदि सुख माना' । यही नहीं, सती शिरोमणि सीता की गुण गाथा को राम भक्ति सुर सरिता की अमलता एवं अनूपता कहा गया है ।

स्त्रियों के लिए उत्सव में तथा स्नानादि के लिए पुरुषों से अलग व्यवस्था थी ।[2] प्रत्येक अवसर पर महिलाओं को विशेष सुविधाएँ सुलभ थीं—

गुरहि सुनावं चढ़ाइ सुहाई । नई नाव सब मातु चढ़ाई ॥

गुरु के लिए अच्छी नाव थी पर माताओं के लिए नई नावों का प्रबन्ध था । सुरक्षा का कितना ध्यान था ।

माता कन्या को ससुराल विदा करते समय जमाता से विनती करती थी—

'ए दारिका परिचारिका करि पालिबी करुना नई'

और इधर सास ससुर माता-पिता का स्थान ग्रहण कर लेते थे। दशरथ अपनी रानियों को सहेजते हैं—

बधू लरिकीनी पर घर आई । राखहु नयन पलक की नाई

---

१. इसी से वन में राम को देख कर केवल मृगों के ही भागने का उल्लेख गोस्वामी जी करते हैं, मृगियों के भागनें का नहीं।
देखिए—'हर्मांहि देखि मृग निकर परा ही' वाला प्रसंग।

२. अति विस्तार चारु गच ढारी । विमल वेदिका रुचिर संवारी।
चहुं दिसि कंचन मंच विसाला । रचे जहां बैठहि महिपाला ॥
तेहि पाछें समीप चहुं पासा । अपर मंच मंडली विलासा ॥
कछुक ऊंचि सब भांति सुहाई । बैठहि नगर लोग जहं जाई ॥
तिन्ह के निकट विसाल सुहाये । धवल धाम बहुबरन बनाए ॥
जहं बैठे देखहि सब नारी । जथा जोगु निज कुल अनुहारी ॥
पनिघट परम मनोहर नाना । तहं नहिं पुरुष करहिं अस ताना ॥

और फिर हम देखते हैं—

सुन्दर बधुन्ह सासु लै सोई। फनिकन्ह जनु सिर मनि उर गोई।।

राम के साथ वन में सीता को जाते हुए देखकर कौशल्या कलप कर कहती है।

जिवन मूरि जिमि जुगवत रहेऊं। दीप बाति नहिं टारन कहेऊं।।
नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउं प्रान जानकिहिं लाई।।
कलप वेलि जिमि बहु विधि लाली। सींचि सनेह सलिल प्रतिपाली।।

............आदि। एक गृहस्थ भक्त की कांक्षा है।

आदर्श वधू

पत्नीं मनोरमां देहि मनोवृत्तानुसारिणीं।
तारिणीं दुर्ग संसार सागरस्य कुलोद्भवाम्।।

कहना न होगा कि सीता के जीवन में इस आदर्श को मूर्तिमंत होते हुए हम देखते हैं—

जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। विपुल भांति सेवा बिधि गुनी।।
निजकर गृह परिचर्या करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई।।
जेहि विधि कृपा सिन्धु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा विधि जानइ।।
कौसल्यादि सासु गृह माही। सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं।।

इसी से जनक को सन्तोष है—

तापस वेष जनक सिय देखी। भयउ पेमु परितोषु विसेषी।।
पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जगु कह सब कोई।।
जिति सुरसरि कीरति सरितोरी। गवनु कीन्ह विधि अंड करोरी।।

स्त्रियों की भी कुलशील के तारतम्य से उत्तम, मध्यम, नीच, लघु करके कोटियां थीं। जहां सीता जी आदर्श गृहिणी और कौशल्या सुमित्रा जैसी आदर्श माताएं नारी समाज की गौरव थीं, वहीं मंथरा जैसी कंलकिनियाँ भी। समाज में अस्वास्थ्य वातावरण उत्पन्न करने पर कतिपय असामाजिक नारी तत्वों का दमन, मर्यादापुरुषोत्तम को करना पड़ा जो शास्त्र संमत नहीं कहा जा सकता। ताड़का का वध उन्होंने स्वयं किया और शूर्पणखा के नाक कान लक्ष्मण से कटवा लिये।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि ऐसी नारियों का पीटना या वध करना नियम सा हो गया था। इस प्रकार की घटनाएं अपवाद स्वरूप ही समझनी चाहिये। स्त्री हर हालत में अवध्य थी।[1] नियम यही था और साधुजन इस नियम को भरसक भंग नहीं होने देते थे। ननिहाल से

---

१. **जब हिंस्र जन्तुओं की मादाओं तक को मारना पाप में दाखिल था तब 'नारी वध' भला वैध हो ही कैसे सकता था।**

लौटने पर जब मन्थरा को शत्रुघ्न-सारे अनर्थों की जड़ समझ कर 'लगे घसौटन धरि-धरि चोटी' तब दयानिधि भरत[1] ने उसे छुड़ा दिया। स्त्री के लिए एक मात्र दंड था—'पृथक् शय्या च नारीणाम्'।

जैसाकि श्रुति मार्ग के रक्षक शिव[2] ने सती जैसी स्त्री का परित्याग करके दिखाया है। न जाने क्यों सीता-परित्याग[3] वाली घटना को गोस्वामी जी बचा गए हैं। उस पर मौन हैं।

पति के प्रति अनन्य प्रेम भारतीय नारी का जीवन सर्वस्व है।[4] लंका के मध्य रावण को ललकार कर सीता कहती हैं—

स्याम सरोज दाम सब सुन्दर। प्रभु भुज करि कर सम दसकंधर।।
सो भुज कंठकितव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रवान पन मोरा।।

'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे' न्याय से नारी के कुलशील की रक्षा का दायित्व पुरुष पर है। नारी अरक्षित वा स्वतंत्र होकर नष्ट हो जाती है।[5] बिना पुरुष के नारी प्राण रहित देह के समान कही गई है।[6] पुरुष के साथ रहने पर उसे कोई चिन्ता नहीं रहती।[7] पुरुष के अभाव में तो वह तरु छूटी लता सी दीन हो जाती है। पवनाधीन पताका सी उसकी मति हो जाती है। शूर्पणखा विधवा थी और स्वेच्छाचारिणी सी मैके में रहती थी।[8] रावण जैसे भाई की बहन थी। फिर भी उसके नाक-कान कट गए मानो कोई अनाथा हो। निम्नीय पंक्ति में उसकी ग्लानि कितनी मर्मिकता के साथ व्यंजित है—

'तोहि जियत दसकंधर मोर कि अस गति होइ'

---

१. भरत कहे यह साधु सयाने
२. जौ अब करौं सती सन प्रीती। मिटइ भगति पथ होइ अनीती।।
   सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं। एहि तन सती भेंट पुनि नाहीं।।
३. बिनु अघ तजी सती वस नारी
४. एकै धरम एक व्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा।।
५. न स्त्री स्वातंन्त्र्य मर्हति' वाला मनु का नियम तो प्रसिद्ध ही है, इस सम्बन्ध में और अनेक शास्त्र वचन मिलते हैं—
   अरक्षणाद् यथा पाकः श्वपाक वशगोपयेत्।
   तथैव युवती नारी स्वच्छन्दात् दुष्टतां व्रजेत्।।
६. जिय बिनु देह नदी बिनु वारी। तैसइ नाथ पुरुष बिनु नारी।
७. प्रभु संग मोहिं को चितवन हारा। सिंघ बधुहि जिमि ससक सियारा।।
८. मैंके में स्त्री का कोई स्वत्व होता नहीं इसलिए वहां उसे शरणार्थियों-सा तिरस्कृत जीवन व्यतीत करना पड़ता है—
   नैहर जनम भरब बरु जाई। जियत न करब सवत सेवकाई।।

समाज में कन्या का स्थान

विवाह में कन्या स्वतंत्र नहीं थी। पिता के अधीन थी। सीता राम पर मुग्ध थीं पर यह कभी नहीं कहतीं कि धनुष चाहे जो तोड़े पर मैं तो विवाह राम से ही करूंगी। पिता भी कन्या के अनुरूप ही घर, वर कुल आदि का विचार कर सम्बन्ध निश्चित करता था—

जौ घर वर कुल होय अनूपा। करिय विवाह सुता अनुरूपा॥

कुलांगनाओं की सबसे बड़ी पहिचान उनका शील था—

'सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जा च कुलांगना'

यौवन और सौन्दर्य के पारखी और सुकुमार कल्पना के कवि 'प्रसाद' लज्जा का काव्यमय परिचय यों देते हैं—

मैं उसी चपल की धात्री हूँ मैं शालीनता सिखाती हूँ।
मतवाली सुन्दरता पग में नूपुर सी लिपट मनाती हूँ॥

लज्जा के योग से सुन्दरता कितनी निखर उठती है—

स्मिति बन जाती है तरल हँसी नयनों में भर कर बांकापन।

यह तो हुआ सौन्दर्य शास्त्रियों और कलाकारों का पक्ष। लोक व्यवस्थापकों और मर्यादावादियों की दृष्टि में भी लज्जा अथवा संकोच का बड़ा महत्व है। मर्यादा के साथ शील संकोच का अटूट सम्बन्ध है।[१] विशेष कर स्त्रियों में तो इसका बड़ा माहात्म्य है और यही वृत्ति उन्हें दो वर्गों में बांटती है—

'सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जा च कुलांगना'

सीता जी के दो एक चित्र देखें—

(१) गुरजन लाज समाजु बड़ देखि सीय सकुचानि।
लागि विलोकन सखिन तन रघुवीरहिं उर आन॥

(२) प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग जनु विधु मंडल डोल॥
गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी॥
लोचन जलु रह लोचन कोना। जैसे परम कृपन कर सोना॥

दूसरी ओर स्वैरिणी शूर्पणखा का चित्र है—

सूर्पनखा रावन कै बहिनी। दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी॥
पंचवटी सो गइ एक बारा। देखि विकल भइ जुगल कुमारा॥
भ्राता पिता पुत्र उर गारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥
होइ विकल सक मनहि न रोकी। जिमि रवि मनि द्रव रविहि विलोकी॥
रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई। बोली बचन बहुत मुसुकाई॥

---

१. सील संकोच सिन्धु रघुराऊ।

तुम सम पुरुष न मो सम नारी । यह संजोग विधि रचा बिचारी ।।
मम अनुरूप पुरुष जग माहीं । देखेउं खोजि लोक तिहुं नाहीं ।।
तातें अब लगि रहिउं कुमारी । मनु माना कछु तुम्हहि निहारी ।।

सम्प्रति समाज में अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह धड़ल्ले से हो रहे हैं । दस वर्ष की कन्या साठ पैंसठ वर्ष के बूढ़े के साथ हांक दी जाती है । समाज सुधारकों, उपन्यासों और चलचित्रों के लाख गला फाड़-फाड़कर चिल्लाते रहने पर भी यह कुरीति नहीं जा रही है । कुछ पिता पैसे के लालच में पड़कर, कुछ लड़की के भविष्य सुख का ख्यालकर और कुछ वर्षों से वर खोजते-खोजते परेशान होकर मजबूरन अपनी कन्या को कुएं में ढकेलने को विवश होते हैं । पर माता साधारणतया ऐसा विवाह पसन्द नहीं करती । शिव विवाह के माध्यम से गोस्वामी जी ने इस प्रथा पर बड़ी मार्मिक चोट की है । इस आख्यान में मातृ हृदय की बड़ी मर्मस्पर्शी झांकी मिलती है ।[1] ऐसे विवाहों में प्रायः अगुआ (मध्यस्थ) को वर-कन्या दोनों पक्षों या किसी एक पक्ष के आक्रोश का शिकार होना पड़ता है । कन्या की मां विशेष रूप से अगुआ को ही कोसती है—

नारद कर मैं काह बिगारा । भवनु मोर जिन्ह बसत उजारा ।।

ऐसे अवसरों पर लोग प्रायः दैव के मत्थे दोष मढ़ कर संतोष करते हैं । पार्वती माता को समझाती हैं—

अस बिचारि सोचहि मति माता । सो न टरइ जो रचइ बिधाता ।।
करम लिखा जौं बाउर नाहू । तौ कत दोसु लगाइ न काहू ।।
तुम सन मिटहिं कि बिधि के अंका । मातु व्यर्थ जनि लेहु कलंका ।।

वैसे शिव के प्रति पार्वती की निष्ठा और आस्था निरन्तर अडिग बनी रही—

जनम कोटि लगि रगर हमारी । बरौं संभु नतु रहौं कुमारी ।।

यति

राम राज्य में यतियों, मुनियों और संन्यासियों के ज्ञानबल, तपोबल एवं आशीर्वाद का समाज मुखापेक्षी था । ये लोग अपने उत्तम आचरण से समाज में दैवी संपदा का संव-

---

१. मैना के हृदयोद्गार किस का हृदय नहीं पिघला देंगे :
मैना हृदय भयउ दुख भारी । लीन्ही बोलि गिरीस कुमारी ।।
अधिक सनेह गोद बैठारी । स्याम सरोज नयन भरे बारी ।।
जेहिं बिधि तुम्हहि रूपु अस दीन्हा । तेहिं जड़ बरु बाउर कस कीन्हा ।।
कस कीन्ह बरु बौराह बिधि जेहिं तुम्हहि सुन्दरता दई ।
जो फलु चहिय सुर तरुहिं सो बरबस बबूरहिं लागई ।।
तुम सहित गिरि तें गिरौं पावक जरौं जलनिधि महुं परौं ।
घरु जाउ अपजसु होउ जग जीवत बिवाहु न हौं करौं ।।

र्द्धन एवं संरक्षण करते रहते थे। साथ ही भौतिक विभूतियों का योग-क्षेम भी इन्हीं की कृपा से संभव हो पाता था। पुरुषार्थ चतुष्टय की साधना में तप का महत्व अप्रतिम था और वह तप इन ऋषियों का जीवन सर्वस्व ही था। नाम की महिमा यह थी—

तप बल रचइ प्रपंचु विधाता। तपबल विष्णु सकल जग त्राता॥
तप बल संभु करहिं संघारा। तप बल सेषु धरइ महि भारा॥
तप अधार सब सृष्टि भवानी। करहि जाइ तपु अस जियंजानी॥

दैत्य-राक्षसादि भी तपस्या के बल पर ही त्रैलोक्य पर विजय प्राप्त कर देव दुर्लभ संपदाओं को भोग अनेक चतुर्युगियों तक करते थे।

लंका का वैभव देख कर हनुमान को कहना पड़ा :

'धन्य धन्य तप धन्य सिव धन्य धनी दससीस'

वैसे भी कहा है—**"बिनु तप तेज कि कर विस्तारा"**

यज्ञ-यागादि से देवों की क्षुधा शान्त होती है और वे बदले में जगत् के प्राणियों की ईति भीति से रक्षा करते हैं : यज्ञात् भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्न संभवः।

रावण ने देवों पर विजय प्राप्त करनी चाही पर वे सामने लड़ाई करते नहीं थे। अतः उसे एक युक्ति सूझी उसने सब निशाचरों को बुलाकर कहा—

सुनहु सकल रजनीचर जूथा। हमरे वैरी विवुध वरूथा॥
ते सनमुख नहिं करहिं लराई। देखि सबल रिपु जाहिं पराई॥
तेन्हकर मरन एक विधि होई। कहउं बुझाइ सुनहु अब सोई॥
द्विज भोजन मख होम सराधा। सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा॥
छुधा छीन बल हीन रिपु सुर, सहजहिं मिलिहहिं आइ।
तब मारिहउं कि छाड़ि हउं भली भांति अपनाइ॥

देव शक्तियों को भूखों मार कर अपना वशवर्ती बनाने के लिए ही रावण ने यज्ञ-यागादि पर पाबन्दी लगा दी थी। धार्मिक स्वतंत्रता समाप्त कर दी गई। निरीह ऋषियों की हड्डियों से दक्षिणापथ ढंक गया। जब पापाचार के भार को पृथ्वी नहीं संभाल सकी, तब उसने भगवान् से गुहार की। उन्होंने आश्वस्त किया कि—

हरिहउं सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई॥

इधर मनुसतरूपा ने तपस्या के बल पर ही साक्षात् परब्रह्म को पुत्र रूप में पाया। दशरथ कौशल्या के रूप में भी पुत्र प्राप्ति के लिए पुनः यज्ञ करना पड़ा।

वही राजा अच्छा माना जाता था जिसके राज्य में तपस्वी मुनि अभय विचरण करते थे।[1] उस राजा के दिन गिने ही होते थे जिनसे मुनिजन कष्ट पाते थे—

---

१. **'अभय भए विचरहिं मुनि कानन'।**

मुनि तापस जिनसे भय लहहीं। ते नरेस बिनु पावक दहहीं।।

नारदादि जैसे निस्संग एवं जीवन्मुक्त महात्मा परानुग्रह कांक्षया-लोक संग्रहार्थ-लोक में विचरण करते रहते, भूले भटकों को राह दिखाते दुखियों का दुःख हरते एवं पापियों का उद्धार करते थे।[१] प्रपंच रत यति[२], वैराग्यरहित संन्यासी[३] और तपस्या छोड़कर भोगों में आसक्त वैखानस[४] शोचनीय समझा जाता था—समाज में उसकी हँसी होती थी। संतों का मन कोटि विघ्नों में भी नीति को नहीं त्यागता था।[५] काम-क्रोधादि विकारों से वे सदैव ऊपर रहते थे। सारे दुःखों की खान प्रमदा[६] है। अतः यतियों को उससे सदैव दूर ही रहना चाहिए[७] अन्यथा 'जतिहि अविधा नास' की स्थिति अनिवार्य है। एषणाएँ यति को मलिन कर देती हैं। त्रिविध एषणाओं में लोकैषणा सबसे प्रबल है। नारद ने काम पर विजय तो पाई पर इससे उन्हें अभिमान हो गया और फिर हृदय के निभृत कोने में दबा हुआ काम भी जागा जिसके कारण जगत् में उनका कितना उपहास हुआ। यह बात स्मरण रखना चाहिए कि ज्ञान जहाज है तो भक्ति उसका कर्णधार।[८] यही कारण है कि जिन्होंने ज्ञानवान विमत्त होकर भक्ति से नाता तोड़ा वे अवश्य मार्गभ्रष्ट हुए। इसी को भगवान् ने इस प्रकार समझाया है—

मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। सेवक सुत सम दास अमानी।

मानस में हम देखते हैं कि वसिष्ठ जैसे ब्रह्मर्षि भी—जिनके बारे में कहा गया है जिनहि विस्वकर बदर समाना—लोक संग्रह को नहीं छोड़ते हैं। चित्रकूट की सभा में भी वे लोक धर्म को न छोड़ने की सलाह राम को देते हैं।[९] ज्ञान मार्गी होते हुए भी वे समय,

---

१. नारद देखा बिकल जयन्ता। लागि दया कोमल चित संता।।
नारद मुनि ग्यान जो कहा। कहतेउं तोहि समय निरबहा।।

२. सोचिय जती प्रपंच रत बिगत बिवेक बिराग।

३. सब नृप भए जोग उपहासी। जैहे बिनु बिराग संन्यासी।।

४. वैखानस सोइ सोचे जोगू। तप बिहाइ जेहि भावै भोगू।।

५. कोटि बिघ्न तें संत कर मन जिमि नीति न त्यागा।

६. लोभ के इच्छा, दंभबल काम के केवल नारि

७. पदापि युवती भिक्षुर्नस्पृशेद् दारवीमपि
स्पृशन करीव बध्येत करिण्या अंग संगतः।।
—क्यों (१) पृ० ५८३।
अर्थात् मुमुक्षु भिक्षुक का कर्तव्य है कि चरण से भी काष्ठमयी भी युवती का स्पर्श न करे ? हाथी जिस प्रकार हथिनी के अंग संग मात्र से बन्धन को प्राप्त होता है, मुमुक्षु भी इसी प्रकार स्पर्श करने से सांसारिक बन्धनों में फिर जकड़ा जायगा।

८. सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानू। कर्णधार बिनु जिमिजल जानू।।

९. 'करब लोक मत साधु मत नृपनय निगम विचार'।

समाज और धर्म के अविरुद्ध ही बात करते हैं।[१] भारतीय राजनीति ने वीतराग और ब्रह्मवादी ऋषियों की भी उपयोगिता स्वीकार की है। प्रवृत्ति मार्ग के सारे नियम इन्हीं ऋषियों के बनाए हुए हैं जिन्हें समाज ने नतमस्तक स्वीकार किया है। नियामक ऋषि भी देशकाल की हलचलों से अवगत रहते थे और समाज की आवश्यकताओं के अनुसार उन नियमों में संशोधन परिवर्तन भी करते रहते थे। वे समाज की धारा को लोक और वेद के भीतर रखने की चेष्टा करते थे। शासन जब लोकवेद के विरुद्ध होकर स्वेच्छाचारिता अपनाता तब विद्रोह हो जाता था।[२] कपट वेष धारी साधु कभी कभी लोकधर्म समय समाज और धर्म के विरुद्ध अनेक मतों, पंथों आदि की कल्पना करते थे। सच्चे साधु उनके भ्रमजाल का उच्छेद करके समाज में यथास्थिति बनाए रखते थे। समाज पर तीन ऋण होते हैं: (१) देवऋण, (२) पितृऋण और (३) ऋषि ऋण।

जिस दिन से समाज इन तीनों ऋणों की उपेक्षा करने लगता है, समझना चाहिए कि उसी दिन से आसुरी सम्पदा का राज्य हो गया। समाज में निशाचरी प्रवृत्तियों ने घर कर लिया।[३]

मानस में हमें दो प्रकार के साधु मिलते हैं—

(१) लोभ और भय से अडिग रह कर समाज को सत्पथ दिखाने वाले साधु और (२) भंड साधु या कपटी साधु। पहले में भरद्वाज, वसिष्ठ, वाल्मीकि, अगस्त्य, हनुमान, जामवन्त विभीषण आदि आते हैं और दूसरे में एक तनु, कालनेमि रावण आदि।

पहले वर्ग के साधुओं ने सन्मार्ग के प्रवर्तक, साधनहीन राम का साथ दिया यथा संकटकालीन स्थिति में वसिष्ठ ने अयोध्या को संभाला, भरद्वाज ने राम को रास्ता

---

१. **समय समाज धर्म अविरोधा।**
बोले तब रघुवंश पुरोधा॥

२. **मानस में राज्य क्रान्ति के स्वर निम्नीय उक्तियों एवं प्रसंगों में देखें—**
(अ) **चउदह भुवन एक पति होई। भूत द्रोह तिष्ठै नहिं सोई॥**
(ब) **दशरथ के विरुद्ध लक्ष्मण का विद्रोह।**
लखन कहीं कछु अनुचित बानी......
(स) **ननिहाल से लौटने पर भरत के प्रति पुरजनों की उदासीनता**
एक भरतकर संमत कहहीं......गर्वहिं जुहारे जाहिं
(य) **केवट का क्रोध—**
सनमुख लौह भरत सन लेऊं। जियत न सुरसरि उतरन देऊं॥
लक्ष्मण का आक्रोश—भरत के विरुद्ध

३. **मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन सन करवावहिं सेवा।**
जिनके अस आचरन भवानी। ते जानहु निसिचर सम प्रानी॥

बताया, वाल्मीकि ने उन्हें वास स्थान बताकर उपकृत किया तो अगस्त्य ने राक्षसों के वध का उपाय बताकर भूभार हरण करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। विभीषण की साधुता में भला क्या सन्देह किया जा सकता है जिसने लंका के राज्य को लात मार दी—

'करत राज लंका सठ त्यागी'। धार्मिक स्वतंत्रता उसे प्राप्त थी ही। शासक शैव मतानुयायी कौल था फिर भी विभीषण को जो वैष्णव था, उसने विश्वासानुसार उपासना की स्वतंत्रता दे रखी थी। फिर क्या कारण था जो विभीषण रावण का साथ छोड़कर राम से जा मिला। कारण स्पष्ट है। विभीषण की साधुता 'परतियचोरी' को सह नहीं सकी। पिछले जन्म में वह धर्म रुचि नाम का मंत्री रहा—यथा नाम तथा गुण का प्रतीक। दूसरे जन्म में भी उसने केवल भगवान् के चरणों में अमल अनुराग ही मांगा। हनुमान को जब प्राणदंड देने का आदेश रावण ने दिया तब विभीषण ने ही सलाह दी कि दूत अवध्य होता है, कोई दूसरा दंड दें। उसके सीता को वापस करने की सलाह पर रावण ने उसको पीटा और दुत्कार कर निकाल बाहर किया—

मम पुर बसि तपसिन पर प्रीती। सठ मिलु जाइ उनहिं कहु नीती।।

इतनी अवमानना और प्रतारणा पर भी विभीषण इतना ही कहते हैं—तुम पितु सरिस भलेहिं मोहि मारा। राम भजे हित नाथ तुम्हारा।।

इस पर शिवजी कहते हैं—

उमा संत कै इहै बड़ाई। मंद करत जो करै भलाई।।

आरंभ में वेश प्रताप से ये नकली साधु लोक पूजा प्राप्त कर लेते हैं पर थोड़े ही दिनों में इनकी कलई खुल जाती है और ये कालनेमी, रावण और राहु की गति को प्राप्त होते हैं। भानुप्रताप का दोनों लोक बिगाड़ने वाला 'एकतनु' नामक भंड साधु उन कलियुगी साधुओं का प्रतीक था जो आचारहीन थे, जिनके बड़े-बड़े नख और बड़ी-बड़ी जटाएँ थीं, जिनके आचरण सर्वथा वेद विरुद्ध थे। जो अशुभवेश थे और भक्ष्याभक्ष्य का कतई विचार नहीं करते थे। नारद के पूछने पर भगवान् ने संतों के लक्षण सूत्र रूप में बताए हैं।[1]

---

१. षट् विकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुख धामा।।
अमित बोध अनीह मित भोगी। सत्यसार कवि कोविद जोगी।।
सावधान मानद मदहीना। धीर धर्म गति परम प्रवीना।।
गुनागार संसार दुख रहित विगत सन्देह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुं देह न गेह।।
निज गुन स्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरखाहीं।।
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती।।
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु गोविन्द विप्र पद प्रेमा।।
श्रद्धा दया मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया।।

और उत्तर कांड में कागभुशुंडि ने असंतों की पहिचान बतायी है।[1]

सांस्कृतिक झलकियाँ

संस्कार-मानस में जन्म से मरणोत्तर पर्यन्त प्रमुख संस्कारों का उल्लेख हुआ है। आज कितने ही लुप्तप्राय संस्कारों को गोस्वामी ने मानस के काव्य से पुनरुज्जीवित करना चाहा है।

पुत्र की प्राप्ति बड़े भाग्य से, बड़ी तपस्या से होती है। मनु शतरूपा का, पुत्रलाभ के लिए तपस्या करते-करते, पूरा जीवन समाप्त हो गया। दम्पति की यह साध दूसरे जन्म में, दशरथ कौशल्या रूप में पूरी होती है। इस जन्म में भी चौथापन आ गया पर पुत्र-मुख नहीं देखा तो चिन्ता हुई। ऋष्यश्रृङ्ग ने पुत्र-काम यज्ञ कराया तब जाकर मनोरथ सिद्ध हुआ और ये संस्कार सम्पन्न करने के दिन नसीब हुए।

नंदी मुख सराध करि जात करम सब कीन्ह।
हाटक धेनु बसन सब नृप विप्रन्ह कहं दीन्ह॥

विरति विवेक विनय विग्याना। बोध जथारथ वेद पुराना॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाउ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला॥
१. निराधार जे स्रुति पथ त्यागी। कलियुग सोइ ज्यानी सो विरागी॥
जाके नख अरु जटा विसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥
असुभ वेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्यते कवियुग मांहि॥
पर त्रिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने॥
तेइ अभेदवादी ग्यानी नर। देखा मैं चरित्र कलियुग कर॥
आपु गए अरु तिन्हहू घालहिं। जे कहुं सतमारग प्रतिपालहिं॥
कल्प-कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति कर तरका॥
जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥
नारि मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं सन्यासी॥
ते विप्रन्ह सन आपु पुजावहिं। उभय लोग निज हाथ नसावहिं॥
स्रुति संमत हरिभक्ति पथ संजुत विरति विवेक।
तेहिं चलहिं नर मोहबस कल्पहिं पंथ अनेक॥
बहुदाम संवारहिं धामजती। विषया हरिलीन्हि न रही विरती॥
तपसी धनवन्त दरिद्र गृही। कलिकौतुक तात न जात कही॥
.........................द्विज चिन्ह जनेउ उघार तपी॥

नामकरण, चूड़ाकरण, यज्ञोपवीत आदि के वर्णन-क्रम प्राप्त हैं।

नामकरन कर अवसरु जानी। भूप बोलि पठये मुनि ज्ञानी॥
चूड़ाकरन कीन्ह मुनि जाई।........................
भए कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता॥
गुरुगृह गए पढ़न रघुराई। अल्पकाल विद्या सब आई॥

यद्यपि सीता के विवाह की मुख्य शर्त धनुष तोड़ना ही था पर शास्त्रीय रीति और कुल रीति के अनुसार विधिवत् यह संस्कार संपन्न हुआ।[1]

बरात देखने की उत्कंठा नारियों में निसर्गगत होती है। वे अटारियों पर चढ़कर बरात देख रही हैं और मनोहर कंठ से गीत गा रही हैं। मंगल थाल में आरती संजोए हैं। जनकपुर के समीप बरात पहुँचने पर दधि चिउरा आदि उपहारों के साथ कन्यापक्ष वाले वरपक्ष का स्वागत करते एवं सुखप्रद जनवासा देते हैं।[2] नगरवासी रामलक्ष्मण पर तो पहले ही से मुग्ध थे। भरत शत्रुघ्न को देखा तो

पुरनारि सकल पसारि अंचल विधिहि बचन सुनावहीं।
ब्याहि अहुं चारिउ भाइ इहिंपुर हम सुमंगल गावहीं॥

बरात द्वार पर आने पर जनक की रानियाँ सुहागिनों के संग मंगल साज साजकर परिछन कर रही हैं। सीता की माता की प्रसन्नता की भला क्या सीमा हो सकती है। गोस्वामी जी ने ठीक ही कहा है—

जो सुख भासिय मातु मन देखि राम वरवेषु।
सो न सकहिं कहि कलप सत सहस सारदा सेषु॥

इस अवसर पर सुनयना के नेत्रों में आनन्द के आंसू उमड़ आए हैं पर मांगलिक अवसर जानकर वे उनको रोकने का प्रयत्न कर रही हैं—

नयन नीरु हटि मंगल जानी। परिछनि करहिं मुदित मन रानी॥

विवाह में लोकाचार, कुलाचार और वैदिक विधियों का प्रयोग हम देखते हैं। जहां नाऊ, बारी, भांट, नट आदि को न्योछावर देने, स्त्रियों द्वारा गालियां गायी जाने आदि लौकिक विधियों के उल्लेख हैं वहीं होम, सप्तपदी, सिन्दूरविन्दी आदि वैदिक विधानों के भी तथा जनक द्वारा पुष्कल यौतुक दिये जाने का विवरण भी प्राप्त होता है—

कहि न जाइ कछु दाइज भूरी। रहा कनक मनि मंडप पूरी॥

---

१. टूटत ही धनु भयउ विवाहू। सुरनर नाग विदित सब काहू॥
तदपि जाइ तुम करब अब जथा वंस व्यवहारं।
बूझि विप्र कुल वृद्ध गुर वेद विदित आचारु॥

२. नित नूतन सुख लखि अनुकूले। सकल बरातिन्ह मंदिर भूले॥
निज निज वास विलोकि बराती। सुरसुर व सकल सुलभ सब भांती॥

कोहबर की लोक रीति देखिए—

अति प्रीति लौकिक रीति लागी करन मंगल गाइके।
लहकौरि गौरि सिखाव रामहि सीय सन सारद कहै।।

अब थोड़ी ज्योनार की भी झांकी ले लें। कवि ने भोग्य वस्तुओं की तालिका तो नहीं उपस्थित की है जो उचित ही कहा जायगा, क्योंकि भोज्य पदार्थों का लंबा वर्णन, काव्यशिष्टता के विरुद्ध समझा जाता है पर भोजन करने की विधि का जो थोड़ा वर्णन किया है उससे हमारे आचार और सांस्कृतिक सुरुचि का आभास मिलता है।[1]

उद्धरण में 'पंच कवल करि जेवन लागे' वाला विधान द्रष्टव्य है। भारतीय संस्कृति में बलि वैश्य देव की परिपाटी है। यह कृत्य एक प्रकार का प्रायश्चित्त है। क्योंकि गृहस्थों के यहां नित्य पांच प्रकार से जीवों की हत्या होती है। जैसे चूल्हे में आग जलाने में, अन्न को कूटने, पीसने, पछोरने में, पानी का घड़ा रखने में, लाख बचाने पर भी जीव हिंसा हो ही जाती है। इन पांच दैनन्दिनी हत्याओं को दूर करने के लिए प्रत्येक सद्गृहस्थ को नित्य पांच महा-

---

१. **पुनि जेवनार भई बहु भांती। पठए जनक बोलाइ बराती।।**
परत पांवड़े बसन अनूपा। सुतन्ह समेत गवन कियो भूपा।।
सादर सब के पाय पखारे। जथा जोगु पीढ़न्ह बैठारे।।
धोए जनक अवध पति चरना। सीलु सनेहु जाइ नहिं बरना।।
बहुरि राम पद पंकज धोए। जे हर हृदय कमल महुं गोए।।
तीनिउ भाइ राम सम जानी। धोए जनक चरन निज पानी।।
आसन उचित सबहि नृप दीन्हें। बोलि सूपकारी सब लीन्हें।।
सादर लगे परन पनवारे। कनक कील मनि पान संवारे।।
सूपोदन सुरभी सरपि सुन्दर स्वादु पुनीत।
छन महुं सबके परुसिगे चतुर सुआर विनीत।।
पंच कवल करि जेवन लागे। गारि गान सुनि अति अनुरागे।।
भांति अनेक परे पकवाने। सुधा सरिस नहि जाहिं बखाने।।
परुसन लगे सुआर सुजाना। बिंजन विविध नाम को जाना।।
चारि भांति भोजन विधि गाई। एक एक विधि वरनि न जाई।।
छरस रुचिर बिंजन बहु जाती। एक एक रस अगनित भांती।।
जेंवत देहिं मधुर धुनि गारी। लै लै नाम पुरुष अरु नारी।।
समय सुहावनि गारि विराजा। हंसत राउ सुनि सहित समाजा।।
एहि विधि सबहीं भोजनु कीन्हा। आदर सहित आचमनु दीन्हा।।
देइ पान पूजे जनक दसरथु सहित समाजु।
जनवासिहि गवने मुदित सकल भूप सिरताज।।

यज्ञ करने की शास्त्र-विधि है—(१) वेदादि शास्त्रों का पढना और पढ़ाना ब्रह्म यज्ञ है (२) पितरों का तर्पण करना पितृ यज्ञ है (३) हवन करना देव यज्ञ है (४) बलिवैश्वदेव भूत यज्ञ है और (५) अभ्यागत को भोजन कराना अतिथि यज्ञ है। शास्त्रार्थ महारथी माधवाचार्य के अनुसार[1] हिन्दू सनातन धर्म का यह आदर्श समाजवाद है। बलिवैश्वदेव में श्रोत्रिय विद्वान् से लेकर कीट पतंग पर्यन्त सभी उपजीवियों को परितृप्त करने के अनन्तर ही गृहाध्यक्ष दम्पति को भोजन करने की आज्ञा है। बलि वैश्वदेव के जटिल विधान का सुगम संक्षिप्त संस्करण पंचग्रासी है, जो जैसे तैसे भी धर्म रक्षण किए जाने के सद्विचार से यथाशासन प्रचलित हुआ है। बलिवैश्वदेव में जहां मंडल बनाकर अमुक-अमुक दिशा में अमुक-अमुक देवता के नाम से अमुक-अमुक संख्या के ग्रास रखे जाते थे, वहां पंचग्रासी में केवल पाँच ग्रास और वे भी एक ही साधारण स्थान में रखने से शास्त्र विधान का रक्षण हो जाता है। गोस्वामी तुलसी दास जी के समय तक बलिवैश्वदेव का स्थान पंचग्रासी ने ग्रहण कर लिया था। तभी तो वे लिखते हैं —

'पंच कवल करि जेवन लागे'

हिन्दू परिवार में कन्या की विदाई का अवसर सब से मार्मिक होता है। इस अवसर पर कण्व और जनक जैसे वीतराग और ब्रह्मवादी जन भी विचलित हो गए हैं। जनक की दशा देखिए—

सीय विलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम विरागी॥
लीन्हि राय उर लाइ जानकी। मिटी महा मरजाद ग्यान की॥

फिर माताओं का तो कहना ही क्या—

पुनि धीरजु धरि कुंअरि हंकारी। बार बार भेंटहिं महतारी॥
पहुँचावहिं फिरि मिलहिं बहोरी। बढ़ी परस्पर प्रीति न थोरी॥
पुनि पुनि मिलत सखिन्ह विलगाई। बाल बच्छ जिमि धेनु लवाई॥

माताएं तो माताएं जानकी जी की पालतू शुक-सारिकाएं भी विरह विकल हैं—

सुकसारिका जानकी ज्याए। कनक पिजरन्हि राखि पढ़ाए॥
व्याकुल कहहिं कहां वैदेही। सुनि धीरजु परिहरइ न केही॥

मुहूर्त की महिमा

भारतीय संस्कृति में मुहूर्त का बड़ा माहात्म्य है। मांगलिक कृत्यों में विशेष रूप से इसका विचार होता है। मानस में पार्वती जी के विवाह में भी मुहूर्त का उल्लेख मिलता है। सीता जी के विवाह का लग्न साक्षात् ब्रह्मा ने विचार कर नारद के हाथ भेजा था और इधर

---

१. दे० क्यों (१) बृ० २६५-६६।

जनक के गणकों ने पहले ही से वह मुहूर्त निश्चित कर रखा था । यह आश्चर्यजनक साम्य देखकर लोग कहते हैं—

सुनी सकल लोगन्ह यह बाता । कहहिं जोतिषी आहिं विधाता

वशीकरण

संयुक्त परिवार आज छिन्न-भिन्न हो रहे हैं । पर यह संस्था कभी बड़ी उपादेय मानी जाती थी । भारतीय ऋषियों की यह बहुत बड़ी देन है आर्य संतानों के लिए । यह प्रथा वसुधैव कुटुम्बकम् की आधारशिला है । अमृतस्य पुत्राः इसी प्रथा की चरम परिणति है । परिवार की प्रत्येक इकाई को मिलाकर रखने एवं सौहार्द और सद्भाव कायम रखने में स्त्रियों की बड़ी जिम्मेदारी होती है । सुमित्रा ने[1] राम के पीछे लक्ष्मण को लगाकर जो त्यागमय आदर्श उपस्थित किया उसे राम रण में, वन में कहीं नहीं भूले[2] उस आदर्श जननी के सामने राम सदैव रंक बने रहे ।[3] सीता का दुस्सह वियोग और तज्जन्य लोकापवाद भ्रातृवियोग के संभावित कष्ट के सामने हल्के पड़ जाते हैं ।[4] दूसरी ओर कैकयी है जिसकी कुमति को गोस्वामी जी काई से उपमित करते हैं ।[5] उसने छाए घर में मानों आग लगा दी[6], अवध को उजाड़ डाला[7] और रघुवंश रूपी वेणु के लिए आग हो गयी ।[8] एतावता संयुक्त परिवार के सुचारु संचालन के लिए सुमित्रा जैसी आदर्श माता और उर्मिला जैसी आदर्श बहू की आवश्यकता है । संयुक्त परिवार का निर्वाह हँसी खेल नहीं, असिधार व्रत है । कष्ट सहिष्णुता और त्याग के अभ्यासी ही इस पथ का निर्विघ्न निर्वाह कर सकते हैं । मुसलमानों के संपर्क और पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में हिन्दू समाज को स्त्रैण बना दिया । गृहस्थी से मोह तभी तक रहता है जब तक स्त्री है—

---

१. तात तुम्हारि मातु वैदेही । पिता रामु सबभांति सनेही ॥
अवध तहां जहं राम निवासू । तहंइ दिवसु जहं भानु प्रकासू ॥
जौं पै सीय रामु बन जाहीं । अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं ॥
२. निज जननी के एक कुमारा । तात ताहि तुम प्रान अधारा ॥
सौंपेसि मोंहि तुमहि गहि पानी ।
जैहौं अवध कवन मुंहलाई । नारि हेतु प्रिय बन्धु गंवाई ॥
३. गहि पद लगे सुमित्रा अंका । बहु संपति भेंटी जनु रंका ॥
४. वरु अपजस सहतेउं जगमाहीं । नारि हानि विसेस छति नाहीं ॥
मिलहिं न जगत् सहोदर भ्राता
५. काई कुमति कैकयी केरी ।
६. एहि पापिनिहि सूझि का परेऊ । छाए भवन पर पावक धरेऊ ॥
७. अवध उजाड़ कीन्ह कैकेयी । दीन्हेंसि अचल विपति कर नेई ॥
८. भइ रघुवंस बेनु वन आगी ।

न जोरू न जाता अल्ला मियां से नाता।[१] लड़कों की ममता ओढ़नी का बतास लगते ही, परिवार से काई की तरह फट जाती है।[२]

संयुक्त परिवार को दृढ़ करने वाला मंत्र, विदाई के अवसर पर कन्या को, सखियां माताएं देती थीं। इस समय के उपदेश परिवार के लिए वरदान और कन्या के लिए अक्षय संवल सिद्ध होते थे।[३]

इसी प्रकार भारतीय संस्कृति के अनेक चित्र मानस में यहाँ से वहां तक फैले हुए हैं जिनको देख कर मन मुग्ध हो जाता है। यहाँ तो कुछ प्रादेश मात्र कर दिया है। यहां एक बात ध्यान देने की है कि वाल्मीकि मुनि के समय की संस्कृति से गोस्वामी जी के समय की संस्कृतिं में महदन्तर लक्षित होता है। बहुत चाहने पर भी कवि देशकाल के प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं रख सका है। गोस्वामी जी के समय तक कितने संस्कार लुप्त हो चुके थे, कितने विकृत हो चुके थे और कितने अवशेष मात्र रह गए थे। मानस में स्वाहाकार, स्वधाकार की चर्चा नहीं मिलती। वाल्मीकि युगीन कितने ही शिष्टाचार भी नामशेष हो चुके थे। उदाहरण के लिए 'सिर सूंघने' की प्रथा का कहीं गोस्वामी जी उल्लेख नहीं करते जबकि भारतीय संस्कृति में यह प्रथा दैनन्दिन व्यवहार में ग्रथित थी।



१. नारि मुई गृह संपति नासी। मूंड़ मुड़ाइ भए सन्यासी।
२. सुत मानहिं मातु पिता तब लौं, अबलानन दीख नहीं जब लौं।
ससुरारि पियारि भई जबतें, रिपु रूप कुटुम्ब भए तब तें॥
३. पुनि पुनि सीय गोद करि लेहीं। देइ असीस सिखावनु देहीं॥
होएहु संतत पियहि पियारी। चिरु अहिवात असीस हमारी॥
सासु ससुर गुर सेवा करेहू। पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू॥

सहायक ग्रंथ की सूची

संस्कृत

१. अनर्घ राघव	सं० रामचन्द्र मिश्र, चौखंबा विद्या भवन, वाराणसी, सं० २०१७ ।
२. अभिनव भारती (अभिनव गुप्त)	सं० डा० नगेन्द्र टीका-विश्वेश्वर । हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली १९६० ई० ।
३. आनन्द रामायण	सं० पाण्डेय रामतेज शास्त्री, पंडित पुस्तकालय, वाराणसी, १९५८ ई०
४. उत्तर रामचरित (भवभूति)	सं० शेषरामशर्मा, चौखंबा, वाराणसी १९५९ ई०
५. काव्य प्रकाश (मम्मट)	टी० विश्वेश्वर, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी सं० २०१७ वि०
६. काव्य मीमांसा (राजशेखर)	सं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सं० २०११ वि०।
७. ध्वन्यालोक (आनन्द वर्धन)	सं० बदरीनाथ शर्मा, चौखंबा, वाराणसी, सं० २०१० वि० ।
८. प्रसन्नराघव (जयदेव)	सं० शेषराज शर्मा, चौखंबा, वाराणसी १९५६ ई० ।
९. भक्ति रसायन (मधुसूदन स्वामी)	टी० जनार्दन शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी सं० २०१८ वि० ।
१०. रत्नावली नाटिका (हर्ष)	सं० रामचन्द्र मिश्र, चौखंबा, वाराणसी सं० २०१६ वि० ।
११. रसमंजरी (भानुदत्त)	सं० बदरीनाथ शर्मा, जगन्नाथ पाठक, श्रीकृष्ण निबंध भवन, बनारस १, १९५१ ई०
१२. वाल्मीकि रामायण (वाल्मीकि)	टीका० चन्द्रशेखर शास्त्री, सस्ता साहित्य पुस्तकमाला कार्यालय, बनारस सिटी, सं० १९९४ वि०
१३. वेणीसंहार नाटक	रामदेव झा, चौखंबा, वाराणसी १९५९ ।
१४. साहित्य दर्पण	सं० डा० सत्यव्रत सिंह, चौखंबा, वाराणसी १९५७ई०
१५. सेतुबंध (प्रवरसेन)	सं० डा० रघुवंश, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।
१६. हिन्दी दशरूपक	सं० टी० डा० भोलाशंकर व्यास, चौखंबा, वाराणसी २०११ वि०

१७. हिन्दी नाट्य दर्पण — टी० आ० विश्वेश्वर, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली, १९६१ ई०।

१८ हिन्दी रस गंगाधार (तीन भाग) — सं० पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, नागरी प्रचारणी सभा काशी सं० २०१८ वि०।

हिन्दी

१. अलंकार मंजरी — सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पं० जगन्नाथ शर्मा, मथुरा, सं० १९९३ वि०।

२. क्यों (दो भाग) — माधवाचार्य, धर्मधाम, कमलानगर, दिल्ली, सं० २०१४ वि०।

३. क्षेमेन्द्र की औचित्य दृष्टि — ....मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी

४. गोस्वामी तुलसीदास — रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० १९९० वि०।

५. चिंतामणि (प्रथम भाग) — रामचन्द्र शुक्ल, इंडियन प्रेस, प्रयाग १९४० ई०।

६. चिंतामणि (द्वितीय भाग) — रामचन्द्र शुक्ल, सरस्वती मन्दिर, जतनवर, वाराणसी २०१४ वि०।

७. जायसी ग्रंथावली — सं० रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी सं० २०१७ वि०

८. तुलसी ग्रंथावली (दूसरा खंड) — सं० रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी सं २००४।

९. तुलसीदास — चन्द्रबली पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी सं० २०१४।

१०. तुलसीदास — डा० माताप्रसाद गुप्त।

११. दोहावली (तुलसीदास) — सं० हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २००३ वि०।

१२. ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धान्त — डा० भोलाशंकर व्यास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी सं० २०१३।

१३. पुराण दिग्दर्शन — माधवाचार्य माधव पुस्तकालय, धर्मधाम, कमलानगर, दिल्ली।

१४. बिहारी की वाग्विभूति — आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य कुटीर १९९३ वि०।

१५. भक्तमाल — नाभादास, तेजकुमार प्रेस, बुक डिपो, लखनऊ १९६२ ई०।

१६. भ्रमरगीत सार (सूरदास) — सं० रामचन्द्र शुक्ल, साहित्य सेवा सदन, बनारस १९९६ वि० ।

१७. भारतीय काव्य शास्त्र की परंपरा — डा० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली सं० २०१३ ।

१८. भारतीय साहित्य दर्शन — डा० राममूर्ति त्रिपाठी, सरस्वती मन्दिर, जतनबर, वाराणसी १९५९ ई० ।

१९. भारतीय साहित्य शास्त्र (२ भाग) — बलदेव उपाध्याय, प्रसाद परिषद्, काशी, सं० २००७ वि० तथा स० २०१८ वि०

२०. मानस दर्शन — श्री कृष्णलाल, आनन्द पुस्तक भवन, बनारस कैण्ट, सं० २००६ वि०

२१. रस मंजरी — सेठ कन्हैयालाल पोद्दार साहित्यरत्न भंडार, आगरा, १९६८ ई० ।

२२. रसमीमांसा — रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१७ वि० ।

२३. रामचरितमानस (विजया टीका) — टी० विजयानन्द त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास सन् १९५८ ई०

२४. रामचरितमानस (तुलसीदास) — सं० हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस गोरखपुर, सं० २०१५ वि०

२५. रीतिकाव्य की भूमिका — डा० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, ९६ दरिया-गंज, दिल्ली : १९५३ ई० ।

२६. वाङ्मय विमर्श — विश्वनाथ प्रसाद मिश्र वाणीवितान प्रकाशन, वाराणसी, स० २०१४ वि० ।

२७. विनयपत्रिका (तुलसीदास) — सं० हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०१६ वि०

२८. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति — गिरधरशर्मा चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, स० २०१६ वि० ।

२९. समीक्षा-दर्शन (दो भाग) — डा० रामलाल सिंह, इंडियन प्रेस, प्रयाग सन् १९५२ ई०

३०. साकेत : एक अध्ययन — प्रो० नगेन्द्र, साहित्य प्रेस सिविल लाइन्स, आगरा १९४० ई०

३१. हिन्दी साहित्य का अतीत (दो भाग) — विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान प्रकाशन सं० २०१५ वि० तथा सं० २०१७ वि० ।

३२ हिन्दी साहित्य का इतिहास — रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी सं० २०१७ वि० ।

३३. हिन्दी साहित्य का इतिहास (रीति-काल, षष्ठ भाग)	सं० डा० नगेन्द्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, स० २०१५ वि० ।
३४. हिन्दी साहित्य कोश	सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञान मंडल, वाराणसी, स० २०१५ वि०
३५. हिन्दी विश्व कोश	सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी २०१७ वि० ।

पत्रिका

१. भागवतांक (कल्याण)	सं० हनुमान प्रसाद पोद्दार गीताप्रेस, गोरखपुर, स० १९९८ वि० ।